आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

मुनि नथमल

विचार का अनुबन्ध

संपादक : मुनि दुलहराज

आचार्यवर श्री कालूगणी की जन्म-शताब्दी के उपलक्ष में

मूल्य : बारह रुपये / प्रथम संस्करण, १९७६ / प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक, आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान) / अर्थ-सौजन्य : श्री मदनलाल छज्जूराम जैन, सुनाम (पंजाब) / मुद्रक : प्रगति प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

प्रस्तुति

आदमी मुक्ति की खोज में चलता है। बंधन पसन्द नहीं है। इसलिए मुक्ति की खोज अनिवार्य हो जाती है। पर मुक्ति सुलभ कहां है ? जिसके द्वारा उसकी खोज होती है, वह स्वयं बंधन है। बुद्धि एक बंधन है। विचार एक बंधन है। मनुष्य यदि बुद्धि से काम न ले तो वह पशु बन जाता है। वह विचार से काम न ले तो गतिहीन बन जाता है। न वह बुद्धि को छोड़ सकता है और न विचार को। विकास के तल पर खड़े होकर हम देखते है, तब हमें दिखता है कि बुद्धि और विचार ही सब कुछ है। अस्तित्व के धरातल से निहारने पर लगता है कि उसके लिए बुद्धि और विचार का कोई उपयोग नहीं है। अबुद्धि से बुद्धि की ओर तथा बुद्धि से बुद्धि-अतीत दिशा की ओर जाना प्रतिभा का पलायन नही है। अविचार से विचार की ओर तथा विचार से निर्विचार की ओर जाना चिंतन की दरिद्रता नही है। यह है अस्तित्व की दिशा में होने वाला एक अभियान। इस अभियान के द्वारा ही मनुष्य ने शिखर का स्पर्श किया है। अबुद्धि और अविचार में परिस्थिति, वातावरण और सन्दर्भ होता है, किन्तु उसे पकड़ने की क्षमता नही होती। बुद्धि और विचार के तल पर वह क्षमता उपलब्ध हो जाती है। बुद्धि और विचार से अतीत भूमिका में परिस्थिति, वातावरण, सन्दर्भ और उनकी ग्रहणशीलता— ये सब नीचे रह जाते है। इसलिए वह मुक्ति की भूमिका है। परिस्थिति, वातावरण और सन्दर्भ—ये मनुष्य के लिए बंधन हैं। विचार उनसे बंधा हुआ है, इसलिए वह भी एक अनुबंध है।

हम सामाजिक जीवन जीते हैं। वातावरण हमें प्रभावित करता है। परिस्थितियां हमें संचालित करती है। नाना सन्दर्भों में हम विविध धारणाएं निर्मित करते हैं। कोई भी सामाजिक प्राणी विचार के अनुबंध को तोड़ नही सकता। जब फूल उत्पन्न होते हैं, तब माली के लिए माला बनाना स्वाभाविक ही है। हम विभिन्न अवस्थाओं से गुजरते हैं—कभी बच्चे होते हैं, कभी युवक होते हैं और कभी वृद्ध होते हैं। इन अवस्थाओं में जो

विचार का अनुबन्ध

युवकों का दायित्व-१

आचार्य भिक्षु के पास एक दीवान, आज की भाषा में मंत्री या उपमंत्री आया। बातचीत हो रही थी। बातचीत में काफी प्रश्नोत्तर हुए। बाद में वह बोला—'महाराज ! आपकी बुद्धि तो ऐसी है कि आप किसी एक राज्य का संचालन कर सकते थे, परन्तु आप साधु बन गए।' उनको ऐसा लगा कि इन्होंने बाजी हार ली। यह होता है। दुनिया की अलग-अलग धाराएं है। कुछ लोग एक कोण पर खड़े हैं और वे दूसरों को समझते हैं कि उन्होंने बाजी हार ली और वे लोग समझते है कि उन्होंने, जो ऊपर खड़े है, बाजी हार ली। हमारे लिए भी आप लोग सोच सकते है कि इन्होंने बाजी हार ली और हम सोच सकते हैं कि आप लोगों ने बाजी हार ली। यह तो होता है दृष्टिकोण का भेद। भिक्षु स्वामी बोले—'ठीक है, किन्तु मैं मानता हूं कि—

'बुद्धि वाही सराहिए, जो सेवे जिनधर्म।
वा बुद्धि किण काम की, जो पडिया बांधे कर्म।।'

—'बुद्धि वही अच्छी है जो धर्म का आचरण करती है। वह बुद्धि किसी काम की नहीं जो आदमी को बांध लेती है।'

यह छोटी-सी घटना है, किन्तु जब इसके अर्थ पर विचार करता हूं तो मुझे लगता है कि इस घटना में सारे जीवन का सार भरा है, जीवन का सत्य छिपा है और जीवन का गूढतम रहस्य इस छोटी-सी बात में छिपा हुआ है।

बुद्धि दो प्रकार की होती है—एक बांधने वाली बुद्धि और एक खोलने वाली बुद्धि। आज के जीवन की दो धाराएं बराबर चल रही हैं। एक ओर खोलने की बात चल रही है। वर्तमान युग है कि मर्यादाओं को तोड़ो और जो कुछ भी पुराना है, सब तोड़ दो। यह तोड़ने की बात, खोलने की बात, उन्मुक्त हो जाने की बात और हिप्पी बन जाने की बात, एक ओर यह धारा है तो दूसरी ओर की धारा है कि बांधो और बंधो। भिक्षु स्वामी ने यह नहीं कहा कि बंधो। उन्होंने यह कहा कि वह बुद्धि अच्छी नहीं है जो बांधती है। वही बुद्धि अच्छी है, जो खोलती है। किन्तु बांधने का भी अपना एक अर्थ होता है, खोलने का भी अपना एक अर्थ होता है। किसे हम बंधा हुआ मानें और किसे खुला हुआ मानें ? यह बड़ी कठिन समस्या है। एक संस्कृत का श्लोक इसी प्रसंग में है—

आशा नाम मनुष्याणां, काचिदाश्चर्यशृंखला।
यया बद्धा प्रधावन्ति, मुक्तास्तिष्ठन्ति पंगुवत् ॥

आशा की जो शृंखला है, वह बहुत ही विचित्र है। एक सामान्य शृंखला होती है बांधने वाली, वैसी नहीं है। वह भिन्न काम करती है। आप किसी आदमी को सांकल से बांध दीजिए, पैर रुक जाएंगे, हाथ बन्द हो जाएगे और वह चल नहीं सकेगा। किन्तु आशा की सांकल से किसी को बांध दीजिए, वह दौड़ने लग जायेगा, दूना दौड़ने लग जायेगा। आशा की सांकल को खोल दीजिए, वह दौड़ेगा नहीं। सारी हलचल बन्द हो जाएगी। आदमी जब खुला रहता है तब दौड़ता है और बंध जाता है तो ठहर जाता है। आशा की सांकल से जो कसा या बांधा जाता है वह जब बंधा हुआ है तब तो दौड़ता है, और खुल जाता है तब ठहर जाता है। हम किसे बंधा हुआ मानें, किसे खुला हुआ मानें ? यह बहुत बड़ा प्रश्न है वर्तमान युग का।

अब दायित्व की बात आती है। मैं तो समझता हूं कि कोई भी बंधा हुआ आदमी दायित्व का अनुभव नहीं कर सकता। हमारा सारा दर्शन, चाहे तेरापंथ का दर्शन हो चाहे जैन का दर्शन हो, यह मुक्ति का दर्शन है, खुलने का

दर्शन है, सब गांठें खोल देने का दर्शन है। खोल देना है हमें। बंधा हुआ नहीं रहना है। जब आप बंध जाएंगे, तब दृष्टि को खो देंगे। मैं देखता हूं कि साधारण आदमी का भाग्य ही ऐसा होता है कि वह किसी के साथ बंध ही जाता है। कोई किसी का अनुगामी बनने में भला मानता है तो कोई किसी के साथ जुड़ जाने में अपना भला मानता है। ऐसा होता है। जो शक्तिहीन लोग होते हैं, कम शक्ति या कम बुद्धि वाले होते हैं, वे हमेशा बंधने में ही भला मानते हैं, किन्तु भगवान महावीर ने हमेशा खोलने का दर्शन दिया। उन्होंने अनेकान्त की जो दृष्टि दी, उसका सार यही है कि किसी के साथ बंधो मत, खुले रहो, उन्मुक्त रहो। एक दृष्टि से किसी को मत देखो। किसी को सहसा गलत भी मत कहो और किसी को सत्य भी सहसा मत कहो। किसी के साथ बंधकर मत रहो, किन्तु मुक्त होकर, खुले होकर रहो।

बहुत बार ऐसा होता है कि हमारी दृष्टि बंधने के कारण एक धारणा बना लेती है। फिर वह उसे नहीं देखती जो होता है, उसे देखती है जो धारणा में रहा है। मैं आपको एक छोटी-सी घटना बताता हूं। दो यात्री रेल में यात्रा कर रहे थे। दोनों एक ही डिब्बे में बैठे थे। एक खिड़की के पास बैठा था और दूसरा डिब्बे के बीच में बैठा था। जो बीच में बैठा था, अचानक खड़ा हुआ और जाकर उसने खिडकी को बंद कर दिया। जो खिड़की के पास बैठा था, दो मिनट तक मौन रहा, उससे रहा नहीं गया तो उसने खिड़की को खोल दिया। दो क्षण हुए। बीच में बैठने वाला फिर बोला—"महाशय! क्या करते हो? तुम खिड़की खोलते हो और हवा के ठंडे झोंके आ रहे हैं।" उसने कहा—"तुम्हें हवा के ठंडे झोंके लगते है तो मैं गर्मी के मारे मरा जा रहा हूं, मेरा दम घुट रहा है। मेरी ओर भी तो देखो जरा।" वह फिर खड़ा हुआ और खिड़की को बंद कर दिया। उसने खिड़की को फिर खोल दिया। यही क्रम बराबर चलता रहा। लड़ाई चलती रही। लड़ाई का अंत नहीं हुआ। आखिर टी० टी० आ गया। उससे दोनों ने शिकायत की। उसने दोनों की बात सुनने के बाद

कहा—"यह तो बताओ, कौन-सी खिड़की को लेकर तुम दोनों लड़ रहे हो ?" "महाशय ! यह खिड़की है।" टी० टी० साथ में गया। उसे पता था। उसने दोनों से कहा—"आखिर देखो तो सही, खिड़की में शीशा है या नही ?" देखा तो शीशा नदारद। अब एक को तो हवा के ठंडे झोंके लग रहे थे और एक को गर्मी लग रही थी। किन्तु हवा को रोकने वाला शीशा तो था ही नहीं।

किन्तु आदमी शीशे को नहीं देखता, वह अपनी धारणा को देखता है। जो कुछ धारणा में जमा हुआ है, उसे देखता है। उन्हें खिड़की से मतलब था और खिड़की में रहने वाले शीशे के प्रति जो धारणा बनी हुई थी, उस धारणा को बराबर देख रहे थे और धारणा के कारण सर्दी और गर्मी बराबर लग रही थी। तो हमारी स्थिति क्या है ? हम बंध जाते हैं। हम धारणाओं से बंध जाते है, विकल्पों से बंध जाते है, विचारों से बंध जाते हैं। और तो क्या, एक आदमी ने दाढ़ी रखनी शुरू की तो उसके भक्त भी दाढ़ी रखने लग जाते हैं। एक आदमी ने अपनी दाढ़ी काटनी शुरू की तो भक्त लोग भी अपनी दाढ़ी काटनी शुरू कर देते हैं। उन्हें पता नहीं कि क्यों दाढ़ी रखनी चाहिए ? क्यों दाढ़ी काटनी चाहिए ? क्यों चश्मा लगाना चाहिए ? क्यों चश्मा उतारना चाहिए ? उससे कोई मतलब नहीं। किन्तु हमारा मुखिया करता है, आगे चलने वाला करता है, तो पीछे चलने वाले वह काम सीख जाते हैं। जहां इस प्रकार हमारे बंधने की स्थिति होती है, आदमी बंध जाता है, वहां दायित्व की अनुभूति हो सकती है, मैं यह मान नही सकता। दायित्व की अनुभूति होने के लिए चेतना के उस स्तर पर जाने की जरूरत है, जहां दायित्व का बोध हो सके। एक मनुष्य की चेतना का स्तर है अधिकार का। जिस चेतना के स्तर पर जाकर मनुष्य अधिकार की बात सोचता है। यह स्तर आज बहुत विकसित है। इतना विकसित है कि एक छोटा बच्चा भी अपने अधिकार की बात समझने लग गया है। चेतना का दूसरा स्तर है अधिकार के बाद दायित्व का। चेतना का तीसरा स्तर है—कर्तव्य का, जो दायित्व के बाद विकसित होता है। आगे चेतना का

चौथा का स्तर है—धर्म या अध्यात्म-चेतना का।

जो व्यक्ति अध्यात्म की चेतना के स्तर तक नहीं पहुंचता, उसमें कर्तव्य की भावना, दायित्व की भावना आ सकती है, यह मानने में जरा कठिनाई होती है। अध्यात्म की चेतना का प्रतिबिम्ब हुए बिना, अध्यात्म की चेतना का दर्पण निर्मल और विमल हुए बिना उसका प्रतिबिंब संक्रान्त नही होता। किन्तु जब केवल अधिकार की चेतना जागृत होती है और वह शैतान बनकर आदमी से न जाने क्या-क्या करवा देती है ? मैं देखता हूं कि चेतनाओं के चार स्तरों का जो संक्रमण आज की दुनिया में चल रहा है, यह बहुत बड़ी समस्या है। अध्यात्म की चेतना तक कोई व्यक्ति जाना नहीं चाहता। *मैं औरों की बात छोड़दूं, जो लोग धार्मिक है, उनकी आस्थाएं आज* भी डगमगा रही है। जबकि मुझे तो यह लगता है कि धर्म की स्थापना के लिए इतना सुन्दर अवसर अतीत में कभी नहीं आया जितना सुन्दर अवसर आज है। क्योंकि आज का यह युग नहीं कि मैंने किया और आपने मान लिया। आज हर जगह यह प्रश्न होता है–धर्म क्यों ? यह बातह मारे सामने आती है—तो क्यों ? देखिए, आप पुराने शास्त्रों को देखिये। वहां मिलेगा–आप यह काम करेंगे, आपको नरक मिलेगा। क्रोध करेंगे तो नरक मिलेगा, लोभ करेंगे तो नरक मिलेगा, मांस खाएंगे तो नरक मिलेगा। एक नरक शब्द ऐसा हो गया कि सब कामों की जड बन गया। यह अच्छा काम करेंगे तो स्वर्ग मिलेगा, और अच्छा करेंगे तो मोक्ष मिलेगा। बस, तीन शब्द काफी थे पुराने जमाने में–नरक, स्वर्ग और मोक्ष। आज तीन शब्दों की जगह तीस हजार शब्द आपके पास हो गये हैं। आज के वैज्ञानिकों ने, आज के मनो वैज्ञानिकों ने धर्म के विषय पर इतना अनुसंधान किया है। लोग कहते हैं, यह नास्तिकता का युग है और मैं मानता हूं कि वर्तमान का युग सबसे बड़ी आस्तिकता का युग है। आज आस्तिकता को जितना बल मिला है, आज आस्तिकता को जितना समर्थन मिला है, उतना कभी नहीं मिला था।

नास्तिक कौन होता है—जो केवल वर्तमान को देखता है। आस्तिक कौन होता है—जो तीन दृष्टियों से देखता है, यानी हेतु को देखता है,

प्रवृत्ति को देखता है और फल को देखता है। हेतुवादी, प्रवृत्तिवादी और परिणामवादी—ये तीनों दृष्टियां जिसे प्राप्त होती हैं, वह होता है आस्तिक और जिसे केवल वर्तमान की दृष्टि प्राप्त होती है, वह होता है नास्तिक। यही आस्तिकता और नास्तिकता की परिभाषा है।

आज का युग बहुत बड़ा आस्तिक युग है। आज मनोविज्ञान ने कितनी प्रगति की है। आपने गुस्सा किया, क्यों किया ? एक मनोवैज्ञानिक इसका विश्लेषण करेगा कि इस व्यक्ति ने क्रोध किया तो आखिर क्यों किया ? कौन-सी मानसिक ग्रंथि बनी थी, जिसके कारण गुस्सा आया ? यह इतना चिड़चिड़ा क्यों है ? यह इतना लालच क्यों करता है ? इतना झगड़ालू क्यों है ? इतना ईर्ष्यालु क्यों है ? हर बात का विश्लेषण आपको प्रयोग-शाला में मिल जायेगा। इसका कारण है, अकारण नहीं। नास्तिकता वह होती है जिसके पीछे कोई हेतु नहीं हो, कोई कारण नहीं हो। आज कोई भी बात ऐसी नहीं जिसके पीछे हेतु न हो। हर बात के पीछे हेतु की व्याख्या की जाती है। इसका यह कारण है, इसलिए इसने ऐसा आचरण किया। इसका ऐसा आचरण, ऐसा व्यवहार क्यों हुआ, वह सारा-का-सारा और उसकी पूरा व्याख्या मिल जायेगी। हर आचरण की आपको व्याख्या मिलेगी।

आज का युग हेतुवादी है, कारणवादी है, जिसमें हर वस्तु के कारण की, हेतु की खोज की जाती है। फिर इस युग को नास्तिक कहने का कोई भी औचित्य नहीं है। यह युग उतना ही परिणामवादी है। अमुक घटना का क्या परिणाम हुआ ? क्या होगा ? आदमी मर गया। आप लोग भी सुनते हैं कि आदमी मर गया। मरना एक घटना है। हमारे प्रत्यक्ष घटी कि आदमी मर गया। अब मरने के बाद क्या ? हमारी एक पुरानी धारणा है कि देवता जब मरता है तो छह महीने पहले उसका आभामंडल क्षीण होने लग जाता है। उसकी मालाएं सूखने लग जाती हैं। आज के वैज्ञानिक इस खोज तक पहुंच गये हैं कि आदमी तब तक नहीं मरता जब तक कि 'ओरा' नहीं मरती। आदमी मर गया। हृदय की धड़कन बंद हो गयी। श्वास बंद

हो गया। किन्तु 'ओरा' अभी सक्रिय है तो आदमी मरा नहीं है। दो दिन बाद वापस जी सकता है। आपने पढ़ा होगा कि रूस में छह मृतकों को पुनर्जीवित कर लिया गया है। आप ऐसी घटनाएं पढ़ते होंगे कि दाह-संस्कार के लिए श्मशान ले जाया गया और वहां जाकर वह जी उठा। यह कौन जीता है ? सचमुच मरा नही आदमी। मरता है तीन दिन के बाद। जब उसकी 'ओरा' नष्ट हो जाती है, उसका आभामंडल लुप्त होता है, तब आदमी मरता है। पहले आदमी मरता नही है।

ये सारी बातें वर्तमान युग की हैं। मैं आपको यह भय नहीं दिखाऊंगा कि आप ऐसा करेंगे तो नरक में चले जाएंगे। आपको ऐसा प्रलोभन भी नहीं दूंगा कि यह करेंगे तो स्वर्ग में चले जाएंगे। आप नरक में जाएं या नहीं, मुझे इस बात से कोई मतलब नहीं। आप स्वर्ग में जाएं या नहीं, मुझे इस बात से भी मतलब नहीं। किन्तु आप यदि बुरा विचार करेंगे तो आपको वर्तमान में उसका बुरा फल मिल जायेगा, यह बतलाने के लिए मैं आज भी तैयार हूं और मैं आपको यह बता सकता हूं कि इस आदमी ने किस काम का क्या परिणाम अर्जित किया है ?

यह मूल्यों के परिवर्तन का युग है। हर क्षेत्र मे मूल्यों का परिवर्तन हुआ है। सामाजिक क्षेत्र में, आर्थिक क्षेत्र में, राजनैतिक क्षेत्र में और धार्मिक क्षेत्र मेंभी मूल्यों का परिवर्तन हो रहा है। इस बदलते हुए मूल्यों की सीमा में युवकों का क्या दायित्व है, इस पर भी मैं थोड़ी-सी चर्चा करूंगा।

हम धार्मिक हैं और एक ऐसे दर्शन में विश्वास करते हैं जो अपनी हेतुवादिता और वैज्ञानिकता के कारण सारी दुनिया में प्रसिद्ध हो रहा है। जिन दर्शन के नीतिवाद और प्रत्यक्ष अनुभूति का दार्शनिक जगत ने सबसे अधिक समर्थन किया है, उस दर्शन मे हम विश्वास करते हैं। हमें प्रवाह-वादी नही होना चाहिए। प्रवाह के पीछे नही पड़ना चाहिए। प्रवाह का विरोध भी नहीं करना है, उसे देखना है, समझना है और उसका अध्ययन करना है। किन्तु प्रवाह में वह नही जाना है। इसलिए दो-तीन बातें मैं आपके सामने प्रस्तुत करता हूं।

पहली बात है संयम। यानी हम बदले हुए मूल्यों को स्वीकार न करें तो रूढ़िवादी निश्चित कहलाएंगे और रूढ़िवादी होना मनुष्यता का कलंक है, अभिशाप है और मनुष्यता के प्रति विद्रोह है। किन्तु जो हमारे शाश्वत मूल्य हैं, जिन मूल्यों को कभी बदला नही जा सकता, कोई आदमी बदल नहीं सकता, चाहने पर भी नहीं बदल सकता, उन मूल्यों को बदलने का जहां प्रयत्न होता है, वहां मानवता संकट में पड़ती है और मानवता पर भारी विपत्ति आती है। उन मूल्यों में पहला मूल्य है संयम।

जिस देश ने, जिस समाज ने और जिस व्यक्ति ने संयम को खोया है, उसने कभी प्रगति नहीं की, कभी विकास नहीं किया। जो देश आज शक्तिशाली कहलाते हैं, जिन्होंने भौतिक जगत् मे भारी प्रगति की है, आज उनके सामने भारी समस्याएं उपस्थित हो रही हैं। आज वे बड़े शोकाकुल हैं और उनके अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री आज इस बात को सोचने के लिए विवश हैं कि वर्तमान की समस्या से भावी पीढ़ी को, आने वाली पुश्त को कैसे बचाया जाए? बहुत भारी समस्या है। क्यों? इसलिए कि संयम समाप्त हो गया।

आप निश्चित मानिए, चाहे राजनीति का क्षेत्र हो, चाहे पारिवारिक क्षेत्र हो और चाहे आर्थिक क्षेत्र हो, संयम के बिना कहीं भी आदमी सफल नहीं हो सकता। दुनिया में जितने भी बड़े लोग हुए हैं, चाहे नेपोलियन हो या गांधी हो या हिटलर हो, कोई भी हुआ हो, उन्होंने अपने-अपने ढंग का संयम बरता है और संयम बरतने के कारण ही वे अपनी सारी शक्ति को नियोजित कर सके हैं, एकाग्र कर सके हैं और इसी कारण उन्होंने अपने जीवन में सफलता प्राप्त की है।

यह भी प्रवाह चल पड़ा कि संयम की कोई आवश्यकता नही। किन्तु यह इतनी खतरनाक बात है, जीवन का इतना खतरनाक मोड़ है, इस मोड़ पर रुककर जो सोचेगा नहीं, उसे वैसे ही पछताना पड़ेगा, जिस प्रकार आज के प्रगतिशील देश चिंतित हैं और मन मे पछता रहे हैं।

इन्द्रियों की विजय हमारा शाश्वत मूल्य है। इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखना एक सीमा तक। किन्तु मैं यह नहीं कहता कि आप आंखों को बन्द

कर लीजिए, मैं यह नहीं कहता कि आप मत खाइए। मैं कहना भी नहीं चाहता। असंभव बात है। किन्तु हमारी जीभ पर भी, हमारे मन पर भी, हमारी आंख पर भी संयम होना चाहिए, एक नियंत्रण होना चाहिए और वह नियंत्रण ही हमें अच्छे कार्यों के प्रति प्रेरित कर सकता है या हमारी शक्ति को नियोजित ढंग से लगा सकता है। अन्यथा शक्ति इतनी बिखर जाती है कि हमारा मस्तिष्क भी एकाग्र नहीं होता और हम जो कुछ करना चाहते हैं, उससे वंचित रह जाते हैं।

दूसरी बात है नैतिकता। नैतिकता शाश्वत मूल्य है। वह कोई वार्तमानिक मूल्य नहीं है। जिस समाज ने अनैतिक व्यवहार किया, उसका नैतिक पतन हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं; क्योंकि जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को धोखा देने लग जायेगा, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को खाने लग जायेगा, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का गला काटने लग जायेगा, उस समय सारे के सारे एक ऐसे चक्रव्यूह में फंसे जाएंगे कि जिसका रास्ता कोई भी नहीं खोज सकता, कोई भी नहीं बच सकता।

मैंने दो शाश्वत मूल्यों की बात की। तीसरे में, एक सामयिक मूल्य को समझने की जरूरत है और वह यह कि हिन्दुस्तान में एक मूल्य रहा व्यक्तिवादी और वह मूल्य आया हमारी दार्शनिक दृष्टि के बाद। व्यक्ति अकेला आता है, अकेला पलता है, अकेला अपना ज्ञान अर्जित करता है, अकेला कमाता है और वापस अकेला ही चला जाता है। छोटे किसान से पूछो, चाहे बड़े-से-बड़े दार्शनिक संत या ज्ञानी से पूछो, यह अकेलेपन की बात आपके सामने आएगी। किन्तु आज के युग में परिवर्तन हुआ है। अकेला आता है, अकेला जाता है, मूल्य में परिवर्तन नहीं हुआ है, किन्तु इस सिद्धांत के कारण जो व्यक्तिवादी दृष्टिकोण निर्मित हो गया था, व्यक्ति में स्वार्थ पनप गया था, अपने लिए सब कुछ करने की भावना विकसित हो गई थी और दूसरों के लिए आंख मूंदने की जो मनोवृत्ति चल पड़ी थी, सचमुच इसमें परिवर्तन हुआ है और इस परिवर्तन को मैं अनिष्ट नहीं मानता। समाज के लिए वह बहुत ही इष्ट बात है। आज सामुदायिक चेतना का

युवकों का दायित्व-२

युवक की परिभाषा न जाने कितनी बार हो चुकी है और न जाने कितनी बार होती चली जाएगी। मैं भी एक परिभाषा आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूं। मैं उस आदमी को बूढ़ा मानता हूं जिसमें धन का मोह होता है, प्राणों का मोह होता है और जिजीविषा का मोह होता है। जिसमें धन का मोह नहीं होता, प्राणों का मोह नहीं होता और जिजीविषा का मोह नहीं होता वह होता है युवक। मैंने देखा है, आदमी मन ही मन बूढ़ा होता चला जाता है। उसमें धन का मोह प्रबल होता चला जाता है और जीने का मोह तो इतना प्रबल हो जाता है कि वह अपने जीवन को इतना संभालकर रखता है कि मौत भूल-चूककर भी न आ जाए। जवान वह होता है जो मौत को हथेली में लेकर चलता है। उसमें प्राणों का मोह होता ही नहीं। आप विश्व-इतिहास को देखें — जिन लोगों ने लक्ष्य-प्राप्ति के लिए प्राणों की बाजी लगाई है, वे युवक थे, जवान थे।

पुराने जमाने की बात है। युद्ध हो रहा था। एक बूढ़ा आदमी उस युद्ध-क्षेत्र में था। उसने देखा कि युद्ध तेज हो रहा है, बाणों की बौछार हो रही है। उसमें जिजीविषा जाग उठी। बलिदान की आग पर जिजीविषा की राख आ गयी। वह पीछे खिसकने लगा। एक स्थान पर फिसला और उसका पैर टूट गया। लंगड़ाते-लंगड़ाते वह गांव में पहुंचा। गांव के लोगों ने उसे घेर लिया। उन्होंने पूछा, 'युद्ध-स्थल से भाग आए?' बूढ़े ने कहा, 'भागता नहीं तो ये बाल सफेद कैसे होते? भागते-भागते ही ये बाल सफेद

हुए हैं।'

यह निर्विवाद तथ्य है कि दुनिया को जिन लोगों ने कृतार्थ किया है, जिन्होंने अपने प्राणों की आहुति दी है, जिन्होंने जीने का मोह त्यागकर बलिदान किया है, वे थे युवक। बूढ़े ऐसा कर नहीं सकते। युवक में प्राणों कामोह नही होता, क्योंकि वह ज़िन्दगी को जीना जानता है।

भारतीय संस्कृति का यह विचार रहा है कि जैसे-जैसे व्यक्ति एक पद्धति में आगे बढ़ता है उसके संस्कार प्रबल होते जाते है। बच्चों के संस्कार इतने प्रबल नहीं होते जितने बूढ़े के होते है। बूढ़ा आदमी झूठ बोलने में जितना माहिर होता है, उतना बच्चा माहिर नहीं होता। दादा ने बच्चे से कहा—जाओ, आगन्तुक को कह दो कि दादाजी घर में नही है। बच्चा बाहर गया। आगन्तुक को प्रणाम कर बोला—दादाजी ने कहा है कि आगन्तुक को कह दो कि दादाजी घर में नही हैं। लड़के में झूठ बोलने का संस्कार नहीं था। बूढ़े में यह प्रबल हो चुका था।

आप देखेंगे कि मनुष्य की प्रवृत्ति में सारी संभावनाएं हैं, किन्तु उसको अंकुरित या विकसित होने का अवसर नही मिलता। वह बीज अंकुरित होने से पूर्व ही नष्ट हो जाता है।

आप जानते हैं कि वियतनाम में हरेक लड़की-स्त्री योद्धा है। वे निर्भीक होकर शत्रु का सामना करती हैं। क्या हिन्दुस्तान की लड़कियां ऐसा नहीं कर सकती? वे ऐसा कर सकती हैं, किन्तु उनका आत्म-विश्वास अभी आवृत है। उस पर सघन अन्धकार छाया हुआ है। वे चूहे की आहट से डरकर पलायन करने की मनोवृत्ति को धारण किए हुए हैं। यह अन्तर क्यों? एक ओर वे लड़कियां हैं जो देश के लिए युद्ध मे जाकर लड़ती हैं, मार-काट करती हैं और दूसरी ओर वे लड़कियां हैं जो चूहों से डरती है, आततायियों के आगे घुटने टेक देती हैं, अपने आपको अबला साबित करती हैं। यह क्यों? क्या कोई भौगोलिकता का अन्तर है? मैं नही मानता कि ऐसा है। यह अन्तर है आत्म-विश्वास का। जहां आत्म-विश्वास का निर्माण नही होता वहां ऐसा अन्तर आ ही जाता है। मनुष्य में अनन्त शक्ति होती

युवकों का दायित्व-२

युवक की परिभाषा न जाने कितनी बार हो चुकी है और न जाने कितनी बार होती चली जाएगी। मैं भी एक परिभाषा आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूं। मैं उस आदमी को बूढ़ा मानता हूं जिसमें धन का मोह होता है, प्राणों का मोह होता है और जिजीविषा का मोह होता है। जिसमें धन का मोह नहीं होता, प्राणों का मोह नहीं होता और जिजीविषा का मोह नही होता वह होता है युवक। मैंने देखा है, आदमी मन ही मन बूढा होता चला जाता है। उसमें धन का मोह प्रबल होता चला जाता है और जीने का मोह तो इतना प्रबल हो जाता है कि वह अपने जीवन को इतना संभालकर रखता है कि मौत भूल-चूककर भी न आ जाए। जवान वह होता है जो मौत को हथेली मे लेकर चलता है। उसमें प्राणों का मोह होता ही नहीं। आप विश्व-इतिहास को देखें—जिन लोगों ने लक्ष्य-प्राप्ति के लिए प्राणों की बाजी लगाई है, वे युवक थे, जवान थे।

पुराने जमाने की बात है। युद्ध हो रहा था। एक बूढ़ा आदमी उस युद्ध-क्षेत्र में था। उसने देखा कि युद्ध तेज हो रहा है, बाणों की बौछार हो रही है। उसमे जिजीविषा जाग उठी। बलिदान की आग पर जिजीविषा की राख आ गयी। वह पीछे खिसकने लगा। एक स्थान पर फिसला और उसका पैर टूट गया। लंगड़ाते-लंगड़ाते वह गांव में पहुंचा। गांव के लोगों ने उसे घेर लिया। उन्होंने पूछा, 'युद्ध-स्थल से भाग आए ?' बूढ़े ने कहा, 'भागता नहीं तो ये बाल सफेद कैसे होते ? भागते-भागते ही ये बाल सफेद

हुए है।'

यह निर्विवाद तथ्य है कि दुनिया को जिन लोगों ने कृतार्थ किया है, जिन्होंने अपने प्राणों की आहुति दी है, जिन्होंने जीने का मोह त्यागकर बलिदान किया है, वे थे युवक। बूढ़े ऐसा कर नहीं सकते। युवक में प्राणों का मोह नहीं होता, क्योंकि वह जिन्दगी को जीना जानता है।

भारतीय संस्कृति का यह विचार रहा है कि जैसे-जैसे व्यक्ति एक पद्धति में आगे बढ़ता है उसके संस्कार प्रबल होते जाते हैं। बच्चों के संस्कार इतने प्रबल नहीं होते जितने बूढ़े के होते हैं। बूढ़ा आदमी झूठ बोलने में जितना माहिर होता है, उतना बच्चा माहिर नहीं होता। दादा ने बच्चे से कहा—जाओ, आगन्तुक को कह दो कि दादाजी घर में नहीं हैं। बच्चा बाहर गया। आगन्तुक को प्रणाम कर बोला—दादाजी ने कहा है कि आगन्तुक को कह दो कि दादाजी घर में नहीं हैं। लड़के में झूठ बोलने का संस्कार नहीं था। बूढ़े में यह प्रबल हो चुका था।

आप देखेंगे कि मनुष्य की प्रवृत्ति में सारी संभावनाएं हैं, किन्तु उसको अंकुरित या विकसित होने का अवसर नहीं मिलता। वह बीज अंकुरित होने से पूर्व ही नष्ट हो जाता है।

आप जानते हैं कि वियतनाम में हरेक लड़की-स्त्री योद्धा है। वे निर्भीक होकर शत्रु का सामना करती हैं। क्या हिन्दुस्तान की लड़कियां ऐसा नहीं कर सकतीं? वे ऐसा कर सकती हैं, किन्तु उनका आत्म-विश्वास अभी आवृत है। उस पर सघन अन्धकार छाया हुआ है। वे चूहे की आहट से डरकर पलायन करने की मनोवृत्ति को धारण किए हुए हैं। यह अन्तर क्यों? एक ओर वे लड़कियां हैं जो देश के लिए युद्ध में जाकर लड़ती है, मार-काट करती हैं और दूसरी ओर वे लड़कियां हैं जो चूहों से डरती हैं, आततायियों के आगे घुटने टेक देती हैं, अपने आपको अबला साबित करती हैं। यह क्यों? क्या कोई भौगोलिकता का अन्तर है? मैं नहीं मानता कि ऐसा है। यह अन्तर है आत्म-विश्वास का। जहां आत्म-विश्वास का नि... नहीं होता वहां ऐसा अन्तर आ ही जाता है। मनुष्य में अनन्त शक्ति है

है, किन्तु उस शक्ति को अभिव्यक्त करने की सामग्री जब तक प्राप्त नहीं होती, तब तक निर्वीर्यता हावी रहती है।

भारतीय दार्शनिकों ने उपादान और निमित्त—दोनों कारणों पर विचार किया है। उपादान के बिना निमित्त कारण शून्यवत् है तो निमित्त के बिना उपादान कारण भी अभिव्यक्ति नहीं पाता। उपादान कितना ही प्रबल क्यों न हो, निमित्त के अभाव में उसकी क्षमता प्रकट नहीं होती। मिट्टी घडा बन सकती है और घड़े में पानी को धारण करने की क्षमता है, परंतु जब तक कुम्भकार इसका निमित्त नहीं बनेगा तब तक मिट्टी मिट्टी ही रहेगी, वह घड़ा नहीं बन सकेगी। बीज में बरगद बनने की क्षमता है। वह बरगद तभी बन सकता है जब उसे उपयुक्त निमित्त प्राप्त होते हैं।

आज हिन्दुस्तान के वातावरण में एक प्रकार की गाढ़ सुषुप्ति व्याप्त हो गई है। ऐसी सुषुप्ति कि नई पीढ़ी पुरानी पीढ़ी को कोस रही है और पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी को सर्वथा अयोग्य घोषित कर रही है। पुरानी पीढ़ी कहती है कि आज की पीढ़ी अविनीत और उच्छृंखल हो गई है। उसमें न कुल-मर्यादा का ध्यान है और न धर्म-कर्म का। मैं पूछना चाहता हूं कि इस अविनीतता और उच्छृंखलता की निर्मिति में निमित्त कौन रहा है?

एक-दूसरे को कोसने से समस्या समाहित नहीं होगी। हमें इसका सही निदान करना होगा और दोनों के बीच एक सेतु का निर्माण करना होगा।

आज हमारे सामने अनेक प्रश्न मुंह बाये खड़े हैं। हमारे सामने राष्ट्रीय चरित्र का प्रश्न है, व्यक्ति के चरित्र का प्रश्न है, सामाजिक दायित्व का प्रश्न है। इन प्रश्नों के मूल में एक प्रश्न और है, वह प्रश्न है गरीबी का। हमारा देश गरीब है, गरीब देश में हमेशा समस्याएं बढ़ती हैं और वे इतने भयंकर रूप से बढ़ती हैं कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। ये समस्याएं कैसे मिटें? गरीबी तब मिटे जब राष्ट्रीय चरित्र का विकास हो, नैतिकता का विकास हो। नैतिकता तब बढ़े जब गरीबी मिटे। दोनों एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। गरीबी नहीं मिटती है तो चरित्र का विकास नहीं होता और चरित्र के विकसित हुए बिना गरीबी नहीं मिटती। सचमुच यह

कठिन समस्या है। इस समस्या को समाहित करने के लिए उनको आगे आना चाहिए जिनमें धन के प्रति मोह नहीं है, जिनमें कुछ कर गुजरने की तमन्ना है, जिनमें प्राणों की आहुति देने की तैयारी है, जो तिल-तिल कर जलना नहीं चाहते, किन्तु धधकते हुए जलना चाहते हैं। ये सब गुण युवकों में सहज प्राप्त हैं। आज का युवक इन समस्याओं से जूझ सकता है, समाधान निकाल सकता है।

हमारे यहां दो प्रकार के लोग हैं। एक वे लोग हैं जो शाश्वत मूल्यों में विश्वास करते हैं, किन्तु सामयिक मूल्यों की सर्वथा उपेक्षा करते हुए चलते हैं। दूसरे वे लोग हैं जो केवल सामयिक मूल्यों को महत्त्व देते हैं, शाश्वत मूल्यों की अवहेलना करते हैं। ऐसा होने पर समस्या का सही समाधान नहीं होता। जिन लोगों ने समस्या का समाधान किया, उन लोगों ने अपने देशवासियों के जीवन में धर्म का, समता का मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रवेश करवाया। उस धर्म ने, उस धर्म की प्रेरणा ने उस देश को इतना जागृत बना दिया कि उसकी सुप्त चेतना लौ की तरह जल उठी।

आज का युवक इस बात से सहमत नहीं है कि यहां शाश्वत क्रांति आ जाए। जब युवक धर्म की बात या नैतिकता की बात सुनता है तब वह कहता है कि कहां आप हिन्दुस्तान को पांच-सौ वर्ष पीछे ढकेल रहे हैं ? यह विचारधारा एक समस्या है। दूसरी बात यह हो रही है कि पुरानी पीढ़ी धर्म की बात जो कह रही है, शाश्वत मूल्यों की जो बात कह रही है, वे मूल्य उसके जीवन में प्रतिष्ठित नहीं हैं। मुझे यह स्पष्ट कहना चाहिए कि आज का धार्मिक धर्म को बुराइयों को पालने का माध्यम बनाए हुए है। धर्म बुराइयों की सुरक्षा का माध्यम जैसा बन गया है। आप साधुओं के पास जाते हैं, मंदिर में जाते हैं, जाप करते हैं, माला फेरते हैं, परंतु धर्म का व्यवहार में आचरण नहीं करते ! यह द्वैध पैदा करता है। पिता ने पुत्र से कहा —'बेटा ! आटे में मिलावट कर दी ?'

'हां, पिताजी ! कर दी।'

'मसालों में मिलावट कर दी ?'

'हां, कर दी।'

'दूकान में मिलावट करने योग्य जितने भी पदार्थ हैं, सब में मिलावट कर दी?'

'हां, कर दी।'

'बहुत अच्छे लड़के हो। अब चलो, हम माला फेर लें।'

अब आप देखें—यह कैसी विडम्बना है! सचमुच यह वंचना है। प्रवंचना है। अनैतिक आचरण के बाद धर्म के नियम का पालन इसलिए किया जाता है कि जो पाप किया है, उससे निवृत्त हुआ जा सके। जहां धर्म की ऐसी विडम्बना होती है, जहां धर्म के प्रति ऐसा वातावरण होता है, वहां यदि भगवान भी साक्षात् आ जाए, तो भी समस्या का हल संभव नहीं है।

आज हम विचित्र युग में जी रहे हैं। आज का युवा वर्ग हिंसा में विश्वास करने लगा है। वह मानता है कि समस्त समस्याओं के समाधान का एकमात्र रास्ता है हिंसा। वह सारी समस्याओं चाहे वे शैक्षणिक हों या सामाजिक, व्यक्तिगत हों या राजनैतिक, धार्मिक हों या पारस्परिक, वह सबका समाधान हिंसा में खोजता है। प्रारंभ में उसे सफलता का आभास होता है, पर अन्ततः वह निराश होकर सब-कुछ खो डालता है। हिंसा स्वयं समस्या है। समस्या समस्या को ही पैदा करेगी। उसमें समाधान देने की शक्ति कहां है?

आज का युग दो दोषों से आक्रान्त है। वे दो दोष हैं—आचरण की दुर्बलता और दृष्टिकोण का विपर्यास। आचरण की दुर्बलता को मिटाया जा सकता है, किन्तु जब दृष्टि का दोष उत्पन्न होता है, वहां बीमारी असाध्य हो जाती है। आज बीमारी असह्य हो गयी है। आज के युवक का पहला कर्तव्य है कि वह दृष्टि-दोष को दूर कर सम्यक्दर्शी बने। सम्यक्-दर्शी होकर ही वह वर्तमान की समस्या का समाधान खोज सकता है। यदि उसका दृष्टिकोण सही होगा तो उसमें दायित्व-बोध अपने आप आ जायेगा। दायित्व थोपा नहीं जाता। वह आरोपण की वस्तु नहीं है।

संस्कृत कवि ने ऊंट की मति का उल्लेख करते हुए लिखा है—ऊंट एक ऐसा प्राणी है जो भार लादने पर भी चिल्लाता है और भार पीठ से उतारने पर भी चिल्लाता है। उसे यह भान नहीं होता है कि भार लादा जा रहा है या उतरा जा रहा है। आदमी की दृष्टि जब सही नहीं होती, उसका विवेक लुप्त हो जाता है। वह दोनों ओर की समस्याओं में उलझ जाता है। आज के युवक की भी यही स्थिति है। ऐसी स्थिति में मैं सोचता हूं कि राजनीति और धर्म दोनों मिलकर दृष्टिकोण को ठीक करें। उसकी आंखों को आंजें तो युवक यथार्थ को देख पाएगा और वह समस्याओं का पार पा लेगा।[1]

---

१. सन् १९७४ दिल्ली चातुर्मास में प्रदत्त प्रवचन से संकलित।

युवक : सार्थकता का बोध

जिससे बहुत अपेक्षा होती है, उसका बार-बार स्वागत होता है और बार-बार उच्चारित शब्द अपनी शक्ति को संजोकर कैसे रख सकता है, यह भी हमारे लिए चिन्तनीय है। युवक शब्द का उच्चारण शायद हर युग में हुआ होगा पर आज के युग में अतिरिक्तता के साथ हो रहा है और शायद इसलिए हो रहा है कि आज का युग जल्दी बदल रहा है। पुराने युग शायद शताब्दियों तक उसी रूप में चलते रहे हैं किन्तु आज की अर्थ-व्यवस्था आज की समाज-व्यवस्था तथा अन्यान्य व्यवस्थाएं इतनी द्रुतगामी हैं, इतनी त्वरितगामी हैं और इतनी तत्परता से बदल जाती हैं कि आदमी रात को सोता है और प्रातःकाल समाचारपत्रों में पढ़ता है कि अमुक राष्ट्र में क्रांति हो गयी, सैनिक क्रांति हो गयी, शासन का तख्ता पलट गया, और भी न जाने क्या-क्या परिवर्तन हो जाते हैं। पुराने ज़माने में लोग पांच हज़ार में अपना सारा जीवन चला लेते थे। इस प्रकार की स्थिति शायद सैकड़ों वर्षों तक चलती रही है। कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्होंने यह संकल्प ले रखा था कि पांच हज़ार से अधिक परिग्रह नहीं रखूंगा। आज की आर्थिक स्थिति डांवा-डोल हो गयी है। उस समय के पांच हज़ार आज के शायद पांच सौ का भी पूरा मूल्य नहीं रखते। यह युग सचमुच अस्थिरता का युग है। यह द्रुत-गामिता का युग है। यह त्वरितगामिता का युग है। इसमें स्थिरता, मंदगामिता बहुत कम हो गयी है। बैलगाड़ी की गति बहुत तीव्र हो गयी है। हम स्पूतनिक काल में जी रहे हैं। इस स्थिति में युवक का अर्थ ही युग

संस्कृत कवि ने ऊंट की मति का उल्लेख करते हुए लिखा है—ऊंट एक ऐसा प्राणी है जो भार लादने पर भी चिल्लाता है और भार पीठ से उतारने पर भी चिल्लाता है। उसे यह भान नहीं होता है कि भार लादा जा रहा है या उतरा जा रहा है। आदमी की दृष्टि जब सही नहीं होती, उसका विवेक लुप्त हो जाता है। वह दोनों ओर की समस्याओं में उलझ जाता है। आज के युवक की भी यही स्थिति है। ऐसी स्थिति में मैं सोचता हूं कि राजनीति और धर्म दोनों मिलकर दृष्टिकोण को ठीक करें। उसकी आंखो को आजें तो युवक यथार्थ को देख पाएगा और वह समस्याओं का पार पा लेगा।[1]

१. सन् १९७४ दिल्ली चातुर्मास में प्रदत्त प्रवचन से संकलित।

युवक : सार्थकता का बोध

जिससे बहुत अपेक्षा होती है, उसका बार-बार स्वागत होता है और बार-बार उच्चारित शब्द अपनी शक्ति को संजोकर कैसे रख सकता है, यह भी हमारे लिए चिन्तनीय है। युवक शब्द का उच्चारण शायद हर युग में हुआ होगा पर आज के युग में अतिरिक्तता के साथ हो रहा है और शायद इसलिए हो रहा है कि आज का युग जल्दी बदल रहा है। पुराने युग शायद शताब्दियों तक उसी रूप में चलते रहे हैं किन्तु आज की अर्थ-व्यवस्था, आज की समाज-व्यवस्था तथा अन्यान्य व्यवस्थाएं इतनी द्रुतगामी हैं, इतनी त्वरितगामी हैं और इतनी तत्परता से बदल जाती हैं कि आदमी रात को सोता है और प्रातःकाल समाचारपत्रों में पढ़ता है कि अमुक राष्ट्र में क्रांति हो गयी, सैनिक क्रांति हो गयी, शासन का तख्ता पलट गया, और भी न जाने क्या-क्या परिवर्तन हो जाते हैं। पुराने जमाने में लोग पांच हजार में अपना सारा जीवन चला लेते थे। इस प्रकार की स्थिति शायद सैकड़ों वर्षों तक चलती रही है। कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्होंने यह संकल्प ले रखा था कि पांच हजार से अधिक परिग्रह नहीं रखूंगा। आज की आर्थिक स्थिति डांवाडोल हो गयी है। उस समय के पांच हजार आज के शायद पांच सौ का भी पूरा मूल्य नहीं रखते। यह युग सचमुच अस्थिरता का युग है। यह द्रुतगामिता का युग है। यह त्वरितगामिता का युग है। इसमें स्थिरता, मंदगामिता बहुत कम हो गयी है। बैलगाड़ी की गति बहुत क्षीण हो गयी है। हम स्पूतनिक काल में जी रहे हैं। इस स्थिति में युवक का अर्थ ही कुछ

और हो जाता है। अतीत, वर्तमान और भविष्य—ये तीन मोड़ हमारे सामने है। मैं कई बार सोचता हूं कि युवक और बूढ़ा किसे कहा जाए? एक पुराना मानदण्ड है अवस्था का। जो व्यक्ति पचास साल की अवस्था को पार कर गया वह बूढा हो गया और जो व्यक्ति सोलह-अठारह से ऊपर हो गया वह युवक बन गया। यह है अवस्था का मानदण्ड। पर आज इसमें परिवर्तन हो गया है। क्योंकि आदमी की आयु बढी है। जीने का समय बढ़ा है। और ऐसे साधन भी बढ़े हैं कि आज वह लम्बे समय तक युवक रह सकता है और अनुसंधान ऐसे हो रहे हैं कि बुढ़ापा कभी आए ही नहीं। इस दिशा में आज के वैज्ञानिक काफी सफल भी हो चुके हैं, बहुत आगे बढ़ चुके हैं। शायद वे बुढ़ापे पर नियंत्रण पा लें। एक जमाना था जब कहा गया कि बुढापे और मौत को रोका नही जा सकता। मौत की बात तो शायद अभी दुर्भेद्य लग रही है। आने वाले दशक मे शायद लोग सुनेंगे, पढ़ेंगे—ऐसी गोलियां बाजार में आ गयी हैं, दूकानों में प्राप्त हैं कि गोलियां खा ली, अब बुढापा नही आयेगा।

वैज्ञानिक लोग चूहों पर ऐसे प्रयोग कर चुके हैं। उस प्रयोग में अल्प-भोजन और उपवास ने चमत्कारिक कार्य किया। जिन चूहों को कम भोजन दिया गया, जिन्हें उपवास कराया गया वे बहुत देर से मरे, बूढे नही हुए और जिन्हें सामान्य भोजन कराया गया वे जल्दी बूढ़े हो गये और जल्दी मर गये। इस आधार पर उनके प्रयोग चल रहे हैं और मनुष्यों पर भी प्रयोग हो रहे हैं। उनको आशा है कि वे सफल हो जायेंगे। तब यह बूढा और युवक शब्द भी समाप्त हो जाएगा। बूढ़ा नही होगा तो युवक कौन होगा? फिर तो आदमी होगा। यह मानदंड है अवस्था का।

दूसरा मानदंड क्या होना चाहिए? अभी-अभी मैं सोच रहा हूं कि एक मानदंड और होना चाहिए। उसकी परिभाषा यह हो सकती है कि जो आदमी पीछे की ओर देखता है, वह बूढ़ा और जो आदमी आगे की ओर देखता है, वह युवक। आप अनुभव करें और मनोवैज्ञानिक भूमिका पर भी देखें, आदमी जैसे-जैसे बूढा होता जाता है वैसे-वैसे अतीत की घटनाओं को

याद ज्यादा करता है और स्मृतियों में खोया रहता है। पुरानी बातें उसे बहुत मीठी लगती हैं। क्योंकि कर्तृत्वशक्ति जब तक रहती है तब तक स्मृति कम होती है। जैसे-जैसे कर्तृत्वशक्ति क्षीण होती है, वैसे-वैसे आदमी स्मृति करके मन को बहलाता है। पुरानी बातों को याद कर अपने मन को सान्त्वना देता है। जितनी यादें और जितनी स्मृतियां एक बूढ़ा आदमी करता है, उतनी जवान नहीं करता। जवान के सामने कल्पना का मैदान रहता है। वह भविष्य के सपने देखता है। वह पुरानी बातें बहुत कम याद करता है। मैं समझता हूं कि युवक और बूढ़े की परिभाषा यह बहुत ठीक बैठेगी। जो केवल अतीत की ओर झांकता है, वह व्यक्ति बूढ़ा और जो भविष्य तथा वर्तमान की ओर देखता है, वह युवक।

सचमुच वर्तमान को समझने की बहुत जरूरत है। मैं यह नहीं कहता कि अतीत को समझने की जरूरत नहीं है। अतीत से हम बहुत लाभ उठाते हैं। अतीत से हम बहुत लाभान्वित होते हैं। अतीत की घटनाओं पर जीने वाले आदमी कभी बड़े आदमी नहीं बन सकते। केवल अतीत पर जीनेवाले आदमी के गौरव की गाथा गायी जा सके, ऐसा काम वे नहीं कर सकते। अतीत के बल पर जीनेवाले आदमी दुनिया को कोई नई देन नहीं दे सकते। आज तक दुनिया में उन लोगों ने बड़े काम किये हैं, जिन्होंने वर्तमान को समझा है, वर्तमान को देखा है, और वर्तमान को परखा है। वर्तमान से कटकर जिन्होंने अतीत को देखा, उनमें गति नहीं आ सकी। वे केवल रूढ़ बने हैं, और स्थिर बने हैं। इसलिए वर्तमान को समझना बहुत जरूरी है। आप वर्तमान को समझ लेते हैं तो अतीत अनसमझा नहीं रह सकता। यदि वर्तमान को समझ लेते हैं तो भविष्य अनसमझा नहीं रह सकता। वर्तमान को समझने का मतलब है कि यदि हम वर्तमान में स्थिर खड़े हैं तो भविष्य भी हमारा स्पर्श कर रहा है। और अतीत अपनी छाया छोड़ रहा है। हम वर्तमान के उभय-रूपी दर्पण में दोनों की ओर झांक रहे हैं। सचमुच यह समय की पहचान आदमी को होनी चाहिए। और मैं समझता हूं कि जो आदमी होता है उसे समय की पहचान ठीक होती है।

एक व्यक्ति डॉक्टर के पास गया। किवाड़ खटखटाया। दस बज गये थे। डॉक्टर आया। आना ही पड़ा। क्योंकि बार-बार किवाड़ खटखटाया जा रहा था। डॉक्टर बोला-- क्या चाहते हो ?' रोगी ने कहा—'डॉक्टर साहब ! कुत्ते ने काट लिया है, दवा चाहता हूं।' डॉक्टर बोला —'तुम नही जानते, क्या समय हो गया है ? सामने बोर्ड पर लिखा हुआ है कि मैं नौ बजे के बाद नही मिल सकता। समय के अनुसार आना चाहिए।' रोगी बोला—'डॉक्टर महोदय ! आप जो कह रहे हैं बहुत ठीक बात है। मैं तो आपकी बात जानता हूं पर कुत्ता नही जानता कि कब काटना चाहिए। उसे नही मालूम कि डॉक्टर साहब नौ बजे के बाद दवा नही देते तो नौ बजे के पहले काटना चाहिए।'

यह ठीक बात है कि कुत्ता समय को नही पहचानता। परन्तु आदमी तो पहचानता है। क्योंकि आदमी तो आखिर आदमी है। वह कुत्ता नहीं है। वह समय को जानता है और जो समय को नही पहचानता, मैं नहीं समझता कि वह कैसे आदमी हो सकता है ? सचमुच युवक वह होता है जिसमें समय को पहचानने की क्षमता होती है, जिसमें समय को छेदकर गहराई मे जाने की चिंता होती है।

आखिर करना क्या है ? जो है वह दुनिया मे है। आप जानते है कि हम दर्शन की भूमिका मे जाएं, या विज्ञान की भूमिका मे प्रवेश करें। दुनिया में जो है सो है। एक अणु घटेगा नही, एक अणु बढ़ेगा नही। आप चाहे अच्छे-से-अच्छे वैज्ञानिक से पूछिए, वह बताएगा कि दुनिया में जितने तत्त्व थे, उतने ही है और उतने ही रहेंगे। नई चीज कोई भी नही बन सकती। दुनिया में कुछ नया होता ही नहीं। यह हमारा भ्रम है, हम मान लेते हैं कि कुछ नया है। नये का मतलब क्या ? मैं सोचता हूं कि नया उसे ही कहा जाता है जो बहुत पुराना हो जाता है। बहुत पुराना और इतना पुराना कि जो हमारी स्मृति से ओझल हो गया है, उसका नाम है नया। आज की कला को आप देखिए। आज की नई चित्र चित्रशैली और पुराने जमाने की हमारी जाटिनियों की भित्तिशैली की तुलना कीजिये। हमारे

नये चित्रकार पुराने जाटिनियों का आज वहुत अनुकरण कर रहे है। जो बात वहुत पुरानी हो गयी है, वह आज फिर से नयी होती चली जा रही है। अभी मैंने सुना कि वास्तुकला मे भी पांच-सात सौ वर्ष पुरानी चीजों का अनुकरण हो रहा है। जिस प्रकार पुराने जमाने मे मकान थे, उसी प्रकार आज वनाये जाने लगे हैं। पुराने तरीके और पद्धतियां अपनाई जा रही है। उन्हे मूल्य दिया जा रहा है।

वर्तमान अतीत को मूल्य देना जानता है, अतीत को भुलाना नहीं जानता। कोई भी वर्तमान अतीत की सहसा अवज्ञा नही करता। यह हमारा स्तर है कि हम मान लेते हैं कि पुरानों की अवज्ञा हो रही है या अतीत की अवज्ञा हो रही है। ऐसा हो नही सकता। सब पुनरावृत्ति है। दुनिया का क्या मतलब ? सृष्टि का मतलब क्या ? जगत् का अर्थ क्या ? पुनरावर्तन, परिवर्तन, आवृत्ति। आवृत्ति होती रहती है। जो एक घटना घटित हो गई, दो वर्ष के बाद फिर वह घटना घटित होती है। एक बात कही जाती है कि इतिहास अपने को दुहराता है। मैं कहता हूं कि इतिहास की ही नहीं, इस दुनिया में हर चीज की पुनरावृत्ति होती है। कोई भी ऐसी चीज नहीं कि जिसकी पुनरावृत्ति न हो। मुझे वहुत आश्चर्य हुआ जब मैंने पढ़ा कि आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ की एक सर्वथा नई व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने लिखा, तेरापंथी कौन ? पाच महाव्रत, पाच समितियां और तीन गुप्तियां— ये तेरह तत्त्व है। इन तेरह तत्त्वों को माननेवाला तेरापंथी होता है। यह विलकुल ठीक वात है। वहुत अद्भुत वात है। मैंने समझा शायद यह भिक्षु स्वामी की मौलिक देन है। किन्तु आप देखिए इस दुनिया में किसे मौलिक कहा जाए ? यह अपने आप में वहुत बड़ी कठिनाई है। पूज्यपाद जैनों की दिगम्बर परम्परा मे एक वहुत बड़े आचार्य हुए हैं और शायद भिक्षु स्वामी से हजार वर्ष पहले हुए हैं। एक बार उनका ग्रन्थ पढ़ते-पढ़ते निर्वाणभक्ति में एक श्लोक देखा। आश्चर्यचकित रह गया। उस श्लोक में उन्होंने भगवान् महावीर की स्तुति करते हुए लिखा है—'भगवन् ! आपने नया काम किया जो अन्य तीर्थंकरों ने नही किया। पांच महाव्रत, पांच समितियां

और तीन गुप्तियां—इन तेरह तत्त्वों का विधान कर आपने जैन शासन की एक नई मीमांसा और नई स्थापना की जो कि अन्य तीर्थंकरों द्वारा नहीं की गई।'

अब आप देखें, कहा का मेल कहां बैठा ? कब हुए पूज्यपाद और कब हुए भिक्षु स्वामी ? पर पता नही इस दुनिया में इतना संक्रमण कैसे होता है विचारों का। आजकल विज्ञान कहता है कि आकाशिक रेकार्ड में हमारे सब विचार अंकित रहते है। हज़ारों वर्ष के बाद भी उन्हें समझा जा सकता है, पकड़ा जा सकता है और सुना जा सकता है। यह विचारों का संक्रमण इस दुनिया मे चलता है। आज तक जितने भी महान् लोग हुए है, उन्होंने पुनरावर्तन किया है। मैं नही समझता कि आज का युवक क्या करेगा ? वह पुनरावर्तन करेगा जो कि उसके बुजुर्ग कर गए हैं। उसका पुनरावर्तन ही उसका कार्य होगा। हमें नया कुछ नहीं करना है। जो किया हुआ है उसे दुहराना है। तो फिर युवकों को क्यों चुना जाए ? इसीलिए चुना जाए कि उनमें शक्ति होती है। युवक का मतलब है—करने की क्षमता। और जिस व्यक्ति मे जब तक करने की क्षमता होती है, तब तक वह अच्छा कर सकता है। अमेरिका के स्वर्गीय राष्ट्रपति श्री केनेडी ने एक बहुत सुन्दर बात कही। युवक के बारे में उनकी परिभाषा है—'जो व्यक्ति खतरे को मोल लेना जानता है, ले सकता है वह होता है युवक और जो खतरों से घबराता है, वह होता है बूढ़ा।' जो खतरों को मोल लेना नही जानता, वह कोई अच्छा काम नही कर सकता। अच्छा काम वही कर सकता है जो खतरों को उठाना जानता है, खतरों को झेलना जानता है। आज तक के इतिहास में देखिए, भगवान् महावीर को ही लीजिए। उन्होंने पता नहीं कितने खतरों का सामना किया था। आचार्य भिक्षु को ही लीजिए। उन्होंने कितने बड़े-बड़े खतरे अपने जीवन में झेले। राजनीति के क्षेत्र में इन्दिरा को लीजिए। वर्तमान परिस्थितियों को देखिए। उन्होंने कितना बड़ा खतरा उठाया। ऐसा लगता था कि पैंसठ वर्ष पुराना कांग्रेस दल बिखर जाएगा। पर परिणाम यह नहीं हुआ। कठिनाई यह है कि लोग खतरा लेना नहीं

जानते। आज तो मुझे यह चर्चा करने में भी संकोच हो रहा है। लोग पूछते हैं कि भोज के अवसर पर यह करें या नहीं करें ? इतनी छोटी-छोटी बातों में समाज उलझ जाए, यह दुःख की बात है। उसके सामने कितनी बड़ी-बड़ी समस्याएं हैं ! उसके सामने कितनी बड़ी-बड़ी कल्पनाएं और संभावनाएं हैं ! जब वह छोटी-छोटी समस्याओं में उलझ जाएगा तो कुछ भी नहीं कर सकेगा। मुझे लगता है कि हमने सत्य को भी इतना छोटा समझ लिया कि अनन्त सत्य एक बिन्दु जैसा भी हमारे सामने नहीं है। जैन समाज के ही एक प्रमुख व्यक्ति ने लिखा है—'आज का हमारा मुनि समाज इन बातों में उलझ रहा है कि केला लेना है या नहीं लेना ? अमुक चीज का प्रयोग करना है या नहीं करना ? जबकि आज का विज्ञान धर्म के अस्तित्व को ही चुनौती दे रहा है, सामाजिक दर्शन और व्यवस्थाएं तर्कवाद को चुनौती दे रही हैं, विज्ञान जीववाद को चुनौती दे रहा है। आज न जाने कितने बड़े-बड़े प्रश्न विज्ञान ने धार्मिकों के सामने खड़े कर दिए हैं। उनकी ओर कोई ध्यान देना आवश्यक नहीं समझता। केवल जो दो सौ वर्ष पुरानी बातें कही जाती थी, उनकी चर्चाओं में इतने उलझ जाते हैं कि किवाड़ कहीं खुलते नहीं, और खुलते-खुलते जो बन्द हो जाते हैं तो कीलें और ठोंक दी जाती हैं।' समाज की स्थिति को देखिए। दुनिया में इतना परिवर्तन आ गया कि सम्पूर्ण समाज के लिए विघटन की भूमिकाएं तैयार हो गई हैं। परिवार, संस्था नाम की कोई चीज नहीं रह गई है। हिप्पी और बिटल जैसे लोगों ने जन्म ले लिया है। सारी सामाजिक मर्यादाओं को तोड़ने में ही कल्याण दिखाई देता है। एक ओर यह विचार-धारा और संस्कृति पनपती जा रही है तो दूसरी ओर छोटी-छोटी और घिसी-पिटी बातों से भी छुट्टी पाने का अवसर नहीं आ रहा है। किसे कहा जाए युवक ? समझने में बड़ी कठिनाई होती है। युवक है कहां ? अठारह-बीसवर्ष की उम्र को जो पार कर गया है, उसे युवक मान लें और संतोष कर लें तो यहां पर भी बहुत से बैठे हुए हैं किन्तु इनसे कुछ होना-जाना नहीं लगता। युवक वह होता है जो समय पर नियंत्रण कर सके। समय की

लगाम को अपने हाथ मे थाम सके और समय का बोध दे सके।

कुछ लोग सोचते है कि आचार्यश्री पुरानी वातों को समाप्त करना चाहते हैं या हम लोग कुछ साधु पुरानी बातों को समाप्त करना चाहते हैं। मुझे लगता है कि यह बहुत बडा भ्रम है। पुरानी बातें बहुत अच्छी है, उन्हें रखना है, जैसे मैंने अभी परिवार-संस्थान की चर्चा की। मैं आपसे स्पष्ट कहना चाहता हूं कि भारतीय परिवार व्यवस्था इतनी सुंदर है कि दुनिया के किसी भी अंचल में इस तरह की व्यवस्था आज तक नहीं हुई है। कितना स्नेह, कितना वात्सल्य, कितना प्रेम और कितना आश्वासन व्यक्ति को मिलता है। एक परिवार के सूत्र में बंधकर पचास व्यक्ति निर्भय हो जाते है। दो-चार व्यक्ति उनका भरण-पोषण करते है। कितनी आत्मीयता के साथ करते हैं। किसी पर दबाव नही। आज सारी दुनिया इस परिवार-संस्था के विघटन के कारण कितनी अस्त-व्यस्त और कितनी भ्रान्तशील हो रही है कि आज लोगों को सोचना पड़ रहा है कि भारतीय परिवार जैसी व्यवस्था अपने यहां भी होनी चाहिए। पश्चिमी जर्मनी की एक घटना मैं आपके सामने रखूगा। वहां की महिलाएं सारी नौकरपेशा हो गयी और काम करने चली जाती। परिणाम यह हुआ कि उनके बच्चे बिगड़ने शुरू हो गए। क्योंकि उन्हें पूरा प्यार नही मिलता, स्नेह नही मिलता। उनकी मनोदशा विक्षिप्त होने लगी। वहा के समाजशास्त्रियों ने सोचा, शिक्षा-शास्त्रियों ने सोचा कि माताओं को नौकरी करने की अपेक्षा घर मे बच्चों का भरण-पोषण करना चाहिए, तब बच्चे ठीक होंगे। हमारे भारतीय दर्शन में कुछ चीजें इतनी मूल्यवान् है कि पुरानी होकर भी उनकी सुरक्षा करना बहुत जरूरी है। पर आप यह निश्चित मानिए कि जो वर्तमान को नही समझता वह पुरानी चीजों की सुरक्षा नहीं कर सकता।

तिब्बत का तक उदाहरण हमारे सामने है। वहां के लामा लोग मानते थे कि हमारी परम्परा शाश्वत है, चिरन्तन है, उसे कभी मिटाया नहीं जा सकता। तिब्बत की संस्कृति को कभी मिटाया नहीं जा सकता। तिब्बत के साहित्य को कभी आंच नही आ सकती। परन्तु आंखों देखते-देखते क्या

घटित हुआ ? इतनी विशाल परम्परा, इतना विशाल साहित्य सब कुछ समाप्त हो गया। तिब्बत भी समाप्त हो गया और उसकी परम्परा भी समाप्त हो गयी। कुछ लोगों की बुद्धिमत्ता से कुछ चीजें भारत में सुरक्षित आ गईं। मैंने दिल्ली के सरस्वती पुस्तकालय में देखा कि कुछेक तिब्बती ग्रन्थ इतने महत्त्वपूर्ण और विशाल हैं कि उन्हें उठाने के लिए दो-चार व्यक्ति चाहिए। अगर ये ग्रंथ तिब्बत में होते तो संभवतः वे भी समाप्त हो जाते। यह क्यों हुआ ? इसलिए कि वर्तमान के साथ सामंजस्य स्थापित किया जाता, वर्तमान के अनुसार जो परिवर्तन करना था और जिस फ्रेम में तसवीर को मढ़ना था, मढ़ दिया जाता तो शायद इतना विघटन नहीं होता।

आज सचमुच धार्मिक लोगों के सामने, सामाजिक लोगों के सामने, व्यवसायियों के सामने बहुत बड़ी चुनौतियां आ रही हैं। अगर वे आज भी ध्यान नहीं देंगे तो भविष्य में कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ेगा, यह आनेवाला युग बता रहा है। मुझे याद है इसी स्थान (सुजानगढ) में आचार्यश्री कालूगणी विराज रहे थे। महाराजा गंगासिंहजी इधर से निकले और उन्होंने आचार्यश्री को वन्दना की। लोग कहते हैं कि कालूगणी ने वंदना स्वीकार की परन्तु विधिवत् नहीं। उनके ध्यान में नहीं आया। महाराजा चले गए। रात में दस बज गये थे। लोग यहां उपस्थित थे। उनके घबराहट थी कि पता नहीं अब क्या हो जाएगा ? कहीं ऐसा न हो जाए कि गंगासिंहजी हमारे महाराज को देश से बाहर निकाल दें। कालूगणी सो गए परन्तु मगनलालजी स्वामी ने वह रात चिंता में ही व्यतीत की। और हमारे समाज के मुखिया लोगों पर पता नहीं क्या बीती होगी ? एक वह जमाना था। बहुत वर्ष भी नहीं हुए हैं, केवल अड़तीस वर्ष ही हुए हैं। यह था रौब उस समय महाराजाओं का। लोग कांपते थे उनसे।

आज राजा इतिहास की वस्तु बन गये हैं। और आनेवाली पीढ़ी तो शायद अपने माता-पिता से पूछेगी कि राजा क्या होता है ? आजकल राजा लोग नौकरी भी करते हैं और नवाब की पीढ़ी के लोग तो तांगा भी हांकते

हैं। महल बिक रहे है। रहने के लिए छोटे-छोटे मकानों का निर्माण हो रहा है। क्या कभी कल्पना करते थे कि राजाओं और नवाबों की यह दशा होगी ? यह दुनिया है दुनिया। यहां कोई भी चीज स्थायी नहीं रह सकती। हर चीज का पुनरावर्तन होता है। सबका अहं चूर होता है। इस दुनिया मे किसी को अधिकार नही है कि वह अहं करता रहे और दूसरों को नीचे ढकेलता रहे। अहं करने का भविष्य न हो सकता है, न हुआ है, और न होगा। पर इस परिवर्तनशील दुनिया में हम परिवर्तन के सिद्धान्त को नहीं समझते। भगवान् महावीर ने हमारे सामने तत्त्व रखा है, जो है वह है, यानी उसका अस्तित्व नही मिटता, वह उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, फिर उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। दूध बन जाता है किससे ? घास-फूस से। गाय घास-फूस खाती है। दूध बन जाता है। दूध से दही बन जाता है। दही से घी बन जाता है और घी से और कुछ भी बन जाता है। कुछ शरीर बन जाता है, कुछ मल बन जाता है और फिर वह खाद बन जाता है। मैंने देखा कि लाडनूं का सारा गंदा पानी एक बाड़ी में जा रहा था जिसमें साग-सब्जियां लहरा रही थीं, जो मनुष्य के लिए स्वादिष्ट भोज्य है। इस परिवर्तन की दुनिया के रंगमंच पर कोई भी आता है, अभिनय करता है, बहुत उछलता-कूदता है और दो क्षण बाद इस प्रकार उतर जाता है कि मानो कभी आया ही नहीं। ऐसी स्थिति में सचमुच हमें सत्य को पकड़ने की जरूरत है।

मैं समझता हूं कि वह युवक अच्छा काम नही कर सकता जो सत्य को पकडने का प्रयत्न नहीं करता। मैं आपको उपदेश नही, मात्र एक परामर्श देता हूं कि अगर कोई युवक है तो उसे अध्ययम की गहराई में जाने की दिशा अपने हाथ मे लेनी चाहिए। जो अध्ययन की गहराई में नहीं जाएगा, वह न अपना भला करेगा, न परिवार का, न समाज का भला करेगा। केवल बी० ए० की डिग्री प्राप्त कर स्नातक बन गया, इतने मात्र को आप समझ लें कि हमने अध्ययन कर लिया तो मैं समझता हूं कि आपका समझना ठीक नही है। अध्ययन का मतलब होता है मनन और चिंतन।

जो हमारे पूर्वज हो गये, उन्होंने जो जाना, जो सोचा, जो समझा, जो बताया वह ठीक है और आज हमारे जानने के लिए कुछ भी शेष नहीं है। मैं समझता हूं यह दर्शन, यह दृष्टिकोण, यह विचार उनके विकास का अवरोध बन गया। आप जानते हैं कि विचार के विकास को कभी रोका नहीं जा सकता। खिड़कियों को बन्द नहीं किया जा सकता। आप खिड़कियों को बन्द कर दीजिए, हवा नहीं आएगी और प्रकाश नहीं आएगा किन्तु दुर्गन्ध होगी और अन्दर से दमघोंटू वातावरण बन जाएगा। तो आज हमारी सारी गति ठप्प हो गयी है। आप किसी भी क्षेत्र को लें। हजारों वर्षों से हिन्दुस्तानी लोग व्यापार कर रहे हैं किन्तु व्यापार का विशेष प्रशिक्षण लेना है तो अमेरिका जाओ, जर्मनी जाओ। यह क्यों? आज हजारों विद्यार्थी बाहर जाते है, व्यापार का प्रशिक्षण लेते हैं। फिर यहां आकर बड़ी नौकरी पाते हैं। बड़ा डॉक्टर और बड़ा इंजीनियर बनना है तो विदेशों में जाओ। ऐसा क्यों होता है? यानी सारी विद्याओं का बाहर से आयात कर रहे है। इसका कारण क्या है? वे लोग यह मानकर चल रहे हैं कि ज्ञान और विज्ञान का द्वार कभी बन्द नहीं किया जा सकता। यह ठीक है कि हमारे पूर्वजों ने जो दिया, उसकी सुरक्षा करना, उसे संभालकर रखना हमारा कर्तव्य होता है। किन्तु उसे बढ़ाना नहीं, यह हमारा कैसे कर्तव्य हो सकता है? जो पुत्र, जो संतान अपने पिता की संपत्ति को नहीं बढ़ाती, वह संतान निकम्मी संतान होती है और अविनीत संतान होती है। हमारे यहां उसे विनीत मान लिया जो पिता के कहे अनुसार चलता है। जो जैसा [illegible] अक्षरशः पालन करता जाए, समझे या नहीं, कोई चिंता [illegible]। ऐसा हमारे यहां हो

जो उन्होंने जान लिया, जो उन्होंने रट लिया उससे आगे फिर कोई नया विकास हो नही सकता और जब हम यह मानकर बैठ जाते है तो हमारे सामने और कठिनाई पैदा हो जाती है।

आज के युवक से जो सबसे बड़ी अपेक्षा है, वह है दृष्टिकोण का परिवर्तन। उसे अपने दृष्टिकोण को बदलना है। जब दृष्टिकोण बदल जाएगा, सारी चीज बदल जाएगी और जब तक हमारा दृष्टिकोण नहीं बदलता तब तक दुनिया में कुछ भी नही बदलेगा। दुनिया में जितना परिवर्तन हुआ है, दृष्टिकोण के आधार पर हुआ है। जिस व्यक्ति का दृष्टि-कोणबदल जाएगा, उसके जीवन का सारा ढांचा बदल जाएगा और सब-कुछ बदल जाएगा। जिस देश का दृष्टिकोण नही बदला, जिस समाज का दृष्टिकोण नही बदला और जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण नही बदला, उसका कुछ भी नहीं बदल सकता, चाहे सारी दुनिया बदल जाए। आप देखिए सारी दुनिया में कितना परिवर्तन हो रहा है। धर्म के क्षेत्र मे आज कितनी खोजे हो रही है। मुझे आश्चर्य होता है, आज हमारे हिन्दुस्तानी युवक तथा और भी बहुत सारे लोग धर्म के मामले में विदेशों से पाठ मंगाते है और पढ़ते हैं। आपको शायद पता नही, बम्बई जैसे शहर में जाइए और वहां देखिए। वहा हजारों-हजारों युवक विदेशी योगियों या तत्ववेत्ताओं से प्रशिक्षण के पाठ मंगाते है। उन्हें फालो करते है, उनका अनुसरण करते हैं और उनके अनुसार जीवन को ढालने का प्रयत्न करते हैं। इसका कारण क्या है? वे लोग आज हर क्षेत्र में खोज कर रहे हैं। अपने ज्ञान को बढ़ा रहे हैं। आगे बढ़ रहे हैं। और पुरानों की कही हुई बातें उनके विकास में कहीं भी बाधक नही बन रही हैं। हमारे यहां तो बड़ी कठिनाई है। एक भी नई बात सामने आ गई, सिरदर्द पैदा हो जाता है। इसका कारण क्या है? हमने अपने आपको अल्पज्ञ होते हुए भी सर्वज्ञ जैसा मान लिया। यह क्यों होना चाहिए? धार्मिक को तो विनम्र होना चाहिए—मैंने जो कुछ जाना है, बहुत ही थोड़ा जाना है, सारा का सारा जानना बाकी है। जब तक पूरा नही जान लूंगा, किसी बात पर अटकूंगा नही, रुकूंगा नहीं। इतना विनम्र

बनने का साहस हो तब तो जीवन में विकास हो सकता है अन्यथा स्वयं धर्म हमारे लिए अधर्म बन जाता है और हमारी मान्यता स्वयं अज्ञान बनकर हमारे विकास में बाधक बन जाती है।

कुछ लोग अपने को बहुत मानते है। किन्तु श्रद्धा के आगे तर्क को, युक्ति को स्थान देना नहीं चाहते। तर्कशास्त्र में आता है कि आप जो बातें कहते हैं अपने शिष्यों की गोष्ठी मे कहिए, प्रेमियों की गोष्ठी में कहिए किन्तु विद्वानों के सामने मत कहिए। इसका कारण क्या है? विद्वानों के सामने वही बात कही जा सकती है जो न्याय-संगत हो, युक्ति-संगत हो, प्रमाण-संगत हो और दूसरो की बुद्धि मे उतर सके। केवल मनचाही बात कहने का विद्वानों के बीच में कोई अर्थ नही होता और वह शक्ति तब आती है जबकि हमारा गहरा अध्ययन हो। जो पढ़ना या अध्ययन करना चाहते नहीं, जानना चाहते नही और दृष्टिकोण को बदलते नहीं तो वे धर्म को कैसे पकड़ सकेंगे?

मैं समझता हूं कि युवक वह होता है जिसमें बदलने की क्षमता होती है। अवस्था से युवक को नही मापा जा सकता। जिसमें बदलने की क्षमता नही होती, वह बीस वर्ष का है तब भी मेरी भाषा में बूढ़ा है। जिसके अन्दर बदलने की क्षमता होती है, वह चाहे साठ वर्ष का होगा, मैं उसे युवक कहना पसन्द करूंगा। अपने-आपको बदलने के लिए ज्ञान होना चाहिए।

भिक्षु स्वामी ने एक बहुत सुन्दर बात कही। एक जौहरी था। मर गया। पीछे विधवा पत्नी और एक लड़का। पत्नी ने घर में देखा तो एक पोटली मिली। खोलकर देखा। अन्दर हीरे भरे थे। उसने अपने लड़के को कहा कि तुम अपने चाचा के पास जाओ, इसका मोल करा लाओ। लड़के ने पोटली को चाचा के सामने रख दिया। चाचा ने सोचा क्या करूं? दो मिनट तक देखने के बाद पोटली बांधकर लड़के को दे दी। मां प्रसन्न थी कि हमारे पास बहुत हीरे पड़े हैं।

चाचा ने लड़के को पढ़ाना शुरू कर दिया। एक-दो वर्ष में वह लड़का

पूरा समझदार हो गया और हीरों का अच्छा पारखी बन गया। तब एक दिन चाचा ने कहा, 'बेटा ! वह पोटली लाओ। हीरों के भाव बहुत तेज हैं, बेच दिए जाएं।' वह मां के पास गया। पोटली मांगी। मां ने पोटली दी। चाचा के पास आया। उसे खोला और देखा तो हीरे गायब। कोरे कांच के टुकड़े? क्या हीरे कांच बन गए? पहले कांच हीरे थे और आज हीरे कांच बन गए। हीरे कांच नहीं हुए। वे कांच ही थे। परन्तु उस समय लड़का पहचानता नहीं था। पारखी नहीं था। इसलिए उस समय कांच हीरे बन रहे थे। आज जब परीक्षा की दृष्टि बन गयी, कांच कांच बन गया, हीरा हीरा बन गया। उसने पोटली को फेंक दिया, ठुकरा दिया। चाचा ने कहा, 'क्या करते हो?' उसने कहा, 'इन्हें क्या करूंगा? आपने मुझे बताया नहीं, धोखे मे रखा।' चाचा ने कहा, 'तब मैं कहता तो तुम्हारी मां कहती कि चाचा ने हीरे चुरा लिये और कांच के टुकड़े भर दिए। अच्छा नही होता। अब तुम स्वयं देख लो।'

परिवर्तन क्यों आया? इसलिए कि दृष्टिकोण का निर्माण हो गया। जब व्यक्ति में दृष्टि का निर्माण हो जाता है तब उसमें परीक्षा करने की ताकत आ जाती है। आज तो हमारे लोग दूसरों के आधार पर चलते हैं— 'वह व्यक्ति ऐसा कहता है तो हमें मान लेना चाहिए।' वह व्यक्ति कहता है, ठीक है, परन्तु तुम्हारी भी तो परीक्षा की शक्ति होनी चाहिए। अगर तुम्हारे अन्दर परीक्षा की शक्ति नही है और तुम दूसरों के आधार पर जीते रहोगे तो बिलकुल फेल हो जाओगे। आज हिन्दुस्तान में इसी प्रकार से हो रहा है। आज हमारे यहां दुहाई दी जाती है कि अहिंसा बहुत अच्छी है। किसलिए? भगवान् महावीर ने कहा—इसलिए। अरे, महावीर ने कहा है इसलिए अहिंसा अच्छी है, तुम्हारे क्या काम की है? महावीर की अहिंसा तुम्हारे क्या काम आएगी? तुम्हारे जीवन में यदि अहिंसा का कोई अनुभव नहो, तुमने अहिंसा को समझा नहीं है तो तुम्हारे क्या काम आएगी। भगवान् ने किसी को कर्त्ता नहीं माना। भगवान् ने किसी को भाग्यविधाता नहीं माना। भगवान् ने बताया कि हर आदमी अपने भाग्य का निर्माता

और विधाता है। न कोई डुबाने आता है और न कोई तारने आता है। हर आदमी अपने भाग्य का निर्माता है। फिर भी पता नहीं, क्या बात है कि हमारे यहां पचास वर्ष का आदमी अपनी मां की अंगुली पकड़कर चलना पसंद करता है। अपने पैरों पर चलना पसंद नहीं करता। महावीर ने यह बताया, कृष्ण ने यह लिखा, बुद्ध ने यह कहा, अन्य महापुरुषों ने यह बताया। एक बार जान लेना तो ठीक है पर चाहे पचास वर्ष का हो गया और उससे पूछा जाए कि ब्रह्मचर्य अच्छा है, अहिंसा अच्छी है, तुम्हारा क्या अनुभव है? यही उत्तर मिलेगा कि हमारा तो अनुभव नहीं है किन्तु भगवान् ने कहा है। अरे! यह भगवान की रट लगाते-लगाते मर जाओगे, तुम्हें क्या मिला इससे? आखिर तो हमें मिलना चाहिए। भगवान् ने यह नहीं कहा कि मेरा नाम रटते रहो। उन्होंने कहा कि जो मैं करता हूं, वह करो! किन्तु हमारे यहां श्रद्धा का रूप इस प्रकार बन गया कि हमारी श्रद्धा हमारे विकास में बाधक बन रही है। श्रद्धा के साथ पूरा ज्ञान होना चाहिए। किन्तु ज्ञान को हमने छोड़ दिया। कोरी श्रद्धा को पकड़ लिया। आप जानते हैं कि दृष्टिकोण जब बदलता है तभी सही चीज को समझ पाते हैं।

आज युवकों के लिए बहुत जरूरी है कि उनमें ज्ञान आए, दृष्टिकोण बदले और उसका सम्यग् निर्माण हो। आप जानते हैं—'यादृक्‌दृष्टिः, तादृक्‌सृष्टिः।' जैसी दृष्टि होती है, वैसी सृष्टि हो जाती है। राम के सामने सीता और हनुमान दोनों बैठे थे। प्रसंग चल पड़ा। सीता ने कहा—'अशोक वाटिका में फूल बड़े सुन्दर और सफेद थे।' हनुमान ने कहा—'मां! तुम असत्य कह रही हो। फूल सुन्दर थे, यह तो मैं मानता हूं परन्तु वे सफेद नहीं, लाल थे।' सीता कहती है—'मैंने आंखों से देखा।' और हनुमान कहते हैं—'मैंने आंखों से देखा।' दोनों प्रत्यक्षदर्शी और दोनों में विवाद। बहुत बार दुनिया में ऐसा होता है कि कानों की बात में विवाद होता है। एक बात चलती है तो सौ घरों तक चलते-चलते इतनी विकृत हो जाती है कि कुछ का कुछ और बन जाता है। पर यहां दोनों प्रत्यक्षदर्शी और दोनों में विवाद। आखिर राम सुनते रहे, सुनते रहे और

जब विवाद बहुत बढ़ गया तब उन्होंने कहा—'मैं तुम्हारा न्याय करता हूं, विवाद समाप्त करो।' देखने वाले बहुत बार धोखा खा जाते हैं। आंखें धोखा दे देती हैं। फूल तो सफेद थे किन्तु हनुमान क्रोध में लाल हो रहे थे, उनकी आखों में खून बरस रहा था। उन्हें इसीलिए फूल लाल दिखाई दे रहे थे। परन्तु थे वे सफेद। ऐसा होता है। आखों मे खून था तो वे फूल लाल बन गए। आंखें साफ होती तो फूल सफेद होते। हमारी दृष्टि के कारण हम कुछ को कुछ समझ लेते है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा था—सबसे पहले हमारा दर्शन सम्यक् होना चाहिए। दर्शन सम्यक् नहीं होता तो हमारा ज्ञान सम्यक् नही होता। हमारा ज्ञान सम्यक् नही होता तो हमारा चरित्र सम्यक् नहीं होता। आज हम केवल चरित्र की बात को पकड़ लेते हैं, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन की बात को भुला देते है।

मैं आपसे कहना चाहता हूं कि यदि आप चरित्र को वास्तव में सम्यक् देखना चाहते है तो पहले आपका ज्ञान सम्यक् हो और उससे पहले आपका दर्शन सम्यक् हो। दर्शन सम्यक् हुए बिना ज्ञान सम्यक् हो नही सकता। आज दर्शन के बारे में हमारे सामने बडी कठिनाइया है। और वे कठिनाइया इसलिए बढ़ गयीं कि हमने कुछ बातें मान लीं। मानना भी एक बात है। बच्चा हमेशा मानकर चलता है। बच्चा नही जानता। मां कहती है, तब बात को मान लेता है, और यह बात ठीक भी है। परन्तु एक बात मुझे बताइए। बच्चा मान लेता है। चार-पांच वर्ष के बच्चे को मां कहती है—उधर मत जाओ, हौआ है। बच्चा मान लेता है। पर पचीस वर्ष का हो गया और मां कहती है कि उधर मत जाओ, हौआ है, तब मान लेगा क्या? नहीं मानेगा। क्योंकि मानने की स्थिति समाप्त हो गयी। मानने की अवस्था से ऊपर उठकर अब वह जानने की स्थिति में आ गया। मानने की बात छूट गयी। हमारे धार्मिक जो सत्तर वर्ष के हो जाते है परन्तु मानने की बात उनसे नहीं छूटती।

युवको से आज अपेक्षा की जाती है कि वे केवल मानकर न चलें किन्तु जानकर चलें। हमारे यहां मानने का धर्म चलता है। उससे कठिनाइयां भी

पैदा होती है। आप जानते हैं कि आज नए प्रश्न सामने आ रहे हैं। चाहे *जीव के बारे में, चाहे वनस्पति के बारे में या चाहे और विषयों के बारे में।* आपको मालूम होना चाहिए कि अमरीका में डा० खुराना ने एक जीन पैदा कर दिया यानी जीवन की पहली अवस्था का निर्माण कर दिया। अभी हमने समाचार-पत्रों में पढ़ा कि अमरीका में प्रतिवर्ष दस हजार बच्चे कृत्रिम ढंग से पैदा किए जा रहे हैं। न जाने इसी प्रकार कितनी समस्याएं वैज्ञानिकों ने धार्मिकों के सामने खड़ी कर दी हैं। फिर भी आज के धार्मिक सोचते हैं कि हम तो वही बात मानते चले जाएं, हमें जानने की कोई जरूरत नहीं है।

इस प्रकार का धर्म आज के युग में चल नहीं पाएगा, टिक नहीं पाएगा। और कम-से-कम विद्वानों के सामने तो उसका कोई मूल्य नहीं होगा। घर में बैठकर आप बड़प्पन के गीत गा लें परन्तु बाहर उसका कोई मूल्य होने वाला नहीं है। इसलिए जानने की अब बहुत जरूरत है। मानने की बात को अब छोटा कर दीजिए। उस लकीर के सामने एक बड़ी लकीर खींच देना, यह है जानने की बात। आप जरा विचार करें कि कितनी समस्याएं धार्मिकों के सामने खड़ी हो गयी हैं? उन समस्याओं का समाधान करने के लिए नया अध्ययन, नया चिंतन, नया विचार, नया दर्शन और नयी बात सोचना हमारे लिए अत्यावश्यक हो गया है।

पुरानी चीज की सुरक्षा, पुरानी चीज का ज्ञान और नए-नए विचार आएंगे तब हमारे धर्म में पूर्णता आएगी। अन्यथा धर्म का एक पैर लंगड़ा हो जाएगा। क्या आप पसन्द करते हैं कि धर्म का एक पैर टूट जाए? आज का युवक यह समझता है कि बिना नया विकास किए केवल अतीत के आधार पर जिया नहीं जा सकता। जब मैं देखता हूं सारे वातावरण को, जो बीस वर्ष पहले की वेशभूषा थी, आज इतना आकस्मिक परिवर्तन आ गया है कि शायद बीस साल पहले लोगों ने कल्पना भी नहीं की थी। आज की लड़कियां और आज के लड़के जिस वेशभूषा में हैं, शायद बीस वर्ष पहले किसी ने यह कल्पना नहीं की थी कि यह वेशभूषा आने वाली है। आज के रहन-सहन का सारा ढंग, आज का सारा वातावरण इतनी तेजी से साथ

बदलता जा रहा है कि शायद पचास वर्ष वाले लोगों ने कभी कल्पना नहीं की होगी। बदलना दुनिया का अनिवार्य अंग है। उसे कोई रोक नहीं सकता। सारी दुनिया में जो परिवर्तन हो रहे हैं, उनसे कोई वंचित नहीं रह सकता, अलग नहीं रह सकता। इस स्थिति में हमें इस बात को समझ लेना चाहिए कि जो हो रहा है, उसके प्रति आंख मूदकर चलेंगे तो हानि होगी और उसके प्रति जागरूक होकर चलेंगे तो कुछ पा सकेंगे और उस पर नियंत्रण भी रख सकेंगे।

आज धर्म के क्षेत्र में हमें बहुत कुछ सोचने की जरूरत है। केवल रूढि-वाद के आधार पर, बनी-बनाई धारणाओं के आधार पर धर्म का बहुत विकास नहीं किया जा सकता। आप देखिए, भगवान् महावीर ने सबसे बड़ा तत्त्व दिया था ध्यान का। आज जैन परम्परा मे ध्यान लगभग छूट-सा गया। अब थोड़ा-थोड़ा उन्मेष आ रहा है। हमने इस बात को तो पकड़ लिया कि भगवान् ने एक साथ छह महीने की तपस्या की पर इस बात को भुला दिया कि भगवान् ने ध्यान के लिए तपस्या की या तपस्या के लिए ध्यान किया। मुझे याद आ रही है वह घटना। एक अंग्रेज कलेक्टर जंगल में शिकार करने गया। रास्ता भटक गया घोर जंगल में। प्यास लग गयी, भूख लग गयी। खाने-पीने को कुछ भी नहीं। सोचा, क्या किया जाए? दो-तीन आदमी साथ थे। खोजते-खोजते एक झोंपड़ी के पास पहुंचे। एक बुढ़िया थी। इशारे से कहा, कुछ खाने को दो। बुढ़िया ने सोचा, कोई मेहमान आया है। भूखा है। उसने रोटी पर थोड़ा-सा साग रखकर दिया। वह था अंग्रेज और उस जमाने का। उसने साग-साग खा लिया और रोटी को तश्तरी समझकर फेंक दिया।

मुझे लगता है कि आज हमारे जैन भाई भी रोटी को फेंक रहे हैं और साग को खा रहे हैं। भगवान् महावीर ने सोलह दिन-रात तक तपस्या की। क्यों की? इसलिए कि ध्यान मे बाधा न पड़े। ध्यान में विघ्न न आए। निरंतर ध्यान, सतत ध्यान चलता रहा। जो आदमी निरंतर ध्यान करेगा, उसे खाना-पीना सब छोड़ना पड़ेगा। ध्यान के लिए तपस्या थी। हमने ध्यान

को तो छोड़ दिया, रोटी को फेंक दिया और जो कोरी तपस्या थी, साग-साग को खा लिया। इसीलिए लोग कहते हैं कि तपस्या करते हैं, फल नहीं मिलता। जो मिलना चाहिए, वह नहीं मिल रहा है। शान्ति नहीं मिल रही है। इन्द्रिय-विजय नहीं हो रही है। कषाय से मुक्ति नहीं मिल रही रही है। तपस्या भी करते हैं और गुस्सा भी बढ़ता जाता है। तपस्या और गुस्से का क्या मेल? क्या सम्बन्ध? गुस्से को मिटाने वाला, इन्द्रियों की विजय कराने वाला, मन की विजय कराने वाला जो ध्यान था, वह तो छूट गया और कोरी रह गयी तपस्या जो कि गुस्सा बढ़ाती है और लोग कहते हैं कि वह फल नहीं मिल रहा है जो मिलना चाहिए।

यदि आप धर्म की मीमांसा करें, धार्मिक की मीमांसा करें तो आपको अनुभव होगा कि धर्म से जो बात मिलनी चाहिए, वह क्यों नहीं मिल रही है? इसीलिए नहीं मिल रही है कि उस पर शायद आज फिर से पुनर्विचार करने की आवश्यकता है। कुछ बातें शायद कटु भी हो सकती हैं, फिर भी मैंने आपके सामने रखी हैं और इसलिए रखी हैं कि आज मुझे बार-बार यह लगता है कि एक प्रकार से धर्म का उन्माद-सा धार्मिकों में आ गया है। हां, धर्म का उन्माद! आज धर्म का विकास, स्वाध्याय का विकास, दूसरों की आलोचना न करने की मनोवृत्ति, ईर्ष्या छोड़ने की मनोवृत्ति, मैत्री का विकास, जो धर्म के मूल स्रोत थे, उनकी चिन्ता तो हमने कम कर दी। पर, मन्दिर जाना, साधुओं के जाना या माला जप लेना—इतने से हम मान लेते हैं सारे जीवन का धर्म फलित हो गया। ये अच्छी बातें हैं, बुरी नहीं कहता। पर ये गौण बातें हैं। मूल बात है अपने जीवन की। अपने जीवन में क्या हो रहा है? सामायिक करते हुए पचास वर्ष हो गए परन्तु आज भी आलोचना करने की उतनी ही मनोवृत्ति है। इधर सामायिक की साधना चल रही है और उधर घृणा, ईर्ष्या और द्वेष भी चल रहा है। दोनों साथ-साथ चल रहे हैं। एक कमरे में अंधेरा भी है और प्रकाश भी है। दोनों साथ कैसे चलेंगे? प्रकाश होगा तो अंधकार नहीं होगा और अंधकार होगा तो प्रकाश नहीं होगा। दोनों साथ-साथ कैसे चल सकेंगे? पर आज तो चल रहे हैं।

आप काम करते हैं। जहां कोई ऐसा काम आता है, कह देते हैं—यह तो गृहस्थ का कर्म है, हम तो गृहस्थ हैं। अरे ! किसने तुम्हें साधु माना ? पर गृहस्थ का मतलब यह तो नहीं कि धार्मिक में परिवर्तन ही न आए। धार्मिक का मानदण्ड क्या है ? उसमें अगर कोई परिवर्तन न आए तो कैसे धार्मिक कहा जाएगा ? इन सारी परिस्थितियों को देखकर मुझे तो लग रहा है कि आन्तरिक परिवर्तन पर हमारा ध्यान बहुत कम है, केवल बाह्य परिवर्तन की ओर सारा ध्यान केन्द्रित हो गया है। नियम फिर चाहे साधु के लिए हों, चाहे श्रावक के लिए, वे किसलिए बनते हैं ? पाल किसलिए बनती है ? पानी की सुरक्षा के लिए। पानी हो तो पाल की बहुत जरूरत है। पानी की बूंद भी नहीं और पाल मजबूत है, इसका अर्थ क्या ? खेत में धान नहीं और बाड़ मजबूत है। क्या मतलब ? पानी की चिंता नहीं, दाने की चिंता नहीं, परन्तु पाल मजबूत चाहिए, बाड़ मजबूत चाहिए। यह दृष्टिकोण जब बन जाता है, हमारे हाथ पानी लगता नहीं, दाना लगता नहीं, केवल पाल और बाड़ लगती है। आज ऐसा ही हो रहा है। जो नियम कषाय को कम करने के लिए होते है, उन नियमों को लेकर वाद-विवाद, वितंडा और कषाय की भरमार है। क्या यह चिन्तन का विषय नहीं है ? आज हमें सचमुच अपने दृष्टिकोण को बदलने की जरूरत है। सम्यक्-दर्शन की जरूरत है और अपने जीवन के प्रति दर्शन का उपयोग करने की जरूरत है। मैं समझता हूं कि दृष्टिकोण का निर्माण हो गया तो धार्मिक जीवन का निर्माण हो गया। यदि दृष्टिकोण का निर्माण नहीं हुआ तो धार्मिक जीवन का निर्माण नहीं हो सकता। आप इस बात को सच मानिए—अहिंसा, सत्य—ये सारे दृष्टिकोण के परिणाम हैं। दृष्टिकोण से जीवन में अहिंसा आती है, अहिंसा से दृष्टिकोण का निर्माण नहीं होता।

आज के युवक के लिए इस बात की बहुत बड़ी जरूरत है कि वह अपने दृष्टिकोण का निर्माण करे और अपने जीवन को फिर से देखने का प्रयत्न करे।

युवक का संकल्प : अनुशासन, एकाग्रता और पुरुषार्थ

आज आचार्यश्री तुलसी का दीक्षा-दिवस है। आज के दिन आचार्यवर ने ग्यारह वर्ष की अवस्था में भागवती दीक्षा स्वीकार की। अवस्था बहुत छोटी थी, किन्तु अवस्था नहीं, तेजस्विता मानदण्ड बनती है। आचार्यश्री का जीवन तेजस्वी था। दीक्षा ली और अपनी शक्ति का ठीक दिशा में नियोजन किया।

आप जानते हैं कि हर व्यक्ति के पास शक्ति होती है। जिसमें शक्ति नहीं होती उसका अस्तित्व होता ही नहीं। उसी का अस्तित्व टिकता है, जिसमें शक्ति होती है। होने का मतलब है शक्ति। शक्ति और होना कोई दो चीज़ नहीं हैं। अस्तित्व का लक्षण ही एक प्रकार से शक्ति बन जाता है। कोई भी अस्तित्व शून्य नहीं होता। विश्व के हर कण में शक्ति होती है।

शक्ति होना ही बड़ी बात नहीं है। उससे आगे भी एक बात और है, कि हमारी शक्ति का नियोजन किस दिशा में होता है? यह सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यदि शक्ति का नियोजन ठीक दिशा में नहीं होता है तो शक्ति के द्वारा अनेक समस्याएं, उलझनें पैदा हो जाती हैं। दुनिया में जितनी खराबियां होती हैं, वे शक्ति के द्वारा ही होती हैं। शक्ति का नियोजन ठीक होता है तो उससे समस्याओं का समाधान मिलता है। इसलिए बड़ी से बड़ी समस्याओं का समाधान भी शक्ति के द्वारा ही होता है। समस्या और समाधान दोनों का स्रोत शक्ति है। अंतर रहता है सिर्फ

नियोजन का कि किस दिशा में नियोजन होता है। मुझे एक छोटी-सी कहानी याद आ रही है।

एक आदमी के घर मे काफी पेड़ थे। पुरखों ने लगाए थे। पेड़ खूब बड़े-बड़े थे। अच्छी छाया दे रहे थे। पेड़ अपने घर में थे किन्तु काफी बढ़ गए थे। इसलिए पड़ोसी के घर में भी छाया पहुंच रही थी। जिसके घर में पेड़ थे, उसने सोचा कि पेड़ मेरे घर में हैं, उन पर मेरा अधिकार है। फिर दूसरे लोग मेरे पेड़ो की छाया से क्यों लाभान्वित हों? यह तो उचित नही है। उसने पेड़ों को कटवा दिया। एक व्यक्ति ने पूछा— 'महाशय ! पेड़ कितने अच्छे थे। कितनी छाया दे रहे थे। आपने उन्हें कटवा क्यों दिया ?' पेड़ों के मालिक ने उत्तर दिया— 'भाई ! क्या करूं ? पेड़ों की छाया का लाभ दूसरों को पहुंच रहा था और जमीन मेरी रुकी हुई थी।'

आप देखिए ! यह भी शक्ति का उपयोग है। जब हमारी शक्ति ध्वंसात्मक कार्यों में लग जाती है और ध्वंस की ओर चली जाती है तब शक्ति हमारे लिए संहारक बन जाती है और समस्या बन जाती है। मैं देखता हूं कि देश के युवकों की शक्ति आज एक समस्या बन रही है। ध्वंस की ओर जा रही है। सारे देश की स्थिति को देखिए । यह स्पष्ट रूप से अनुभव होगा कि भारत के युवकों की शक्ति जितनी निर्माणात्मक कार्यों में नही लग रही है, उससे कही अधिक हिंसात्मक कामों में लग रही है। आए दिन समस्याओं का सामना सबको करना पड़ रहा है। इसका कारण यह है कि हमारी शक्ति का ठीक नियोजन नही हो रहा है। युवक को शक्ति का पर्यायवाची मान लिया गया है। युवक अर्थात् शक्ति और शक्ति अर्थात् युवक। युवक शक्ति का प्रतिनिधि होता है। यह प्रतिनिधित्व तो उसने स्वीकार कर लिया किन्तु उसका ठीक नियोजन नही किया। इस नियोजन की गड़बड़ी के कारण आज देश मे बहुत सारी समस्याएं पैदा हो गयी हैं।

मैं मानता हूं कि आचार्यश्री तुलसी का उदाहरण युवकों के सामने होना चाहिए। जब आचार्यश्री की अवस्था मात्र बाईस वर्ष की थी, उस समय आपने एक शक्तिशाली संघ का नेतृत्व अपने कंधों पर लिया और

उसका विकास किया। शक्ति का उपयोग रचनात्मक कामों में किया। आचार्यश्री का प्रारम्भिक सूत्र था—हमें ध्वंस की ओर अपनी शक्ति नहीं लगानी है। दुनिया मे सबका विरोध होता है। कोई ऐसा नहीं है कि जिसका विरोध नही होता। सूर्य अकारण प्रकाश देता है, पर उसकी भी आलोचना होती है। सूर्य का भी विरोध होता है। हवा अकारण हमें लाभान्वित करती है, प्राण देती है, जीवन देती है, पर उसका भी विरोध होता है। आचार्यश्री तुलसी का भी विरोध हुआ है और काफी हुआ है।

मुझे एक घटना याद आ रही है। काका कालेलकर बहुत वर्ष पहले दिल्ली में आचार्यश्री से मिलने आए। आते ही बोले—'मैं आपसे मिल रहा हूं, उसके पीछे एक प्रेरणा है। वह यह है कि मेरे पास आपके विरोध में इतना साहित्य आया कि ढेर लग गया। मैंने वह साहित्य देखकर यह निष्कर्ष निकाला कि जिस व्यक्ति का इतना विरोध होता है, वह निश्चित ही जीवित व्यक्ति है, मुर्दे का विरोध कोई नही करता। करने की जरूरत भी नही होती है। विरोध उसका होता है जो जीवित है। आप में जीवट है और उसी ने मुझे प्रेरित किया कि आपसे मिलना चाहिए और आज मैं मिल रहा हूं।' विरोध हुआ किन्तु उस सारे विरोध के बीच में आचार्यश्री ने जो एक स्वर दिया, वह था—हो हमारा जो विरोध, हम उसे समझें विनोद! यानी विरोध को विनोद समझकर चलें। यह था उनकी अपनी शक्ति का निर्माणात्मक कार्यों में नियोजन।

मुझे याद है कि किसी समय मे आचार्य भिक्षु के विचारों की कड़ी आलोचनाएं होती थीं, आचार्यश्री के विचारों की कड़ी आलोचनाएं होती थीं। कभी-कभी तो हम जिस मार्ग से गुजरते, उसमें डामर की सड़क पर हमारे विरोध मे इतने पर्चे चिपका दिए जाते कि हमारे पैर काले होने से बच जाते। किन्तु कभी भी आचार्यश्री तुलसी की ओर से उस विरोध में दो पंक्तियां भी नहीं लिखी गयीं। आचार्यश्री बम्बई मे थे, उस समय एक व्यक्ति ने विरोध मे काफी लिखा। आचार्यश्री ने मुझसे कहा कि इस पर हमें लिखना चाहिए, क्योंकि यह जो विरोध हो रहा है, वह केवल विरोध

नहीं है, यह वास्तविक स्तर पर आलोचना हो रही है। इस पर हमें लिखना चाहिए, उत्तर देना चाहिए। मैं समझता हूं कि आज से पचीस-तीस वर्ष पहले हमारा जो विरोध हुआ था, उसके विरोध में हमने दो पंक्तियां भी नहीं लिखीं। जो व्यक्ति अपनी शक्ति का इतना निर्माणात्मक और रचनात्मक कार्यों में नियोजन कर सकता है, वह सचमुच विकास कर लेता है। यदि आज यह बात हमारे अध्यापकों की समझ मे आ जाए, विद्यार्थियों की समझ में आ जाए, मजदूरों की समझ में आ जाए तो मैं समझता हूं कि जो रचनात्मक निष्पत्तियां हमारे सामने आनी चाहिए, किन्तु नही आ रही हैं, उनका एक समाधान हो सकता है।

आज देश की स्थिति क्या है ? आज के युवकों की स्थिति क्या है ? मैं मानता हूं कि शक्ति का नियोजन करने के लिए कुछेक बातों पर ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक होगा। पहली बात है कर्मण्यता। शक्ति तो है किन्तु कर्मण्यता नहीं है। आज हिन्दुस्तान जिस बीमारी से ग्रस्त है, वह है अकर्मण्यता और मुफ्तखोरी की। यह मुफ्तखोरी का पाठ उसने शताब्दियों से पढ़ लिया है। यह बीमारी उसकी रग-रग में जमी हुई है। भगवान् की दया हो, कोई काम करना न पड़े, ऐसा मानस हो गया है। लेने के लिए इतना मानस बन गया है कि कोई काम करना न पड़े, श्रम करना न पड़े और काम बन जाए तो भगवान् की कृपा है, धर्म की कृपा है। श्रम करना पड़ जाए तो हम मानते है कि भगवान् की कृपा कम है, धर्म की कृपा कम है।

पुराने जमाने की बात है। आचार्य भद्रबाहु एक बहुत बड़े आचार्य हुए हैं। संघ के सामने कोई कठिनाई आने पर उन्होंने एक मंत्र की रचना की। संघ का संकट दूर हो गया। एक स्त्री रसोई बना रही थी। उसका बछड़ा भाग गया। स्त्री ने सोचा, बछड़े को पकड़कर लाऊं। फिर सोचा, क्यों जाऊं ? मुझे मंत्र याद है। उसने मंत्र का पाठ किया और देवी उपस्थित हो गयी। स्त्री ने कहा—'देवी ! कोई संकट तो नही है। किन्तु मेरा बछड़ा भाग गया है। तुम उसे लाकर खूंटे में बांध दो।' देवी को आश्चर्य हुआ। वह भद्रबाहु के पास जाकर बोली—'महाराज ! आपने क्या कर

दिया है ! यह मंत्र आपने क्यों दे दिया ? आज तो हमें बछड़ा बांधना पड़ रहा है, कल पता नहीं क्या करना पड़ेगा।'

यह जो अकर्मण्यता की बात है, अपने कर्म पर, अपने पुरुषार्थ पर विश्वास न करने की बात है, हिन्दुस्तान के युवक को इस बीमारी से मुक्त होना चाहिए। अगर हमारे युवक इस बीमारी से मुक्त हो जाते हैं तो समझना चाहिए कि सबसे बड़ी समस्या का समाधान हो गया।

इस सन्दर्भ में मैं आचार्यश्री को देखता हूं। साठ वर्ष के शीघ्र ही होने वाले हैं। किन्तु प्रातः चार बजे से लेकर रात में दस-ग्यारह बजे तक काम में जुटे रहते हैं। अगर किसी दिन दस बजे सो गये तो हम लोग सोचते हैं कि आज बहुत अच्छा हुआ। आचार्यवर निरतंर श्रम और कठोर श्रम करते हैं। क्या हमारे देश का युवक इस कर्मण्यता को स्वीकार नहीं करेगा ?आज अनेक समस्याएं सुलझ सकती हैं, यदि हिन्दुस्तानी युवक में कर्मण्यता आ जाए।

दूसरी बात है अनुशासन की। शक्ति तब तक सफल नही होती, जब तक अनुशासन नही होता। हमारे यहां स्वतंत्रता का अर्थ अनुशासनहीनता जैसा बन गया है। अनुशासन और स्वतंत्रता में बहुत बड़ा अंतर है। अनुशासनहीनता एक अलग चीज होती है और स्वतंत्रता अलग। जो व्यवस्थित नहीं होता, जिसके जीवन का क्रम व्यवस्थित नहीं होता, जिसका मानस व्यवस्थित नहीं होता, वह कभी सफल नहीं हो सकता। आप देखिए अपने पड़ोसी देशों को। जापान का उदाहरण आपके सामने है। जापान ने कितनी उन्नति की है। क्या आपने कभी सोचा है, उसकी उन्नति का कारण क्या है ? एक व्यक्ति बता रहा था कि भारत की प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी जापान गयी थी। वे एक कारखाने को देखने के लिए गयीं। उस कारखाने में जो कर्मचारी थे, वे अपने कार्य में तल्लीन थे। इधर प्रधानमंत्री कारखाने का निरीक्षण कर रही थीं और उधर कर्मचारी अपने कार्य में व्यस्त थे। बहुत बार तो शायद हुआ कि उन्होंने आंख उठाकर भी नहीं देखा कि कौन आ रहा है ? इस प्रकार का अनुशासन

होता है, तब जीवन मे सफलता मिलती है। अनुशासन के बिना सफलता नही मिलती। और यह अनुशासन आ सकता है एकाग्रता के द्वारा। एकाग्रता को आज हमने बिलकुल भुला ही दिया। आज हमारी शिक्षा-पद्धति में, शिक्षा-संस्थानों में और धर्मस्थानों मे भी एकाग्रता की बात को भुला दिया गया है। हमारी ध्यान की पद्धति थी, एकाग्रता की पद्धति थी, जिसके द्वारा लोग विकास करते थे, बड़ी-बड़ी साधनाएं करते थे, उन्हें सचमुच आज भुला दिया गया। हिन्दुस्तान से ध्यान की पद्धति जापान में गयी, चीन में गयी, और भी दूसरे देशों में गयी। उन देशों ने विकास किया, आज भी कर रहे हैं, लाभ उठा रहे है और जहां से यह स्रोत निकला, उस हिन्दुस्तान ने उसे सर्वथा विस्मृत कर दिया। आज कोई आवश्यक नही समझता कि ध्यान करना हमारे लिए जरूरी है, एकाग्रता हमारे लिए जरूरी है, संकल्प की दृढ़ता हमारे लिए जरूरी है। इस एकाग्रता के अभाव मे अनुशासन कभी भी नही हो सकता।

शक्ति-सर्जन के लिए अनुशासन की आवश्यकता है, कर्मण्यता की आवश्यकता है और एकाग्रता की आवश्यकता है। इन बातों को भुलाकर हम अपने आप में संदिग्ध होकर उलझ जाते है। मुझे एक छोटी-सी कहानी याद आ रही है—

पुराने जमाने की बात है। एक राजा को अपना प्रधानमंत्री बनाने की आवश्यकता पड़ी। वह प्रधानमंत्री किसको बनाए, इसी के सम्बन्ध में उपाय सोचने लगा। उसे एक उपाय सूझा। तीन व्यक्ति प्रधानमंत्री बनने के लिए आए थे। राजा ने उन्हें संबोधित करते हुए कहा—'देखो! यह कोठरी है। इसमें तीनों उम्मीदवार आ जाएंगे। कोठरी का दरवाजा बन्द करके ताला लगा दिया जाएगा। जो व्यक्ति भीतर से ताले को खोलकर बाहर आ जाएगा, उसे प्रधानमंत्री बना लिया जाएगा।' कितनी असंभव और समझ से परे की बात है। भीतर आदमी बैठे हैं, बाहर ताला लगा हुआ है। उसे खोलकर बाहर आना है। तीनों उम्मीदवार अन्दर चले गए। ताला लगा दिया गया।

पहले व्यक्ति ने सोचा कि ताला खोलकर बाहर आना बिलकुल असंभव बात है, इसलिए वह तो अन्दर ही बैठ गया। दूसरा उठा तो सही पर सोचा कि परिश्रम करना तो मेरा काम है किन्तु ऐसी असंभव शर्त है कि उसमें सफल नहीं हो सकूंगा। बाद में वह भी बैठ गया। तीसरे व्यक्ति ने सोचा कि अगर ऐसी शर्त रखी है तो उसमें कुछ रहस्य होगा। शर्त रखने वाला भी तो आदमी है। उसमें भी तो कुछ बुद्धि होगी, वह भी तो कुछ सोचता-समझता होगा। मैं देखूं तो सही कि ताला कैसा है? वह आगे बढ़ा। दरवाज़े को खटखटाया और थोड़ा-सा धक्का देते ही दरवाज़ा खुल गया। ताला था किन्तु उसमें चाबी घुमाई नहीं गयी थी। चाबी घुमा दी जाती तो आदमी के वश की बात नहीं थी। राजा ने यही कहा था कि ताला होगा किन्तु ताले में चाबी घुमाई होगी, यह नहीं कहा था। उसने धक्का दिया। दरवाजा खुल गया। बाहर निकल गया। बाहर निकलते ही प्रधानमंत्री बन गया। जो ताले को खोलकर, समस्या को चीरकर बाहर आ जाता है, उसके लिए प्रधानमंत्री बनने में कोई कठिनाई नहीं होती।

हमारे में शक्ति होती है किन्तु बहुत बार हमारे सन्देह स्वयं हमको खा जाते हैं। हम अपने पुरुषार्थ के प्रति संदिग्ध हो जाते हैं, अविश्वस्त हो जाते हैं। हमारा विश्वास लुप्त हो जाता है। हमारा मन दुर्बल हो जाता है। हमारी मेधा दुर्बल हो जाती है। हमारी धारणाएं दुर्बल हो जाती हैं और हमारा संकल्प टूट जाता है। आदमी वहीं का वहीं बैठा रह जाता है। आज की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि हम ताले को खोलने के लिए पुरुषार्थ को काम में लें।

मैंने तीन बातें आपके सामने प्रस्तुत कीं। आज के सन्दर्भ में इसलिए प्रस्तुत कीं, कि आचार्यश्री तुलसी के युवक व्यक्तित्व में इन तीनों बातों का समावेश है। मैं आचार्यश्री के अनुशासन के बारे में क्या बताऊं? हमारे संघ की मर्यादा है कि आचार्य भी दीक्षा पर्याय में अपने से बड़े साधुओं के नीचे बैठकर वन्दना करते हैं। आचार्यश्री अस्वस्थ थे। इतने अस्वस्थ थे कि

डॉक्टरों ने हिलने-डुलने की भी मनाही कर रखी थी। उसस्थिति में भी आचार्यवर प्रतिक्रमण करने के बाद पट्ट से नीचे उतरकर, दीक्षा-पर्याय में अपने से बड़े साधुओं को वंदना करते। हम निवेदित करते थे कि इस स्थिति में आप ऐसा क्यों कर रहे हैं ? आचार्यश्री कहते कि यह तो होना ही चाहिए। यह जो एक अनुशासन होता है, व्यक्ति के जीवन का, वह कोई थोपा नहीं जाता है, जीवन से स्वयं उद्भूत होता है। यह अनुशासन, कर्मण्यता, एकाग्रता और पुरुषार्थ जो मैंने आचार्यश्री के जीवन में देखा है, आज के भारतीय युवक में विकसित हो जाएं तो मुझे कोई सन्देह नही कि आने वाले पांच वर्षों में भारत का वह दिन होगा, जो शताब्दियों मे नहीं हुआ। आचार्यश्री के इस दीक्षा-दिवस के पवित्र अवसर पर भारतीय युवकों को इन बातों के लिए निश्चित ही संकल्प लेना चाहिए।[1]

---

१. १४ दिसम्बर १९७३ को 'युवक दिवस' के अवसर पर हांसी (हरियाणा) में प्रदत्त वक्तव्य।

को हुए। २५०० सौ वर्ष उनका निर्वाण हुए हो रहे है। हां, निर्वाण शताब्दी मनाने की बात कर रहे हैं। उस समय आयोजन होंगे, प्रदर्शन होंगे। उनसे महावीर और जैन धर्म की श्रेष्ठता प्रमाणित नहीं होगी। महावीर की श्रेष्ठता प्रमाणित हो सकती है जैन लोगों के चरित्र की विशिष्टता के द्वारा। उसमें पहली बात आती है निर्माण की। महावीर ने क्या किया था? महावीर घर से निकले। उन्होंने कोई प्रचार नहीं किया, कोई उपदेश नहीं दिया। कहीं सभा में नहीं गए। उन्होंने कोई आयोजन नहीं किया। कुछ भी नहीं किया। अकेले रहे, केवल अकेले। अकेले जगलों में घूमते रहे। उस समय किसी को पता नहीं महावीर कहां है? नन्दीवर्धन भाई था, पर उसे भी पता नहीं कि महावीर कहां हैं? उनके राज्य को, उनके लोगों को, उनके सेवकों को, उनके अनुचरों को पता नहीं कि महावीर कहां हैं? इतना अज्ञातवास कि नितान्त जंगलों में घूमते रहे। संथाल की पहाड़ियों में, जंगलों में और ऐसे स्थानों में घूमते रहे कि जहां कोई जाना भी पसन्द नहीं करता। इतने एकान्त में और इतने अज्ञात में रहे पर आप जानते हैं कि जो जितना एकान्त में रहेगा, जितना अज्ञात में रहेगा, वह व्यक्ति उतना ही लोगों के बीच, लोगों के हृदय में और लोगों के लिए ज्ञात होगा। ज्ञात में रहने वाला कभी ज्ञात नहीं हो सकता। ज्ञात वह होता है जो अज्ञात में रहना चाहता है। लोगों के बीच में रहने वाला कभी लोगों के हृदय में नहीं बैठ सकता। जनता के हृदय में वह बैठता है जो लोगों से दूर रहना जानता है और एकान्त में रहना जानता है। महावीर ने कोई प्रचार नहीं किया। किन्तु अपने व्यक्तित्व में, अपने आत्म-निर्माण में इतनी विशिष्टता प्राप्त कर ली कि उनकी प्रतिमा जन-जन के मानस में प्रतिष्ठित हो गयी। आज महावीर जयन्ती मनाने का सर्वप्रथम यदि कोई काम है तो वह यह है कि हम स्व का निर्माण करें। हम महावीर की जयन्ती मनाने की विशिष्टता को प्रतिष्ठापित कर सकते हैं, तो इस बात से कि हम स्व का बोध पुष्ट करें। हम एकान्त में रहना सीखें और अज्ञात में रहना सीखें। अज्ञात और

एकान्त में रहकर ही हम महावीर की पचीसवीं निर्वाण शताब्दी मना सकते हैं और उसे विशेष अर्थवान् बना सकते है, अन्यथा कुछ भी नही होगा, कुछ भी नहीं होगा।

हमने देखा काफी शताब्दियां अभी मनाई गयी। वार्षिक आयोजन चले, वर्ष बीता और बात पूरी हो गयी। कथा पूरी हो गयी। क्या हमें कथा पूरी करनी है? कथा को समाप्त करना है? कथा शेष का अर्थ होता है मर जाना। हमें कथा शेष नही करना है, कथा को चालू रखना है, एक नया मोड़ देना है। नया मोड़ देने के लिए जो पहली शर्त होगी वह है चरित्र-निर्माण, आत्म-निर्माण। आप जानते हैं कि महावीर को आज के इतिहासकारों ने नीति का प्रथम प्रतिष्ठापक बतलाया है। यानी जिन्होंने नीति का प्रतिपादन किया उनमें सबसे पहला नाम भगवान् महावीर का आता है। महावीर ने धर्म के साथ नीति का प्रतिपादन किया। दूसरो ने उपासना धर्म का प्रतिपादन किया, कर्मकाण्ड का प्रतिपादन किया। महावीर ने उसका प्रतिपादन नहीं किया। महावीर ने कभी भी नही कहा कि मेरी पूजा करो। महावीर ने कभी नहीं कहा कि मेरा नाम जपो। आप समूचे प्राचीन साहित्य को उठाकर देख लीजिए, कहीं कोई ऐसा कथन नहीं मिलेगा कि जिसमें महावीर ने कहा हो कि मुझे पूजो, मेरे नाम का जाप करो। उन्होंने कभी नहीं कहा कि मेरे नाम पर बैठे रहो और भगवान् के भरोसे (राम-भरोसे) बैठे रहो। महावीर पुरुषार्थ-वादी थे। वे पराक्रम में विश्वास करते थे। उन्होंने यही कहा कि तुम सच्चे बनो। उन्होंने नीति-धर्म का प्रतिपादन किया, चरित्र-धर्म का प्रतिपादन किया। तो क्या चरित्र के विकास की बात को छोड़कर, नैतिकता के विकास की बात को छोड़कर हम महावीर की पचीसवीं शताब्दी मना सकते हैं? मैं समझता हूं कि अगर ऐसा होता है तो महावीर की पचीसवीं शताब्दी नही मनाई जाएगी, वह हमारी कल्पना की पचीसवी शताब्दी मनाई जाएगी। सबसे पहली बात जो युवकों के लिए करणीय है, वह है—आत्म-निर्माण की दिशा में गति और प्रयत्न।

महावीर स्याद्वादी थे। वादी नहीं थे वे, किन्तु उन्होंने जो कहा उसमें स्याद्वाद फलित हो गया। उन्होंने सत्य को वास्तविकता की दृष्टि से भी देखा और व्यवहार की दृष्टि से भी देखा। उन्होंने दो नयों की बात कही। वे दो नय हैं—निश्चय और व्यवहार। आत्मा को देखो और साथ-साथ व्यवहार को भी देखो, क्योंकि तुम्हें इस दुनिया के रंगमंच पर जीना है तो तुम व्यवहार का अतिक्रमण नहीं कर सकते। इस आधार पर तीर्थ-धर्म का प्रवर्तन हुआ। तुम्हें सत्य को पाना है तो वह सत्य के संगठन के द्वारा प्राप्त नही हो सकता, वह आत्मा की गहराई मे जाने से प्राप्त हो सकता है। इस आधार पर उनके अर्हम् धर्म का प्रतिपादन हुआ।

हमारे सामने दो रास्ते हैं—एक आत्मा के धर्म का और दूसरा तीर्थ का। जहां धर्म का प्रश्न है, जहा साधना का प्रश्न है, जहां सत्य की उपलब्धि का प्रश्न है, वहां हम आत्म-धर्म की बात को नहीं भुला सकते। किन्तु साथ-साथ हम तीर्थ-धर्म की बात को भी नहीं भुला सकते। यह संगठन है। संगठन बहुत मूल्यवान् होता है। आप देखेंगे इतिहास में कि धर्म के क्षेत्र में संगठन का सूत्रपात जैन आचार्यों ने, जैन तीर्थंकरों ने किया। इतिहास बतलाता है कि सबसे पहले भगवान् पार्श्व ने धार्मिकों का संगठन किया, अन्यथा आरण्यक धर्म चलता था। जंगल में चले जाओ, उपासना करो, अकेले रहो। भगवान् पार्श्वनाथ ने धार्मिकों को संगठित किया। तो हमारे सामने संगठन भी है। दूसरी बात, यदि हम महावीर की पचीसवीं शताब्दी मनाना चाहते हैं तो तीर्थ-सेवा के लिए अपना विसर्जन करें। अपने को न्योछावर करें, अपना बलिदान करें। सोचें कि हम तीर्थ की क्या सेवा कर सकते हैं? तीर्थ, संघ और संगठन, उसके लिए क्या कर सकते हैं? उसके लिए कितना अपने आपको अर्पित कर सकते हैं? कितना अपना बलिदान कर सकते हैं? और उसकी विशिष्टता किस प्रकार प्रमाणित कर सकते हैं? तेरापंथ युवक परिषद् एक संगठन है। मैं मानता हूं कि कोई भी संगठन केवल संगठन के लिए संगठन नहीं होता। 'कला कला के लिए' जैसी धारणाएं चल रही हैं, वैसे ही संगठन

संगठन के लिए यदि हो तो मैं समझता हूं कि संगठन का होना संगठन की आत्महत्या है। कोई अर्थ नहीं होता ऐसे संगठन का। संगठन सगठन के लिए नहीं, संगठन किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए होता है और होना चाहिए। संगठन के सामने उद्देश्य होना चाहिए। जैन धर्म एक सगठन है, उसका उद्देश्य होना चाहिए कि वे जैन तीर्थ की क्या सेवा कर सकते है ? जैन तीर्थ एक विशाल वृक्ष है, विशाल वृक्ष। पानी सीचने की जरूरत है। छोटा-मोटा पौधा हो या छोटे-मोटे पौधे हों तो एक माली पानी सींच सकता है, किन्तु जब कोई वृक्ष विशाल वन जाए, अति विशाल, तब अकेला माली पानी नहीं सींच सकता। उसे सीचने के लिए हज़ारों-हजारों हाथ एक साथ उठने चाहिए। जैन धर्म का यह एक इतना विशाल वट वृक्ष है, उसे सींचने के लिए हर एक आदमी का हाथ लगना चाहिए। आप यह सोचें कि आप अपने हाथ के द्वारा उस महान् और विराट् वृक्ष को किस प्रकार सींच सकते हैं, कितना सीच सकते है और कैसे सीच सकते हैं ? यह स्वयं आपको निर्णय करना है। यह निर्णय करेंगे तो निश्चय ही एक महान् उपलब्धि होगी और उसके लिए आपको समर्पण करना होगा। समर्पण किसका ? आपके दिमाग में पहली बात दौड़ेगी कि 'धन' का। मैं इसे गौण वात मानता हूं। अष्टावक्र विदेह महराजा जनक की सभा में गए। काफी हास्य हुआ, क्योंकि वे टेढ़े-मेढ़े थे। सारा शरीर ऐसा था कि मानो पांच-सात पत्थर बांध दिए हों। कोई इधर जाता है, कोई उधर जाता है, इतना टेढ़ा-मेढ़ा। किन्तु जितना टेढ़ा-मेढ़ा, जितना कुडौल और जितना कुरूप; उतना ही महान्। महानता जो अन्तर में होती है, वह बाहरी रूप में प्रकट नही होती। इतना महान् ! काफी हंसी हुई। उन्हें देख सारी सभा हंसने लगी। मजाक के वाद जनक ने देखा कि इतने बड़े महान् सत्य के द्रष्टा की हंसी हुई है, बहुत बड़ा अपराध है। आखिर जनक ने कहा—'महाराज ! क्षमा करें। मैं प्रार्थना करता हूं कि आप हमें सत्य का ज्ञान दें। मैं इस सत्य के लिए समूचा राज्य आपके चरणों में समर्पित करता हूं।' अष्टावक्र ने एक बात कही—'जनक ! मैं तेरा राज्य लेना नहीं

चाहता। मुझे राज्य की जरूरत नही है, मुझे नहीं चाहिए। मैं नहीं लेना चाहता।' 'तो फिर आप क्या लेंगे ?' राजा ने पूछा। अष्टावक्र ने कहा—'कुछ तो लेना होगा। यदि सचमुच तुम्हें देना ही है तो मैं एक बात लेना चाहता हूं कि राज्य देने का जो मन है, वह मन मुझे दे दो।' जनक ने कहा—'ठीक है, जैसी आपकी इच्छा।' जनक ने वह मन दिया और जनक विदेह हो गया। मैं यह चाहता हूं इस अवसर पर कि यदि आप विसर्जन करना चाहते है, समर्पण करना चाहते है तो उस मन का समर्पण करें जिस मन के द्वारा धन देना चाहते हैं, सेवा देना चाहते है और श्रम देना चाहते हैं। उस मन का विसर्जन कर दें, सब अपने आप हो जाएगा। यदि उस मन का विसजन नही हुआ, मन का समर्पण नहीं हुआ तो सेवा देते समय भी सेवा नही दे सकते हैं। क्योंकि मन नहीं दिया गया। मन दिए बिना कुछ भी नहीं हो सकता। न सेवा दी जा सकती है, न श्रम दिया जा सकता है, न धन दिया जा सकता है। धन देते समय भी आपका सारा गणित सामने आ जाता है कि इतना दे दूंगा तो इतना कम हो जाएगा। यह कैसे होगा ? काम किससे चलेगा ? तो सही बात है—अपने मन के नियोजन की। यदि आपका मन उसमें नियोजित हो जाए तो सारी बातें सुलझ सकती है। मन का नियोजन न हो, मन का विसर्जन न हो तो हर काम के सामने तर्क खड़ा हो जाएगा और उस तर्क में आप इस प्रकार उलझ जाएंगे जैसे मकड़ी अपने जाल में उलझ जाती है। तो दूसरी बात है तीर्थ-सेवा का संकल्प। पहली बात है आत्म-सेवा का संकल्प—स्व-निर्माण। दूसरी बात है तीर्थ-सेवा का संकल्प—जन-निर्माण। तीसरी बात है एक क्रान्ति की और वह है वैचारिक और सामाजिक। वड़ी बात को आप जाने दें। वैचारिक क्रान्ति की बात को छोड़ दें, आप सामाजिक क्रान्ति को लें। सामाजिक क्रान्ति के दो पहलू अभी मेरे सामने हैं—एक है रूढ़ियों का परित्याग और दूसरा है समता का प्रयोग। आज भी जैन समाज मे कितनी रूढ़ियां है। जीवन का कोई भी प्रसंग रूढ़ि से खाली नहीं है। आश्चर्य होता है, जीते-जी रूढ़ि होती है, किन्तु कोई आदमी मर

भी जाता है तो बेचारा मरने के बाद भी अपने पीछे रूढि छोड़ जाता है। एक बहन आयी दर्शन करने को, किन्तु रात को। दिन में लोग क्या कहेंगे कि पति तो मर गया और दिन में दर्शन करने आ गयी। यहां भी रूढि काम कर रही है। जीते समय भी रूढ़ि, मरते समय भी रूढ़ि और मरने के बाद भी रूढ़ि, मरने के बाद पीछे छोड़ी हुई रूढ़ि। कहां अन्त होगा? कहां छुटकारा होगा? युग कितना बदल गया। कहां सारी दुनिया का विकास और कहां भारतीय समाज की जकड़? आज भी वह रूढियों से इतना जकड़ा हुआ है और इस प्रकार जकड़ा हुआ है कि उसे छोड़ने में वह ऐसा मान रहा है कि यदि उसे छोड़ दिया तो न जाने किस गड्ढे में चला जाएगा? आज का युवक-वर्ग ही इसमें कुछ परिवर्तन ला सकता है। आप बूढ़ों से आशा मत करिए, क्योंकि उनके संस्कार इतने परिपक्व हो गए है, इतने दृढ़ हो गए है, इतने जम गये हैं कि वे उसे छोड़ने को तैयार नहीं हैं। आप उनको जाने दें। उनका आशीर्वाद मांगें और उनसे कहें कि आप कृपा करके हम जो कुछ करें, केवल आशीर्वाद दें, आप कुछ न करें। न रोड़ा बनें और न सहायक ही बनें, कुछ भी न बनें, केवल आप हमें आशीर्वाद देते रहें कि हम जो काम करें उसे करने दें। आज युवक को न विवाह करने की स्वतन्त्रता है और न कमाने की स्वतन्त्रता है, न निर्माण की स्वतन्त्रता है और न अपने ढंग से जीने की स्वतन्त्रता है और वह जकड़न तो इतनी है कि न पूरी मरने की भी स्वतन्त्रता है। यदि यह जकड़न मिट जाए तो रूढ़ियों से छुटकारा पा सकते हैं। यह एक बात हुई। दूसरी बात है समता की। हम कहते है—महावीर ने अपरिग्रह का उपदेश दिया। महावीर ने समता का उपदेश दिया। आप देखेंगे कि भारतीय साहित्य में, भारतीय दर्शन में, भारतीय चिन्तन में और भारतीय विचारधारा में आज दुनिया में यदि किसी भी व्यक्ति ने समता का सबसे अधिक प्रतिपादन किया, समता के आधार को सबसे अधिक मजबूत और सुदृढ़ किया तो वह एक ही व्यक्ति इस समूचे भारतीय चिन्तन के मंच पर होगा। वह होगा महावीर। वह होगी महावीर की प्रतिमा। वह होगा

महावीर का दर्शन। इतना समता का चिन्तन दिया। उनके धर्म का नाम क्या है? आप आज कहते हैं जैन धर्म। जैन धर्म नाम नहीं था पहले। उनके धर्म का नाम था श्रमण धर्म, सामायिक धर्म। सामायिक के सिवाय महावीर के सामने कोई प्रिय शब्द नहीं था। महावीर का सबसे अधिक प्रिय शब्द है—सामायिक। सामायिक का मतलब है—समता।

आज हम भगवान् महावीर की पचीसवीं शताब्दी मनाने जा रहे हैं। अभी एक भाई ने कहा कि केन्द्रीय सरकार पचास लाख रुपया खर्च करेगी और जैन समाज इतना खर्च करेगा। यानी महावीर की पचीसवीं शताब्दी का मूल्यांकन, उसकी क्राइटेरिया हमारे सामने होगी कि इतने रुपये खर्च होंगे। क्या महावीर की पचीसवीं शताब्दी रुपयों से मनाई जाएगी? क्या उस अपरिग्रही आत्मा की परिग्रह के द्वारा पचीसवीं शताब्दी मनाई जाएगी? तो मैं कहना चाहता हूं कि आप सबसे पहले महावीर की प्रतिमा पर इतना बड़ा आवरण डाल देंगे कि महावीर को पहले ही हम लोगों ने काफी छिपा रखा है, काफी आवरण डाल रखे हैं, अब इतना ज्यादा आवरण डाल देंगे कि महावीर उस आवरण के पीछे और छिप जाएंगे, दूर चले जाएंगे। क्या ऐसा करना है? इतने रुपये खर्च होंगे—इस गणित को, इन आंकड़ों को आप छोड़ें। आप यह सोचिए कि हम कितने रुपयों का विसर्जन करेंगे, कितना छोड़ सकते हैं, कितना अपरिग्रह का सिद्धान्त प्रस्तुत कर सकते हैं और वह भी समता के द्वारा। साम्य का प्रयोग। एक बात याद आ रही है, दादा धर्माधिकारी की। जब मैं दिल्ली में शिविर में था तो उन्होंने एक बात कही—यदि अणुव्रत वाले या जैन लोग समता का प्रयोग करें, एक ऐसा कारखाना, एक ऐसा उद्योग और फैक्टरी चलाएं जिसमें कोई मालिक न हो और कोई मजदूर न हो, सब समभागी हों, काम करने वाला हर व्यक्ति उसे संचालित करने वाला हो, उसका डायरेक्टर, उसका श्रमिक सब-के-सब समभागी हों। न कोई स्वामी हो, न कोई सेवक। न कोई मिल-मालिक हो, न कोई मजदूर। अगर एक भी ऐसा प्रयोग हो जाए तो हम देखेंगे कि अध्यात्म में आज भी

प्राण हैं, अध्यात्म में आज भी जान है और अध्यात्म में आज भी शक्ति है। अध्यात्म और अपरिग्रह का आज भी प्रयोग किया जा सकता है। आध्यात्मिक समतावाद का प्रयोग किया जा सकता है और यदि वह नहीं किया जा सकता तो फिर अध्यात्म, अपरिग्रह और समता—इन शब्दों को सदा के लिए दफना देना चाहिए। क्यों भार ढोते फिरते है इनका, यदि कोई प्रयोग नहीं हो सकता है तो ? क्या केवल शब्दों का भार ढोना है ? आगे ही सिर पर बहुत भार है और वेचारे गृहस्थों पर कितना भार ? कमाई का भार, परिवार को चलाने का भार, महंगाई का भार, कितनी समस्याओं का भार, इनकमटैक्स का भार, मृत्यु-टैक्स का भार ढोते-ढोते सारे छोटे-से दिमाग को परेशान किए बैठे हैं और फिर उसके साथ अपरिग्रह, अध्यात्म, समता, सामायिक का भार और ढोएं ? मैं समझता हूं कि इस गधे को इतना भारी मत बनाइए। इतना भारी क्यों वनाएं ? हल्का करे तो वह हल्का किया जा सकता है इन शब्दों की क्रियान्विति के द्वारा, इन शब्दों की सार्थकता प्रमाणित करने के द्वारा। इन शब्दों का अर्थ है, आज भी इनमें प्राण है, आज भी इनमें जीवन है और आज भी इनमें चेतना है। आज भी इनका उपयोग हो सकता है, आज भी इनकी अर्थवत्ता साधी जा सकती है। तो मैं आशा करूं, क्या युवक इस संकल्प के लिए तैयार होंगे कि महावीर की पचीसवी शताब्दी के अवसर पर हम एक ऐसा प्रयोग करेंगे, आध्यात्मिक अपरिग्रहवाद का और आध्यात्मिक साम्यवाद का—जिस प्रयोग के आधार पर दुनिया देखेगी कि केवल राजनीतिक क्रान्ति और वर्ग-संघर्ष के द्वारा ही साम्यवाद स्थापित नहीं किया जा सकता, किन्तु धर्म के आधार पर भी साम्यवाद स्थापित किया जा सकता है और अध्यात्म की भूमि में भी साम्य का प्रयोग किया जा सकता है ? यदि ऐसा एक भी काम हो सका तो मैं मानूंगा कि भगवान् महावीर की पचीसवी शताब्दी मनाने का महान् अर्थ होगा और हमारी बड़ी उपलब्धि होगी, हमारी प्राप्ति की विशिष्टता प्रमाणित होगी। अगर

आज ऐसा नहीं होता है तो फिर प्राप्ति की बात तो मैं कर सकता हूं, करूंगा, किन्तु उपलब्धि और श्रेष्ठता की बात करने का कोई अर्थ नहीं होगा।

ये चार बातें फिर दोहरा दूं, आप नहीं भूले होंगे—आत्म-सेवा, तीर्थ-सेवा, रूढ़ियों का परित्याग और समता का प्रयोग। ये चार ऐसे स्तम्भ हमारे सामने हैं जिनके आधार पर एक मण्डप खड़ा किया जा है, एक मंच तैयार किया जा सकता है और एक आधार बनाया जा सकता है। आपको भी सोचना है, हमें भी सोचना है क्योंकि पचीस सौ वर्षों के बाद प्रतिक्रमण करना है। प्रतिक्रमण करते हैं। प्रतिक्रमण का अर्थ क्या है—लौटना, आगे बढ़ना नहीं। आक्रमण, संक्रमण—ये आगे की ओर जाते हैं, प्रतिक्रमण पीछे की ओर। हमें पीछे की ओर जाना है। आगे नहीं बढ़ना है और देखना है कि महावीर ने जो दिया था, महावीर ने जो किया था, क्या हम वह कर रहे हैं? क्या उस देन का उपयोग भी कर रहे हैं या केवल सिकन्दर की तरह विजय के बाद विजय, विजय के बाद विजय, आगे बढ़ते चले जा रहे है तो उस विजय का अर्थ शून्य होगा। सिकन्दर जीते-जी शून्य हो गया और सिकन्दर को रोते-रोते ही प्राणों को त्यागना पड़ा। सचमुच हम आत्म-निरीक्षण करें, प्रतिक्रमण करें और दैनिक प्रतिक्रमण, पाक्षिक प्रतिक्रमण, मासिक प्रतिक्रमण और चातुर्मासिक प्रतिक्रमण, संवत्सरी प्रतिक्रमण तो सदा करते आये हैं। पचीस सौ वर्षीय प्रतिक्रमण। पचीस सौ वर्षों का एक साथ प्रतिक्रमण करें। तो कितने लोगस्स का ध्यान होता है। सांवत्सरिक ध्यान चालीस लोगस्स का होता है तो पचीससौवें वर्ष के लिए हमें कोई चार हज़ार लोगस्स का ध्यान करना होगा। उस ध्यान से फिर हम महावीर को देखेंगे, महावीर की स्तुति करेंगे, महावीर को समझेंगे, महावीर को समझने का प्रयत्न करेंगे और समझने के बाद कुछ ऐसा काम करेंगे जिसके द्वारा लोग यह समझ सकें कि सचमुच जैनों ने महावीर की शताब्दी मनाई और फिर उनमें भी आप लोग कोई विशेष प्रयोग करेंगे तो उसमें एक उल्लेखनीय बात

हो सकेगी कि तेरापंथ युवक परिषद् ने सचमुच महावीर की पचीसवीं निर्माण शताब्दी मनाई है।[1]

---

१. अ० भा० तेरापंथ युवक परिषद् के सातवें वार्षिक अधिवेशन पर प्रदत्त वक्तव्य।

युवकों की आस्था : एक प्रश्न, एक समाधान

एक यात्री जापान में गया। उसने वहां के उद्यान देखे, अरण्य देखे, उपवन देखे। वह एक उपवन में घूम रहा था। वहां देखा कि देवदारू के पेड़ तीनसौ-चारसौ फुट ऊंचे खड़े हैं। वे आकाश को छू रहे हैं। आगे जाकर उसने देखा कि देवदारू के कुछ वृक्ष अत्यन्त बौने हैं। उनकी ऊंचाई केवल चार-पांच फुट ही है। माली से पूछा—'यह क्या ? इतना अन्तर क्यों ? कुछ पेड़ तो चार सौ फुट ऊंचे हैं और कुछ चार-पांच फुट ऊंचे।' माली ने उत्तर दिया—'जिनकी जड़ें काट दी जाती हैं वे चार-पांच फुट के रह जाते हैं और जिनकी जड़ें नहीं काटी जातीं वे तीनसौ-चारसौ फुट के हो जाते हैं।'

मैं मानता हूं कि श्रद्धा जड़ है। वह जिसकी कट जाती है वह चार फुट का रह जाता है, चार सौ फुट का कभी नहीं हो सकता। चार सौ फुट का वही बन सकता है जिसकी जड़ें मजबूत हो जाती हैं, धरती में जम जाती हैं। आस्था का मतलब ही है—स्थिर होना, जड़ें जमा लेना। जो अपनी जड़ें नहीं जमा पाता, डांवाडोल रहता है, चंचल रहता है, वह बढ़ नहीं सकता। जैन परम्परा में मोक्ष के तीन साधन बताए जाते हैं—दर्शन, ज्ञान और चरित्र। इनको हम एक रूपक से समझें। वृक्ष की जड़ है, वह दर्शन है, वृक्ष का तना है, वह ज्ञान है, और वृक्ष के पत्ते, फल और फूल है वह आचार है। व्यक्ति में तीनों होते हैं—दर्शन होता है, ज्ञान होता है और आचार होता है। श्रद्धा नहीं होती है तो न दर्शन होता है, न ज्ञान होता है और न आचार होता है। श्रद्धा होती है तो दर्शन भी होता है, ज्ञान भी

होता है और आचार भी होता है।

एक संस्कृत कवि ने लिखा है—

'तत् कपेरपि कापेयं, यत् स तिष्ठत्यचञ्चलम्।'

बन्दर जब भी स्थिर होकर बैठ जाता है तो बड़ी अद्भुत बात लगती है कि बन्दर और वह भी स्थिर होकर बैठ गया। कवि कहता है कि यह भी बन्दर की चपलता ही है। यह भी उसकी चंचलता का ही एक अंग है कि वह स्थिर होकर बैठा है। इसे स्थिरता नहीं समझनी चाहिए।

युवावस्था में तीन प्रकार की चपलताएं होती है—रक्त की चपलता, बुद्धि की चपलता और मन की चपलता। तीनों चंचलताओं का योग जहां मिल जाए और वहां हम आस्था की बात करें यह कैसे सम्भव हो सकता है? जब तक अनुभव का परिपाक नहीं है तब तक आस्था हो या न हो, क्या फर्क पड़ेगा? किन्तु क्या मैं यह कहूं कि बूढ़ों मे आस्था होती ही है? यह भी उतना ही जटिल प्रश्न है। मैंने ऐसे सैकड़ों-सैकड़ों बूढ़े देखे हैं जिनमें आस्था का नाम तक नहीं होता। अनेक बार लोग कहते है, अमुक व्यक्ति आया, यहां चरणों मे सिर रखा, और बाहर जाते ही उसने गुरु और धर्म की आलोचना शुरू कर दी। क्या आस्था और वृद्धावस्था का कोई अनुबन्ध है? मुझे कोई अनुबन्ध दिखायी नही देता। आस्था का अपना एक स्थान है। वह बूढ़े मे हो यह जरूरी नहीं है। बूढ़े मे सब-कुछ ठंडा पड़ जाता है। रक्त ठंडा पड़ गया, मन की चपलता मिटी नहीं पर ठंडी जरूर पड़ गयी। शरीर ठंडा पड़ गया, इन्द्रियां ठंडी पड़ गयीं, चितन ठंडा पड़ गया, फिर भी आस्था नही आएगी। शायद इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा था—"चार चीजें दुर्लभ होती हैं। उसमें पहली है—मनुष्यता। मानवता दुर्लभ है। दूसरी बात है—श्रुति अर्थात् सत्य का सुनना। यह भी दुर्लभ है। तीसरी बात है—श्रद्धा। सत्य में श्रद्धा होना भी दुर्लभ है। तो आस्था बहुत दुर्लभ तत्त्व है, सहज ही प्राप्त नहीं होता। बहुत बार ऐसा होता है कि आस्था नहीं होती, आस्था का भ्रम हो जाता है और इस भ्रम को तोड़े बिना आस्था प्रकट ही नहीं होती।

मैं मानता हूं कि हजारों-हजारों व्यक्तियों को सामने रखें, तो उनमें आस्थावान् मुश्किल से इने-गिने लोग मिलेंगे। बहुत सारे ऐसे मिलेंगे जिन पर आस्था का मुखौटा है। आस्था का भ्रम है। अनास्थावान् को भी हम आस्थावान् मानते चले जा रहे है, इसीलिए आचार्य भिक्षु ने कहा था—

'जिनमे दृढ़ आस्था हो, वे थोड़े लोग मिलेंगे।' उन्होंने इस बात को काव्य के सुन्दर रूप में समझाया है। वन में बहुत काठ होता है पर चन्दन कहीं-कहीं मिलता है। पत्थर सब खानों में मिलता है, पर रत्न किसी-किसी खान में मिलता है। आस्था किसी-किसी व्यक्ति में मिलती है। हम यह न मानें कि आस्था इतना सरल तत्त्व है कि हर किसी में मिल जाए।

आस्था दो प्रकार की होती है—नैसर्गिक और प्रयत्न-जन्य। आचार्य उमा स्वामी ने लिखा है—कुछ लोगों में आस्था नैसर्गिक होती है, प्रयत्न नही करना होता, सहज आस्था होती है और कुछ लोगों में ज्ञान के द्वारा आस्था करायी जाती है। मुझे याद है मेरी अपनी घटना। कालूगणी विराज रहे थे मोमासर में। मैं और मुनि बुद्धमल्ल, दोनों पास में बठे थे। कालूगणी ने हमें एक दोहा सिखाया—

> 'हर डर गुरु डर, गांव डर, डर करणी में सार।
> तुलसी डरै सो ऊबरै, गाफिल खावै मार॥'

यह तुलसीदास का दोहा है। इसका अर्थ आप जान ही गए हैं कि भगवान् से डरो, गुरु से डरो, गांव से डरो, और डर में बड़ा सार है। डरता है वह उबर जाता है और जो नहीं डरता, गाफिल रहता है। वह मार खा जाता है। हम बहुत छोटे थे। तब तुलसी का साहित्य नहीं पढ़ा था। हमने तुलसी का नाम सुना था। कौन तुलसीदास हैं यह नहीं जानते थे। हम तो जब दीक्षित हुए तब तुलसी के पास आए थे, तुलसी को ही जानते थे, दूसरे तुलसी को जानते ही नही थे। हमने यही समझा कि कालूगणी ने हमें यही सिखाया है कि—जो तुलसी से डरता है वह तो उबर जाता है और जो नही डरता वह मार खा जाता है।

सचमुच आस्था का एक अनुबन्ध हो गया। आस्था यदि नैसर्गिक हो तो सबसे अच्छी बात है। और यदि नैसर्गिक न हो तो आस्था को उत्पन्न भी किया जा सकता है। मैं एक चक्र देख रहा हूं। तर्कशास्त्र में एक चक्र होता है, तर्क का। कर्मशास्त्र में एक चक्र होता है—संसार का, कर्म का। आस्था का भी एक चक्र है। वह है—प्रीति, आस्था, अनुशासन और प्रीति।

आप कुछ करें दूसरे के लिए। दूसरे के लिए करें। किसी का हित-साधन किए बिना आप आस्था को पैदा नहीं कर सकते। दुनिया में वे बहुत कम लोग जन्म लेते है, जिनकी सत्य के प्रति आस्था होती है। ऐसे लोग करोड़ों में मुश्किल से दो-चार खोजे जा सकते हैं जिनकी सत्य के प्रति, भगवान् के प्रति, धर्म के प्रति इतनी नैसर्गिक आस्था होती है कि वे किसी लाभ या किसी आशंसा की भावना नही रखते। आप किसी दूसरे का हित-साधन करें, आपके प्रति उसके मन में कृतज्ञता का भाव पैदा हो जाएगा। यह प्रीति और कृतज्ञता। कृतज्ञता एक ऐसा अनुबन्ध है कि व्यक्ति के मन मे आस्था पैदा कर देता है। धर्म के प्रति आस्था हमारी इसलिए है कि धर्म से हमारी आत्मा का भला होता है। धर्म के प्रति बहुत सारे लोगों की आस्था इसलिए है कि वे मानते हैं कि धर्म से उनका संकट टल जाएगा, कठिनाइयां टल जाएंगी, समस्याएं सुलझ जाएंगी। गुरु के प्रति आस्था इसलिए है कि गुरु हमें मार्ग दिखाएंगे। हमारी समस्याओं का समाधान मिल जाएगा। जहां कोई लाभ दिखायी नही देता, जहां बांधनेवाला कोई तत्त्व नही है वहां बंधा हुआ कोई नहीं रह सकता। आपने फल को देखा है, जो वृक्ष पर बंधा रहता है पर वृक्ष और फल के बीच में एक होता है वृन्त। आम लटक रहा है। पेड़ है। बीच में एक वृन्त है जो कि फल को बांध रहा है। एक ऐसा ही वृन्त होना चाहिए प्रीति का जो कि आस्था को बांध रखे।

आप सामाजिक प्राणी हैं, और धर्म के क्षेत्र में आगे हैं। एक समाज और एक फल—ये दो चीजें सामने हैं। भगवान् महावीर ने एक बहुत सुन्दर

से निकालकर अपने आप। उसने हाथ डाला और दो या तीन लड्डू निकालने का प्रयत्न किया। दो या तीन लड्डू पकड़े और निकालना शुरू किया। हाथ निकल नहीं पाया बर्तन से। बच्चे ने सोचा—जरूर भूत ने हाथ पकड़ लिया है। हाथ नहीं निकल रहा है। उसने सारे लड्डू डाल दिए। एक लड्डू निकाला और खा लिया। मां के पास आया और आकर बोला—'मां, तुमने ठीक कहा था। तेरी बात बहुत सच्ची होती है। मैंने दो लड्डू निकालने का प्रयत्न किया तो भूत आया, मेरा हाथ पकड़ लिया।' एक आस्था बन गयी—एक आस्था का भ्रम हो गया। बर्तन का मुंह छोटा था। दो निकाल कैसे सकता था ? नही निकाल सकता था, पर बच्चे के मन मे एक ऐसा भ्रम पैदा हो गया कि मां जो कहती है वह बात ठीक उतरती है।

बहुत बार हमारे मन में भी आस्था का एक भ्रम होता है। मैं स्पष्ट करूं अपनी बात को। इन पचीस वर्षों मे कुछ परिवर्तन हुए तो नयी बातें देखने को मिलीं। मुझे ऐसा लगा कि जो सबसे आगे आस्था का आसन बिछा रहे थे, वे शायद सबसे पीछे खिसक गए। जो आचार्यवर के बहुत निकट थे और तेरापंथ के बारे में, तेरापंथ के आचार्यों के बारे में कोई उतरती बात करे तो उन्हें शायद क्रोध आ जाता था और शायद लड़ने को तैयार हो लेते थे, लड़ मरते—वे भी इधर-उधर की उलटी-उलटी बातें करने लगे। मैंने सोचा कि हुआ क्या ? अपने आपको इतने दृढ़धर्मी, इतने दृढ़ आस्थावान, इतने श्रद्धालु मानते थे और आज उनको यह क्या हो गया ? कुछ वर्ष पहले की बात है, दो बूढ़ी बहनें मेरे पास आयीं। बड़ी श्रद्धालु अपने आपको मानती थीं। उन्होंने कहा—'महाराज ! हम सुन रहे हैं कि फ्लश का प्रयोग होने वाला है।' मैंने कहा—'भई ! मुझे तो पता नहीं।' उन्होंने कहा—'हमने सुना है कि चर्चा चल रही है और प्रयोग होने वाला है। पर हम कहना चाहती हैं कि अगर यह प्रयोग हुआ तो फिर तो हम आना-जाना ही छोड़ देंगी।' मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। क्या उन्होंने सत्य को समझ लिया ? शायद उन्होंने सत्य को समझ लिया।

और उन्होंने यह दावा किया है कि हम जो जान रही हैं वही सत्य है और इससे एक इंच इधर-उधर हुआ तो बस हमारी आस्था टूट जाएगी। क्या आस्था कभी सशर्त वाली होती है ? मैं तो अभी समझ नहीं पाया। जहां तालाब हो, बांध हो और साथ में बांध की पाली में छेद भी हो, मैं तो अभी तक कही नहीं देख पाया। होता तो गांव को खतरा है। कहीं आपने देखा हो कि भाखड़ा का बाध और उसकी मजबूत दीवार के साथ-साथ बड़े-बड़े छेद भी साथ मे हैं। एक भी हो जाए तो पंजाब को खतरा हो जाए। हरियाणा को खतरा हो जाए। आज तक नहीं होता कि बांध की पाली में कहीं छेद हो। आस्था में भी कोई छेद होता है क्या ? आस्था में भी कोई शर्त होती है क्या ? अगर आप यह करो तो हम आपकी मानेंगे, अन्यथा आप आप और हम हम, फिर यूयं यूयं, वयं वयं। तुम तुम और हम हम। मैं नहीं समझ सका कि यह कैसी आस्था होती है।

आस्था का अर्थ है—सत्य के प्रति समर्पण। सत्य के प्रति समर्पण किसी व्यक्ति के प्रति समर्पण नहीं होता। और मैं तो यह मानता हूं कि आस्था किसी व्यक्ति के प्रति नहीं होती किन्तु सत्य के प्रति होती है। जो लोग अपने आपको इस भ्रांति में पालते हैं कि मैं अमुक व्यक्ति के प्रति आस्थावान हूं, मैं नही मानता कि वह सचाई के रास्ते पर चल रहा है। उस व्यक्ति के प्रति हमारी आस्था हो जाती है जो स्वयं सत्यमय बनकर हमारे सामने प्रस्तुत होता है। जो स्वयं सत्यमय बनकर हमारे सामने प्रस्तुत नहीं होता उसके प्रति हमारी आस्था नहीं होती।

आज हमें बदलते हुए वर्तमान के संदर्भों में और वर्तमान के चिन्तनों में, आस्था के प्रश्न पर पूरा विचार करने की जरूरत है। मैं नही मानता कि तर्क करना उचित नहीं होता। मैं नहीं देखता कि बौद्धिक अपेक्षा नहीं होती। बौद्धिकता की अपेक्षा होती है। तर्क की अपेक्षा होती है। चिन्तन की अपेक्षा होती है। पर इन सब के नीचे जो होना चाहिए वह है आस्था का अनुबन्ध। जो श्रद्धाशील नहीं होता, उसे ज्ञान प्राप्त नहीं होता। गीता में कहा है—श्रद्धालु को ज्ञान प्राप्त होता है और जो जैसी श्रद्धा

करता है वह वैसा ही हो जाता है। भगवान् महावीर ने कहा—'जो मेधावी होता है वह ज्ञान के प्रति, आज्ञा के प्रति श्रद्धावान् होता है।' हम आस्था के प्रश्न को गौण नही कर सकते। आप लोगों ने आस्था के संदर्भ में आचार्यवर के एकाशन के प्रश्न को भी देखा। मैं सोचता था—आस्था के संदर्भ में एकाशन के प्रश्न को देखें। तो साथ-साथ में चिन्तन के संदर्भ में भी उस प्रश्न को देखें। आपको पता है कि भारीमालजी स्वामी ने तेला किया था। किसलिए? कि कृष्णोजी अपने साथ ले जाना चाहते थे और भारीमालजी स्वामी भिक्षु स्वामी के साथ रहना चाहते थे। प्रश्न आया। दोनों स्वामीजी के पास आए। कृष्णोजी बोले—'मैं अपने बेटे को ले जाऊंगा।' स्वामीजी ने कहा—'बेटा तुम्हारा है, ले जाओ। मुझे कौन-सा रखना है। तुम जानो, बेटा जाने।' अब भारीमालजी स्वामी के सामने प्रश्न था—इधर बाप और उधर सत्य! प्रश्न है पिता और सत्य के बीच का चुनाव करना! तो बाप के साथ रहूं या सत्य के साथ रहूं? उन्होंने निश्चित किया कि सत्य के साथ रहूंगा। किन्तु पिता है, बलात् ले जा रहे हैं। कैसे होगा? उन्होंने संकल्प किया कि जब तक पिता सत्य के साथ जाने की मुझे स्वीकृति नहीं देंगे तब तक मैं भोजन नहीं करूंगा। एक दिन बीता, दो दिन बीते, तीन दिन बीते। पिता का मन पिघल गया। पिता था, पिघल गया कि बेटा भूखा है, खाता नही। बहुत समझाया। कहा—'खाऊंगा तो भिक्षु स्वामी के हाथ का ही खाऊंगा, नहीं तो नहीं ही खाऊंगा।' तीन दिन बाद आए। आकर बोले—'महाराज, लो, इसे भोजन कराओ। तीन दिन का भूखा है।' सौंप दिया। भिक्षु स्वामी के पास आए और तीन दिन का पारणा किया। आप इस बात को मत जोड़िए कि कौन बहुमत है और कौन अल्पमत है। कोई भी प्रयोग होता है, संकल्प होता है, वह न अल्पमत के लिए होता है और न बहुमत के लिए। वह न थोड़े के लिए होता है, और न बहुत के लिए होता है। वह होता है—सत्य के लिए। पर मुझे लगता है कि वह एक दिन ऐसा योग था कि वहां पिता था और उसका दिल पसीज गया। यहां कोई पिता नहीं है, यह एक कठिनाई

है। पिता का पितृत्व, पिता का स्नेह यहां नहीं है, इसलिए दिल पसीजा नहीं है लोगों का। तो शायद आचार्यवर सत्य के साथ चल रहे हैं। सत्य का प्रयोग है और वह सत्य के साथ चल रहा है। बहुत सारे लोगों का दिल पसीजा है और उन्होंने अपना समर्पण किया है। किन्तु कुछ लोगों मे लगता है कि पितृत्व अभी जागा नहीं है। शासन के प्रति जो उनकी आस्था है वह सच्चे अर्थ में जागी नहीं है।

आस्था आवश्यक है। हमारे विकास के लिए आस्था जरूरी है। एक बात को आप याद रखें, आस्था को स्वयं न बांधें। एक जीर्ण-शीर्ण और पुराने वृक्ष ने पृथ्वी से कहा—'तुमने मेरा पोषण बन्द कर दिया।' पृथ्वी ने कहा—'भले आदमी, तुमने अपनी जड़ें स्वयं सुखा दी और दोष मुझ पर लगा रहे हो कि मेरा पोषण बन्द कर दिया।' कुछ लोग कहते हैं कि आचार्य के प्रति हमारे मन में यह भाव तब आया है, जब आचार्यश्री ने हमें वह वात्सल्य नहीं दिया जो देना चाहिए था। मैं उस पृथ्वी की बात को दोहराऊंगा कि भले आदमी, तूने अपनी जड़ स्वयं सुखा दी और दोष पृथ्वी को देता है, कि वह मुझे पोषण नही दे रही है। हम इस स्थिति को बहुत गहराई से समझें। आस्था को समझें। आस्था की अनिवार्यता को समझें और आस्था को पैदा करने के तरीकों को समझें। और अपनी जड़ों के भीतर में जाएं, गहरे में जाएं और उन्हे सूखने न दें। इतना अनुबन्ध हमने किया, उसमें छेद नहीं होने दिया तो मुझे लगता है कि हमारा भविष्य बहुत उज्ज्वल है। तेरापंथ संघ का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। आचार्य तुलसी का नेतृत्व हमारे लिए बहुत उज्ज्वल है और सब मिलकर एक ऐसा वातावरण बनाएं कि हम स्वयं आस्थावान् होंगे, और विश्व को भी आस्था का पाठ पढ़ा सकेंगे।[1]

---

१. जयपुर में अ० भा० तेरापंथ युवक परिषद् के नवम वार्षिक अधिवेशन पर दिया गया वक्तव्य।

युवक का कर्तव्य-बोध

युवक बन्धुओ !

हम धर्म की बात सोचते हैं तो वह देशातीत और कालातीत बात होती है। उसमें काल की कोई मर्यादा नहीं होती। न कोई बालक, न कोई बूढ़ा और न कोई युवक। किन्तु जहां व्यवहार की क्रियान्विति का प्रश्न होता है, वहां देश को भी मानना होता है और काल को भी मानना होता है। उन दोनों से हटकर हम व्यवहार को नहीं चला सकते, कोई भी क्रियान्विति नही कर सकते।

'युवक' शब्द भी एक काल की संज्ञा को सूचित करता है। यौवन दो अवस्थाओं के बीच एक शक्ति की अवस्था है। बालक मे क्षमताएं होती हैं किन्तु विकसित नही होतीं क्योंकि उनका शरीर-तंत्र समर्थ नहीं होता। बूढ़े में शरीर-तंत्र और क्षमताएं—दोनों विकासातीत हो जाती हैं, विकास से परे चलने लग जाती हैं। उसके शरीर की बहुत सारी कोशिकाएं समाप्त हो जाती है। मस्तिष्क की बहुत सारी कोशिकाएं खप चुकती है और शरीर का तन्त्र शिथिल हो जाता है। उसमें अनुभव होते हुए भी कार्य-क्षमता समाप्त हो जाती है। इन दोनों के बीच की अवस्था है—'यौवन'। युवा दोनों के बीच में है। उसमे शरीर की क्षमता भी है और क्रियान्विति की क्षमता भी। इसीलिए युवक एक शक्ति का या शक्ति की अभिव्यक्ति का स्रोत होता है। इसलिए युवक से बहुत आशाएं होती है। कोई भी देश, कोई भी समाज, कार्यक्षमता का जहां प्रश्न है, वहां युवक को आगे रखता है।

चाहे देश-रक्षा का कार्य हो, चाहे समाज-सेवा का कार्य हो. चाहे और कोई दूसरा, तीसरा, चौथा कार्य हो, युवक की अपेक्षा होती है। किन्तु आप जानते है कि युवक के लिए भी बहुत कठिनाई है। कठिनाई इसलिए कि एक ओर उसके शरीर के सारे उपकरण बहुत सक्रिय होते हैं। रक्त भी बहुत तेज बहता है। दूसरी ओर दुनिया का वातावरण उसके प्रतिकूल भी हो सकता है और होता भी है। उन दोनों में सामंजस्य स्थापित करना, दोनों के साथ संगति जुटा लेना बहुत कठिन बात है और यही संघर्ष आज सारी दुनिया में चल रहा है। आज के साहित्य का एक शब्द है—'भोगा हुआ यथार्थ'। हमें केवल कल्पना के जीवन में नही जीना है। युवक में बहुत कल्पनाएं उभरती हैं। उसका घरेलु पक्ष उसके अभिभावकों के हाथ में होता है। समाज का क्षेत्र कुछ पुराने कार्यकर्त्ताओं के हाथ में होता है। तो युवक के लिए कल्पना करने का बहुत अवकाश रहता है। किन्तु आप निश्चित मानिए कि कल्पना तब तक अर्थवान नही होती जब तक कि 'भोगे हुए यथार्थ' पर हम नहीं चल पाते। हमारा जीवन यथार्थ का होना चाहिए। हमारे पैरों के तले क्या है, इस बात का भी हमें बोध होना चाहिए। एक था ज्योतिषी, खगोलशास्त्री। वह इतना आकाश से सम्बद्ध था कि उसकी दृष्टि और उसका सारा व्यवहार आकाश-दर्शन में ही लगता था। रात होती और उसकी भावनाएं उमड़ जातीं। चाहे वह बैठता, चाहे खड़ा रहता, चाहे टहलता, चाहे खाता, दृष्टि आकाश पर लगी रहती। वह चल रहा था, आंखें आकाश में थीं। चलता चला, चलता चला। थोड़ा आगे गया और गढ़ा आ गया। वह गढ़े मे गिर पड़ा। गढे में कीचड़ था। गढ़ा गहरा भी था। उसमें गिरते ही वह चिल्लाया—'बचाओ, बचाओ!' पड़ौसी आया। उसने देखा, स्वयं ज्योतिषी साहब गढ़े मे गिरे पड़े हैं। उसने उन्हें यह कहते हुए निकाला, 'महाशय! आकाश को इतना देखते हैं, इतनी ऊंचाई पर देखते हैं तो जरा पैरों की तरफ भी नीचे देख लिया करें!'

पैरों के नीचे देखना बहुत बड़ी बात है। यह यथार्थ की बात है कि हम किस भूमि पर चल रहे हैं। हमारे पैरों के नीचे क्या है? हमारी भूमिका

क्या है ? हमारी सारी कल्पनाएं तब तक अर्थवान नहीं होतीं, मूल्यवान नहीं होती जब तक कि हमें यथार्थ का बोध नहीं होता, अपने ही पैरों के नीचे की भूमि का बोध नहीं होता। होना बहुत जरूरी है, बहुत आवश्यक है। यथार्थ पर चले बिना कोई भी आदमी आगे नहीं बढ़ सकता। उसके लिए गढ़े बहुत है। दुनिया में इतने गढ़े है कि पग-पग पर उसमें गिर पड़ने की संभावना बनी रहती है। गढ़ों को पार कर वही आगे बढ़ सकता है जो यथार्थ की आंख से अपने पैरों के नीचे के धरातल को देखकर चलता है। आज युवकों को भी यह सोचना है कि उनके पैरों के नीचे धरातल क्या है? आज की सामाजिक परिस्थिति, आज की राजनैतिक परिस्थिति और आज की धार्मिक परिस्थिति—तीनों परिस्थितियां हमारे सामने है। आप जानते हैं कि दुनिया का जो वातावरण होता है, कोई भी समाज और कोई भी युवक उससे कटा रहकर चल नहीं सकता। वह उसके सन्दर्भ में जीता है और उससे लेता है। कोई भी उससे बच नहीं सकता। जो व्यक्ति व्यवहार में चलता है वह स्वयं अपनी क्रिया से प्रतिक्रिया को प्राप्त होता है और दूसरे को प्रतिक्रिया देता है। वह प्रभावित होता है और प्रभावित करता है। अलग कोई नहीं रह सकता। तो हम भी प्रभावों को ग्रहण करते हैं और आप भी प्रभावों को ग्रहण करते हैं किन्तु आने वाले प्रभावों से अपने-आप को कितना बचा सकते हैं और कितना लाभ उठा सकते है, यह है यथार्थ की भूमिका। यदि हम इस भूमिका पर वास्तव में चलें तो जो प्रभाव आ रहे हैं उनसे हम लाभ उठा सकते हैं। लाभ उठाना बहुत जरूरी है, क्योंकि मैं मानता हूं कि वर्तमान मे बहुत सारी चीजें ऐसी अच्छी हैं जो पुराने काल में नहीं थी। उन चीजों से हमें लाभ भी उठाना चाहिए। कुछ चीजें व्यर्थ होती हैं, उनसे अपने आपको बचाना चाहिए। ये दोनों बातें बराबर होनी चाहिए। *उसके लिए यथार्थ की भूमिका पर चलना बहुत जरूरी है।* आज देखिए, युवक का मतलब एक 'क्रान्ति' से जुड़ गया। क्रान्ति के साथ-साथ एक उत्तेजना से जुड़ गया, आवेश से जुड़ गया। आवेश और युवक एक-दूसरे के पर्याय जैसे हो गए। एक बार डॉ० कोठारी से मैं बात कर रहा

था। मैंने पूछा—'आज के विश्वविद्यालयों में इतने उग्र आंदोलन हो रहे हैं, तो क्या आप इनसे सहमत हैं?' उन्होंने कहा—'देखिए महाराज! मैं मानता हूं कि आज व्यापारी-वर्ग में कोई क्षमता नहीं है। राज्य-कर्मचारियों में तो है ही नहीं कि वे बुराई का प्रतिकार कर सकें। आज कितना अन्याय चल रहा है। आज एकमात्र प्रतिकार की शक्ति किसी में है तो वह है युवक और विद्यार्थी में। विद्यार्थी ही सचमुच क्रान्ति कर सकता है और उसमें वह क्षमता भी है। इसलिए विद्यार्थी की क्षमता को और उसकी क्रान्ति करने की शक्ति को हमें नहीं कुचलना है, नहीं रोकना है। मैं युवक के इस पक्ष का समर्थक हूं। किन्तु इतना जरूर है कि आवेश के स्थान पर थोड़ा सन्तुलन, थोड़ा विचार और थोड़ा विवेक होना चाहिए।' उनकी शक्ति को रोकना नहीं है। शक्ति का उपयोग करना है और शक्ति का उपयोग होना भी चाहिए। इंडोनेशिया मे जो कुछ परिवर्तन हुआ, उसकी पृष्ठभूमि में युवक वर्ग था। विद्यार्थियों ने सारे शासन को पलट दिया। आज ऐसा कहीं भी हो सकता है। यदि आज के समूचे विद्यार्थी, हिन्दुस्तान के करोड़ों-करोड़ों विद्यार्थी अगर एक बात को पकड़ लें तो शायद हिन्दुस्तान की भी कायापलट हो सकती है। किन्तु मुझे लगता है कि शक्ति का सही नियोजन नहीं हो रहा है। शक्ति का सही दिशा में नियोजन हो और उसके साथ विवेक और सन्तुलन हो और सही मार्गदर्शन हो तो उसकी संभावनाएं बढ़ सकती हैं। आज निर्माण की अपेक्षा है। किन्तु आप निश्चित मानिए कि निर्माण तब तक नहीं होगा जब तक कि चरित्र का विकास नहीं होगा। आज हिन्दुस्तान की सारी कठिनाई, सारी गरीबी इस बात पर पल रही है कि यहां भ्रष्टाचार बहुत है। पुल बनता है तो एक ही वर्षा में टूट जाता है। बांध बनता है तो एक ही वर्षा में दरारें पड़ जाती हैं। मकान बनता है तो काम बाद में आता है, पहले ही ढह जाता है। [यह सारा इसलिए होता है कि सभी क्षेत्रों में भ्रष्टाचार खुलकर चल रहा है। आज धन के प्रति इतना व्यापक मोह है कि जो होना चाहिए उसका उल्टा परिणाम आ रहा है। मैं यह स्पष्ट अनुभव करता हूं और मानता हूं कि धन का मोह जितनी

पुरानी पीढ़ी में है उतना आज के युवक में नहीं है। यह देखा है कि बेटा नहीं चाहता कि मैं रिश्वत लूं किन्तु पिता प्रेरित करता है कि जब सब ले रहे हैं तो तुम्हें लेने में क्या कठिनाई है ? बड़ा आश्चर्य है। पिता बूढ़ा है, मौत के सिरहाने है, उसे अब चल बसना है। फिर भी धन के प्रति उसका लगाव अभी नहीं घटा है।

मुझे एक परिवार की घटना याद आ रही है। पुत्र की शादी का प्रसंग था। पुत्र चाहता था कि उस घर में उसकी शादी न हो, उसका सम्बन्ध न हो, क्योंकि लड़की उसे पसन्द नहीं है। पर पिता यही चाहता था कि शादी उसी घर में, उसी लड़की से हो। कारण, वहां से धन की अधिक संभावना है और जहा पुत्र शादी करना चाहता है वहां से कुछ भी आने की संभावना नहीं है। जो पिता मृत्यु के सिरहाने है, जिसके सिर पर मौत मंडरा रही है, वह धन की बात सोच रहा है। लड़का धन की बात नहीं सोचता। पता नहीं शादी धन को करनी है या लड़के को करनी है। मुझे यह लगता है कि आदमी जैसे-जैसे मौत के नजदीक जाता है, वैसे-वैसे धन का व्यामोह बढ़ता चला जाता है। वह यह स्पष्ट जानता है कि धन साथ में नहीं जाएगा,फिर भी वह इस मोह को छोड़ नहीं सकता। अनेक उदाहरण और घटनाएं मेरी आंखों के सामने हैं जिनके आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हू कि धन का मोह जितना पुरानी पीढ़ी में है उतना आज के युवक में नहीं है। भ्रष्टाचार का रोग जितना पुरानी पीढ़ी में है, आज की पीढ़ी में नहीं है। आज के युवक में राष्ट्रीयता की भावना है। अपेक्षाकृत राष्ट्रीय प्रेम भी कुछ बढ़ा है, जबकि पुराने लोग इस बात का अनुभव नहीं करते। जहां राष्ट्रीय प्रेम है, राष्ट्र के प्रति अपनत्व है और कुछ परिवर्तित मूल्यों और मानदण्डों का विवेक है वहां धन का अन्धा अनुसरण और धन का अन्धा व्यामोह नहीं हो सकता। आज के युवक में काफी अच्छाइयां हैं। इनके होते हुए भी यह जो आवेश की बात है, तात्कालिकता की बात है और तात्कालिक निर्णय लेने की बात है उसमें कुछ कठिनाई हो रही है। आज के युवक को यथार्थ की भूमिका का अनुभव करना चाहिए। पहली बात है कि केवल बातों पर

भरोसा नहीं, कार्यक्षमता में विश्वास होना चाहिए। यह मैं अनुभव करता हूं, आज भी हिन्दुस्तानी युवक में बातें ज्यादा हैं, काम कम है। आप दूसरे देशों की तुलना में देखिए। एक व्यक्ति बता रहा था कि अमरीकी लोग सप्ताह में दो दिन तो पूरी छुट्टी मनाते है, किन्तु पांच दिन वे निष्ठापूर्वक तन्मयता से काम करते हैं। जितना काम वे पांच दिन में करते हैं, उतना हिन्दुस्तानी युवक शायद पांच सप्ताह में नही कर सकता। यह कोई सुनी बात नहीं है। जिस व्यक्ति का यह अनुभव था, वह स्वयं बता रहा था। केवल बातों से कुछ नहीं बनता। एक कवि किसी सेठ के पास गया। सेठ की काफी प्रशंसा की। सेठ ने खुश होकर कहा—'मेरे पास रुपए नही हैं। अनाज का भंडार भरा हुआ है। तुम कल आना। मैं तुम्हें अन्न भंडार में से कुछ अनाज दे दूंगा।' कवि भी प्रसन्न होकर चला गया। दूसरे दिन सवेरे-सवेरे कवि सेठ के घर आया। कवि को देखकर सेठ बोला—'इतने सवेरे आ गए? कैसे आए?' कवि ने कहा—'आपने कल कहा था कि अभी मेरे पास कुछ नहीं है। कल आना, मैं अन्न भण्डार से अनाज दूंगा। इसीलिए आया हूं।' सेठ बोला—'अच्छे समझदार हुए तुम, अच्छे कवि बने। अनाज कहां है?' कवि ने कहा—'आपने ही तो कहा था कि आज नही, कल दूंगा।' सेठ बोला—'इतना भी नही समझ सके। तुमने मुझे बातों से प्रसन्न किया था और मैंने भी तुम्हें बातों से प्रसन्न कर दिया। दोनों ओर से समान बात ही है। तुमने मुझे दिया क्या था, केवल बातों से ही तो प्रसन्न किया था। मैंने भी तुम्हें बातों से राजी किया। चले जाओ।'

आप निश्चित मानिए कि केवल बातों से कुछ भी नही बनता। बात में आप किसी दूसरे को राजी कर सकते हैं। बातों से आपको हम राजी कर सकते हैं और आप हमें राजी कर सकते हैं। कोरी बातें ही बातें चलेंगी, क्रियान्विति नहीं होगी, कोई कार्य नहीं होगा तो कुछ भी नहीं बनेगा। हमारी शक्ति का उपयोग बहुत कम होता है। वास्तव में ही कम होता है। आज के युवक में कहां है अध्ययन? मैं मानता हूं कि क्रियान्विति

सकता है ज्ञान के आधार पर, जब कर्म का योग मिलता है। हमारा कर्म इसीलिए विकसित नहीं हो रहा है कि हमारे ज्ञान में गहराई नहीं है। यदि ज्ञान मे गहराई हो तो कर्म को विकसित होने का मौका मिलेगा।

मैं एक बात आपसे कहना चाहता हूं कि युवक को अध्ययन की दिशा में आगे बढ़ना चाहिए। और अध्ययन भी वैसा अध्ययन जो शतशाखी बन सके। यानी बीज होना चाहिए, फल नहीं। हम सीधा फल चाहते हैं। हर आदमी यह चाहता है कि मैं बाजार में जाऊं, आमले आऊं, केला ले आऊं, अमरूद ले आऊं। यह मनोवृत्ति है, किन्तु यदि सबकी मनोवृत्ति ऐसी हो जाए तो कहां से आम आयेगा, कहां से केला आएगा और कहां से अमरूद? कुछ लोग तो ऐसे होने चाहिए जो आम को पैदा करें, केले को पैदा करें, अंगूर को पैदा करें। बीज बोएं और उन्हें पैदा करें। अगर पैदा करने वाले, बोने वाले नहीं हैं तो फल किसी के हाथ नहीं लग सकता। मैं मानता हूं कि दोनों प्रकार के लोग दुनिया में होते हैं—पैदा करने वाले और सीधे खाने वाले। किन्तु युवक को उस श्रेणी का अंग होना चाहिए जो पैदा करने वाला हो, न कि सीधा खाने वाला। उसे पैदा करने वाला होना चाहिए, उसे किसान बनना चाहिए, उसे बीज बोने वाला बनना चाहिए, बीज की बुआई करे। फल को तैयार करे। यह काम हो सकता है अध्ययन के द्वारा। उस प्रकार का अध्ययन करें कि जिस अध्ययन के द्वारा अनेक फल पैदा हों, जो दूसरों के लिए काम आ सके। यह हो सकता है गम्भीर ग्रन्थों के अध्ययन से, आप जैन-दर्शन को पढ़िए। वह आपका अपना दर्शन है, आपका अपना धर्म है, आपकी अपनी विचारधारा है। आपको यह पैतृक परम्परा से मिला है। मैं यह नहीं कहता कि जो पैतृक परम्परा से प्राप्त है इसलिए उसे आप पढ़िये। किन्तु मैं यह मानता हूं कि तत्त्व का चिन्तन जितनी गम्भीरता के साथ जैन दर्शन में हुआ है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। भगवती सूत्र इसका ज्वलन्त प्रमाण है। मैं जैन हूं इसलिए यह नहीं कह रहा हूं, किन्तु सारे दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि एक भगवतीसूत्र में जितना तात्त्विक चिन्तन हुआ है उतना

किसी भी भारतीय ग्रन्थ में नहीं मिलेगा। इतनी सम्पत्ति है आपके पास, इतना बड़ा महाग्रंथ है आपके घर में, आपके दर्शन में, फिर भी आप उससे अपरिचित हैं। आप उसके परिचय में नहीं आते, उसके सम्पर्क में नहीं आते और कभी उसे गहराई से जानने का प्रयत्न नहीं करते, उस स्थिति में आप उससे लाभान्वित कैसे हो सकते है? आज हमारे बहुत सारे युवक व्यापक सम्पर्क में जाते है। एक भाई दो-चार दिन पहले बता रहा था कि मैं लन्दन में हूं। अमरीका जाता हूं। मुझसे लोग पूछते हैं कि, भाई! जैन धर्म क्या है? मैं शर्मिन्दा हो जाता हूं। और क्या करूं? पास मे कुछ भी नही। जैन हूं। नाम के पीछे जैन लिखता हूं, किन्तु जैन धर्म के बारे में मैं कुछ नहीं जानता, और दूसरे लोग देखते है कि जैन हैं तो जैन धर्म के बारे में तो जानता ही होगा। एक युवक ने बताया कि जब वह जर्मनी गया तब उसे वहां एक प्रोफेसर मिला, वह जैन धर्म का गम्भीर अध्येता था। वह युवक को अपने घर ले गया। उसने अपनी लाइब्रेरी दिखाई। लाइब्रेरी देखकर वह अवाक् रह गया। जैन धर्म की हजारों पुस्तकें वहां थीं। उसने जैन धर्म की चर्चा शुरू की तो युवक खिसिया गया। उसे लगा कि यदि जमीन में कोई गड्ढा हो तो वह उसमें नीचे चला जाए। वह शर्मिन्दा हो गया। उसने सोचा—यह विदेशी तो मुझसे जैन धर्म की बड़ी-बड़ी बातें पूछने लगा है, मैं तो क-ख-ग भी नहीं जानता। इन बातों को मैं समझ भी कैसे सकता हूं? उस युवक ने मुझसे कहा—'उसी दिन से मैंने मन-ही-मन यह संकल्प कर लिया कि मुझे जैन दर्शन का अध्ययन करना है अन्यथा मुझे अन्यत्र लज्जित होना पड़ेगा।' तो इन सारी स्थितियों को ध्यान में रखकर आप एक मानसिक संकल्प लें, और विशेषतः वे युवक, जिनमें क्षमता है, जिनमें अर्हता है, जो कुछ कर सकते हैं, वे ऐसा संकल्प करें कि हम चतुर्वर्षीय या पंचवर्षीय ऐसा कार्यक्रम निर्धारित करें, ऐसी योजना बनाएं कि पांच वर्ष के बाद ऐसा लगे कि हमारे युवकों में अनेक ऐसे प्रवक्ता हैं जो जैन धर्म का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं, और जैन धर्म के बारे में बहुत कुछ दूसरों को दे सकते हैं, समझ सकते हैं। मैं मानता हूं कि ऐसी स्थिति का निर्माण हो तो युवक परिषद्

का पहला प्रयोजन सफल होगा। दिगम्बर समाज में एक ऐसा आन्दोलन चला था आज से पचास-साठ साल पहले। गोपालदास वरैया जो गुरु माने जाते थे, उन्होंने एक क्रान्ति शुरू की थी और विद्वानों का निर्माण करना अपना ध्येय बनाया था। बहुत सफल हुआ। आज मैं देखता हूं कि दिगम्बर समाज में सैकड़ों-सैकड़ों व्यक्ति जैन दर्शन के प्रोफेसर है, प्राध्यापक हैं और बड़े-बड़े विद्वान हैं। अभी हमारे समाज में इस बात की बहुत बडी कमी है। सब व्यापारी हैं। सारे व्यक्ति व्यापार की बात सोचते हैं। हर आदमी यह सोचता है कि मेरा एक भाई एक साल में लाख रुपया कमाता है और मैं अगर इस प्रोफेसरी या इस धन्धे में चला गया तो मुझे मिलेगा क्या—आठ सौ, हज़ार रुपया महीना। उधर भाई साल में लाखों रुपया कमाता है। ये लाखों रुपया आंखों में अटक जाते हैं और विद्या की जिज्ञासा भटक जाती है। बड़ी कठिनाई है। अगर समाज में सब लोग पैसे को ही देखने लग जाएं और पैसा ही सबका दर्शन बन जाए तो सारे दर्शन की समाप्ति हो जाएगी। फिर दर्शन नही मिलेगा आपको। और दर्शन नहीं मिलेगा तो फिर पैसे का भी दर्शन बंद हो जाएगा। पैसे का दर्शन भी उन लोगों के आधार पर हो रहा है जो दर्शन में गहरे जा रहे हैं—चाहे अर्थशास्त्र के दर्शन में जा रहे हैं, या चाहे दूसरे विकास के दर्शन में जा रहे हैं। उनके आधार पर पैसे का दर्शन हो रहा है। तो इस स्थिति में मैंने आपके सामने एक बात प्रस्तुत की। आपमें से कुछ लोग जिनमें प्रतिभा, क्षमता और अर्हता हो वे इस प्रकार का संकल्प करें और युवक परिषद् में इस प्रकार का दीर्घकालीन कार्यक्रम बनाया जाए जिसके आधार पर मैं पांच साल बाद फिर इस विषय पर चर्चा कर सकूं और यह जान सकूं कि हमारे सामने, हमारे समाज के तेरापंथ युवक परिषद् के माध्यम से पचास विद्वान तैयार हुए हैं, जिनका हम जहां चाहें वहां उपयोग कर सकते हैं। मैं समझता हूं कि इस स्थिति का निर्माण होना आवश्यक है। आप इस बात पर और गहराई से विचार करें और उसे क्रियान्वित करने का प्रयत्न करें।[1]

१. १२ अक्तूबर, १९७३ को हिसार में अखिल भारतीय तेरापंथ युवक परिषद् के सातवें अधिवेशन में प्रदत्त उद्घाटन-भाषण।

दिशाहीन पीढ़ी : नई या पुरानी ?

आदमी अपूर्ण हैं। जो अपूर्ण होता हैं वह हमेशा दूसरों का दोष देखता है। अपूर्णता का लक्षण ही यह है कि दूसरों का दोष देखना। पूर्ण आदमी कभी दूसरों का दोष नहीं देखता। आदमी पूर्ण कब होता है यह पता नहीं। इस सृष्टि का ऐसा नियम बना हुआ है कि यहां हर चीज अपूर्ण होने के कारण मनुष्य सारी जिम्मेदारी को अपने पर लेना नही चाहता। और जो जिम्मेदारी को अपने पर लेना नही चाहता उसके लिए यह जरूरी है कि वह दूसरे पर दोष मढ़े। पुराने जमाने की एक कहानी है। एक राज्य था पोपाबाई का। कहा जाता है कि वहां अचानक ही एक मकान गिर गया। नया बना था, फिर भी गिर गया। पोपाबाई के पास शिकायत गयी। उसने कारीगर को बुलाकर कहा—'अभी तो तुमने मकान बनाया और अभी गिर गया। सारा दोष तेरा है।' उसने कहा—'मेरा दोष नहीं है।' पोपाबाई ने पूछा—'तो किसका दोष है ?' उसने कहा—'जो चूना आ रहा था वह गीला ज्यादा था, ठीक नहीं था। इसमें चूने वाला दोषी है।'

पोपाबाई बोली—'अच्छा, तो उसे बुलाओ।' वह आया। उसने कहा—'भाई, यह मकान इसलिए गिर पड़ा कि चूना ज्यादा गीला था। यह तेरा दोष है।' वह बोला—'महाराज ! मेरा दोष नहीं है।' 'तो फिर किसका दोष है ?' पोपाबाई ने पूछा। उसने कहा—'चूने में जो पानी डाल रहा था उसने पानी ज्यादा डाल दिया। चूना ज्यादा गीला हो गया। मैं क्या करूं ?' पानी वाले को बुलाकर कहा—'तूने पानी ज्यादा डाल दिया, यह

तेरा दोष है। तुझे मालूम नहीं, मकान गिर गया और आदमी मर गए।' उसने कहा—'दोष मेरा नहीं है।' पोपाबाई ने पूछा—'तो फिर किसका दोष है?' उसने कहा—'मैं जब पानी डाल रहा था, तब बाजे बज रहे थे, उस समय इतने अच्छे बाजे बज रहे थे कि मैं उधर देखने लग गया और पानी ज्यादा गिर गया। दोष बाजे बजाने वाले का है।'

अब आप देखिए कि इस शृंखला का अन्त कहां होगा? कहीं अन्त होने वाला नहीं है। एक दूसरे पर दोष मढ़ता चला जा रहा है। कोई अपना दोष स्वीकार करना नहीं चाहता। कोई जिम्मेदारी को, दायित्व को अपने ऊपर लेना नहीं चाहता। हर व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को दोषी बनाकर अपने मन में सन्तोष का अनुभव करता है। आज चाहे अध्यापक हो, चाहे धर्मगुरु हो, चाहे माता-पिता हों, चाहे कोई हो, कोई भी दोषमुक्त है ऐसा मुझे नहीं लगता। चारों ओर से दोष आ रहा है। मूलतः ही दिशा की भ्रान्ति मन में हो रही है। मैं कैसे कहूं कि नई पीढ़ी दिशाहीन है या पुरानी दिशाहीन है। क्योंकि यह पहले निश्चय करना भी कठिन है कि आखिर दिशा है क्या? दिशा का बोध हो तो फिर हीनता और उत्कर्ष की बात मैं आपके सामने कर सकता हूं। प्रश्न उलझा हुआ है—दिशाहीन कौन? दिशा आखिर है क्या? यह बहुत जटिलता है। दिशा के बारे में कोई एक मत नहीं है। जो हमारे पुराने मूल्य थे वे आज बदलते जा रहे हैं, और बदलना स्वाभाविक बात है। क्योंकि मूल्य हमेशा परिवर्तनशील होते हैं। किन्तु उन बदलते हुए मूल्यों के बीच में भी कुछ मूल्य ऐसे थे जो नहीं बदलने चाहिए। आज हमने मान लिया कि सारे मूल्य बदले जा सकते हैं तो इस बदलने के प्रसंग में जो नहीं बदलने के मूल्य थे उनको बदला जा रहा है और जिन्हें बदलना था वे शायद नहीं बदले जा रहे हैं, रखे जा रहे हैं।

यह दो तरफ की कठिनाई हमारे सामने है। पुरानी पीढ़ी के लोगों के मन में धन का इतना अतिरिक्त मूल्य है कि आज शायद वर्तमान पीढ़ी के मन में नहीं है। धन का मूल्य है, इसे मैं अस्वीकार नहीं करता। क्योंकि

समाज के लिए अर्थ का होना अनिवार्य है, जैसा कि साहित्य में लिखा है—'अर्थमूलो हि धर्मः।' समाज का सारा धर्म, न कि अध्यात्म का धर्म। किन्तु समाज का सारा धर्म और काम—ये दोनों अर्थ के सहारे चलते हैं, अर्थ नहीं होता तो कुछ भी नहीं हो सकता। भला दरिद्र देश क्या कर सकता है ? आज यदि हिन्दुस्तान में सबसे ज्यादा दोष दिया जाए तो वह दरिद्रता को दिया जा सकता है। मैं मानता हूं कि जो दिशाहीनता हुई है, दिशा का भ्रम हुआ है, वह भी हमारी गरीबी, दरिद्रता के कारण हुआ है। एक संस्कृत कवि ने ठीक ही लिखा था कि—

'हे दारिद्रय ! नमस्तुभ्यं, सिद्धोऽहं त्वत्प्रसादतः।
सर्वानहं च पश्यामि, मां न पश्यति कश्चन।।'

'दरिद्रता ! तुझे नमस्कार। मैं तेरे कारण परमात्मा बन गया। यह कैसे ? परमात्मा सबको देखता है, परमात्मा को कोई नहीं देखता। मैं सबको देखता हूं, मेरी ओर कोई नहीं देखता।'

दरिद्र को कौन देखता है ? उस ओर कोई ध्यान नहीं देता। इस दुनिया में सबसे बड़ी उपेक्षा होती है तो दरिद्र की होती है। सबसे अधिक बिगाड़ होता है तो दरिद्र का होता है। हिन्दुस्तान में अप्रामाणिकता, अनैतिकता और छोटी-छोटी बातों मे विश्वासघात, यह क्यों ? क्या मनुष्य इतना नीचे जा सकता है ? और उस देश का मनुष्य, जो देश अपना गौरव गाने में कभी सुस्ताता नहीं है।

आचार्यश्री बम्बई में थे। नार्वे का एक पर्यटक आया। आचार्यश्री से मिला। उसने कहा कि मैंने सुना था हिन्दुस्तान बहुत बड़ा धार्मिक देश है। यहां अध्यात्म की सरिता बहती है, बहुत ऊंचा ज्ञान है, बहुत ऊंचा दर्शन है। ये सारी बातें मैंने सुनी थीं। यहां बम्बई में आते ही देखा कि तांगेवाले तांगे चलाते हैं, उनमें मरियल घोड़े जोतते हैं और ऊपर दस-बीस आदमी लदकर बैठ जाते हैं। मेरे देश में अगर ऐसा हो तो वह तांगा और तांगा चलाने वाला—दोनों जेल में ही मिलेंगे। जहां इतनी निर्दयता, इतनी

क्रूरता और पशुओं के प्रति कोई ममता नहीं, दया नहीं और फिर वह धार्मिक देश और आध्यात्मिक देश ? नहीं-नहीं, उसे धार्मिक नहीं माना जा सकता।

क्या सचमुच आप अनुभव करते हैं कि हिन्दुस्तान धार्मिक देश है ? मैं तो यह मानता हूं कि आज सबसे पहले कोई क्रांति का क्षेत्र है तो वह धार्मिक क्षेत्र है। धर्म के क्षेत्र में जितना अंधकार आज व्याप्त है उतना शायद किसी भी क्षेत्र में नहीं है। यदि कोई दिशाहीन हुआ है तो वह धर्म हुआ है; न नई पीढ़ी दिशाहीन है और न पुरानी पीढ़ी। यदि नयी पीढ़ी में कोई दोष आया है तो धर्म के कारण आया है, और यदि पुरानी , पीढ़ी में कोई दोष आया है तो धर्म की दिग्भ्रान्ति के कारण आया है। आप देखिए हमारी स्थिति क्या है ? बाप भी मन्दिर मे जाता है, बेटा भी मन्दिर में जाता है। दोनों पूजा करते हैं, आरती उतारते हैं और प्रार्थना करते हैं। साधुओं के स्थान में जाते हैं। धर्म के बड़े-से-बड़े स्थान में जाते है किन्तु उनके आचरण में धर्म का कोई प्रतिबिम्ब नहीं। हमने यह मान लिया कि मन्दिर में जाना, पूजा करना, धर्मशास्त्र का पाठ करना, कुछ बातें कर लेना और धर्म-गुरुओं के पैरों में अपना सिर रख लेना, उनके पास जाकर बैठ जाना, बस यही धर्म है। नैतिक होना धार्मिक के लिए कोई जरूरी नहीं है। धार्मिक होना चाहिए, नैतिक होने की कोई आवश्यकता नहीं; जबकि वास्तव मे होना यह चाहिए था कि मनुष्य को पहले नैतिक होना चाहिए। कोई धार्मिक बन सके या नहीं बन सके, यह दूसरी बात है; पहली बात नहीं है। पहली बात है नैतिक होना। और नैतिक होने के बाद दूसरी भूमिका प्राप्त होती है धार्मिक होने की। पूजा का अधिकार और आरती उतारने का अधिकार उस व्यक्ति को मिलना चाहिए जो नैतिक है और प्रामाणिक है। जिसके जीवन में नैतिकता नहीं, सच्चाई नहीं, ईमानदारी नहीं, प्रामाणिकता नहीं, क्या वह आदमी भगवान् का भक्त हो सकता है ? क्या वह वीतराग की उपासना कर सकता है ? बड़ी हैरानी है। मैं इस बात को आज तक समझ ही नहीं पाया कि क्या ऐसा हो सकता है ? और

अगर ऐसा हो सकता है तो मैं मानता हूं कि उस धर्म से बढ़कर दुनिया मे कोई धोखा नहीं होगा। और इतना बड़ा धोखा जहां चल रहा हो वहां हम यह आशा करें कि हमारी पीढ़ी दिग्भ्रान्त न हो, उसकी दिशा भ्रष्ट न हो, कभी सोचा ही नहीं जा सकता।

एक गधा जा रहा था। अंधेरा हो गया। वह रास्ता देख नहीं पा रहा था। एक वृक्ष पर उल्लू बैठा था। उसने कहा—'तुम भटक रहे हो ?' गधे ने कहा—'तुम मार्ग बता दो।' उल्लू ने कहा—'मैं बता सकता हूं।' वह गधे की पीठ पर आकर बैठ गया। दोनों चले जा रहे हैं, चले जा रहे हैं। प्रातःकाल होने को आया। जैसे ही प्रकाश की किरण फूटी, उल्लू को दीखना बन्द हो गया। अब वह गधे का मार्गदर्शन कैसे कर सकता ? फिर भी वह गधे की पीठ छोड़ने को तैयार नहीं हुआ। कैसे छोड़ता ? कुर्सी मिल गयी थी। उसे कैसे छोड़ता ? अब वह स्वयं भ्रान्त हो गया था। वह दूसरे का मार्गदर्शन कैसे करता ? उसे स्वयं आत्म-भ्रान्ति हो रही थी। मोहवश व्यक्ति आत्मभ्रान्ति मे जीता है। उल्लू ने गधे की पीठ नहीं छोड़ी। गधा चलता गया। उल्लू मार्गदर्शक बना था तो मार्गदर्शन देना भी आवश्यक था। गधा आगे चला। उल्लू ने कहा—'इधर नहीं, बायीं ओर चलो। इधर गड्ढा है।' गधा देख सकता था। किन्तु उसने मान लिया कि मेरा मार्गदर्शक तो यह है, मुझे देखने की कोई जरूरत नहीं है। गधा उल्लू के निर्देशानुसार बायीं ओर मुड़ा। बायीं ओर गहरी नदी थी। वह नदी में बह गया। आप देखिए, हमने मान लिया कि धर्म से अधिक हमारा कोई मार्गदर्शन नहीं कर सकता। धर्मगुरु से अधिक हमारा कोई मार्गदर्शक नहीं हो सकता। यह तो मान लिया, किन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं कि देखना ही बन्द कर दें। आज तो मुझे ऐसा लगता है कि धर्म करने वाले लोग शायद स्वयं देखने का प्रयत्न नहीं करते, क्योंकि उन्होंने यह समझ लिया कि इस मामले में हमारी बुद्धि बिक चुकी है, समाप्त हो चुकी है और जो मिलता है उसी से हम चलें। यदि यह नहीं होता तो आज सबसे पहले धर्म के बारे में क्रान्ति होती।

श्रद्धा को मैं बहुत अच्छा मानता हूं। किन्तु मैं श्रद्धा को अभिशाप भी मानता हूं। हम मध्य-युग के साहित्य पर दृष्टिपात करें। वह साहित्य चाहे दर्शन का है, चाहे धर्म का है, चाहे राजनीति का है, चाहे अर्थशास्त्र का है, चाहे आयुर्वेद का है, उसमें मौलिकता कम है, अनुकरण अधिक है। साहित्य की ये चार-पांच मुख्य शाखाएं हैं। उनको देखता हूं तो मुझे ऐसा लगता है जो चरक ने लिखा या सुश्रुत ने लिखा, बाणभट्ट ने लिखा; वही बस अन्तिम हो गया। आज यदि कोई लिखेगा तो वह सबसे पहले इस बात को सामने रखकर लिखेगा कि जो चरक ने लिखा उससे आगे मुझे नहीं बढ़ना है, उस सीमा में, उस परिधि के भीतर-भीतर सोचना है। तो परिणाम यह आया कि जो था वह पुनरावर्तित होता गया। आप दर्शनशास्त्र के ग्रन्थ को देखिए, एक आचार्य ने दर्शन का एक महान् ग्रंथ लिखा। अब दूसरा आएगा, तीसरा आएगा, चौथा आएगा तो कोई भी नई बात भाग्य से ही आपको मिलेगी। गुजरात में बड़ौदा युनिवर्सिटी में हम गए। वहां शोध का काम चल रहा था। वहां 'काव्यप्रकाश' का पाठ-संशोधन हो रहा था। इस चर्चा में एक विद्वान् ने बताया कि एक दूसरा ग्रंथ था। उसके बारे में हमने काफी बातें सुनी थीं। फिर पाठ-संशोधन के लिए सामने उसे रखा, तो हमने देखा कि उस ग्रन्थ का इतना ही मूल्य है कि उसके द्वारा पाठ-संशोधन किया जा सकता है, इसके अतिरिक्त कोई मूल्य नहीं। ग्रन्थ दूसरा, निर्माता दूसरा, लेखक दूसरा, किन्तु उसका मूल्य इतना ही है कि यह पाठ-संशोधन के लिए काम आ सकता है। इसमें और कोई नई बात नहीं। एक नहीं, आप हजारों-हजारों ग्रन्थों को उठाकर देखें और अध्ययन करें तो आपको पता चलेगा कि पृष्ठ के पृष्ठ वे ही हैं जो पुराने ग्रन्थों में थे। एक के दूसरे में, दूसरे के तीसरे में, इस तरह आप चलते चले जाइए। विचार का इतना कम विकास हिन्दुस्तान में क्यों हुआ? इसका मूल कारण हमने मान लिया कि महर्षि चरक ने जो लिख दिया उससे अधिक हम क्या लिखें? और हमारे लोगों का यह तर्क भी होता है। हमारे सामने भी यह तर्क आता है। बहुत बार लोग कहते हैं—आज आप नई बात कर रहे हैं, क्या आचार्य भिक्षु उस

बात को नहीं सोच सकते थे ? क्या अमुक आचार्य इस बात को नहीं सोच सकते थे ? मैं तो उनको प्रायः यह कहता हूं—'सोच तो सकते थे पर बाप की जो ऊंचाई होती है वह बेटे को अनायास मिल जाती है। वह उस पर खड़ा होकर जो देखता है, उतनी दूर आप नहीं देख पाता। बाप की ऊंचाई बेटे को अनायास प्राप्त हो जाती है। उतनी ऊंचाई तो उसके लिए स्वाभाविक है। अब बेटा उसके कंधे पर चढ़कर आगे की बात देख सकता है लेकिन बाप नहीं देख सकता। हमने तो यह मान लिया कि जो पहला होता है वह तो पूर्ण होता है और पीछे सारी की सारी पीढ़ी जो होती है वह अपूर्ण होती है। इस विचार ने हिन्दुस्तान को एक अन्धकार में ढकेल दिया। आज भी हम सही सोच नहीं पा रहे हैं। आज यदि हिन्दुस्तान में किसी क्रान्ति की आवश्यकता है तो वह यह कि हम फिर से विचार करना सीखें। आज हमें सचमुच सीखना होगा, हम चिन्तन करना नहीं जानते, विचार करना नहीं जानते। हम उदाहरण देना जानते हैं या बातों को दोहराना जानते हैं। पुनरावृत्ति और अनुकरण इन दो बातों में तो हम निपुण हैं किन्तु मौलिक विचार में हम निपुण नहीं हैं। पी-एच० डी० के लिए जो थीसिस लिखे जाते हैं, उन महा निबन्धों को, थीसिसों को जब देखता हूं तो मुझे ऐसा लगता है कि उन्हे महा निब्रन्ध कहा जाना चाहिए या कोरा ग्रंथों का एक संकलन का पुलिन्दा कहा जाना चाहिए। ऐसे पुलिन्दे होते हैं कि इधर से लिया, उधर से लिया और थीसिस तैयार। एक पी-एच० डी० के लिए एक निबंध लिखा। हमने देखा। देखने के बाद आश्चर्य हुआ कि कुछ आचार्यश्री की पुस्तकों से, कुछ मेरी पुस्तकों से, कुछ मेरे साथी मुनियों की पुस्तकों से लेकर एक थीसिस लिख दिया गया है। लगभग बारह आना तो मेरा था और चार आना औरों का था। पी-एच० डी० के लिए महा निबन्ध तैयार हो गया और उसे 'डॉक्टरेट' की उपाधि मिल गई। बड़ा आश्चर्य होता है। सोचता हूं कि एक लोटा दूध है। हो सकता है कि उसमें एक-दो तोला, चार तोला पानी भी मिला दिया हो। यह संभव है। किन्तु एक लोटा दूध और उसमें आधा गिलास पानी किसी ने मिला दिया। फिर

तीसरा आया और उसने आधा गिलास पानी और मिला दिया। पानी मिलाते चले गए। अन्त में केवल पानी ही पानी दीखने लगा। लगभग ऐसी ही हमारे विचारों की स्थिति हो रही है। एक व्यक्ति ने कुछ लिखा। दूसरा व्यक्ति उसमें से कुछ लेता है और पास में से कुछ जोड़कर एक नयी चीज तैयार कर देता है। फिर तीसरा आता है, इसका सहारा लेता है और थोड़ा-सा जोड़कर और कर लेता है। आखिर में दूध सारा चला जाता है, केवल पानी बच जाता है।

इस स्थिति में आज सबसे अधिक यदि हम दिशा-बोध की बात करें तो हमें विचार के दिशा-बोध की बात करनी होगी और चिन्तन के दिशा-बोध की बात करनी होगी। आज हमारा चिन्तन मौलिक और स्वतन्त्र नहीं है। चिन्तन का भी आयात हो रहा है। कविता का आयात होता है। उपन्यास का भी आयात हो रहा है। बड़े आश्चर्य की बात है।

मैं एक बार दिल्ली में था। एक व्यक्ति मेरे पास आया। वह बोला—'आज मैंने एक अच्छे पत्र में एक उपन्यास पढ़ा तो मुझे लगा कि यह तो मैंने इंगलिश में कभी पढ़ा था। फिर मैंने मिलान किया, तो लगा कि मूल उपन्यास वही है। उसका केवल हिन्दी में अनुवाद किया हुआ है और अपने नाम से प्रकाशित करवाया है। लेखक भी कोई छोटा-मोटा नहीं था, हिन्दुस्तान में हिन्दी का माना हुआ लेखक। प्रसिद्ध लेखक और प्रसिद्ध पत्र। प्रसिद्ध लेखक ने लिखा और प्रसिद्ध पत्र में प्रकाशित हुआ और था केवल अनुवाद। लेखक को पत्र लिखा। प्रत्युत्तर आया कि आप मेहरबानी रखें, मेरी भूल हो गयी, कृपा करें और इस बात को प्रकाश में न लाएं।' आप देखिएगा, हमारे सुप्रसिद्ध कवि, सुप्रसिद्ध लेखक और सुप्रसिद्ध विचारक इस प्रकार साहित्य की चोरी करते हैं, दूसरों की बात चुराते हैं और अपने नाम से प्रस्तुत करते है। क्या हम समझें कि हमारे चिन्तन का कोई स्वर है ही नहीं? आज विचार के पक्ष में दिशा-बोध आवश्यक है।

श्रद्धा का क्षेत्र दूसरा है। मैं मानता हूं कि श्रद्धा बहुत जरूरी है।

श्रद्धा आवश्यक है अपनी संकल्प की पुष्टि के लिए। आज सचमुच हमने संकल्प खो दिया है। एक समय था, हिन्दुस्तान के लोगों में इतना दृढ़ संकल्प था कि इस संकल्प के सहारे हमारी साधना चलती थी और ध्यान के बल पर हम इतनी गहराई में जाते थे और ऐसे तथ्यों की खोज करते थे जिन तथ्यों की खोज आज बड़े-बड़े यन्त्रों द्वारा भी अभी संभव नहीं हो रही है। आज आप हमारे प्राचीन साहित्य को देखिए। ऐसे तथ्यों की बात उसमें निहित है जो आज वैज्ञानिकों को भी भ्रम में डाल देती है। वैज्ञानिकों ने उन पर काम किया है और लाभ उठाया है। जर्मनी के लोग आज भारतीय साहित्य के लिए कितने लालायित हैं, उनकी लायब्रेरियों को आप देखिए। वे भारत के विभिन्न धर्मों के प्राचीन साहित्य से भरी पड़ी हैं। प्राचीन साहित्य विचारों की गहराई के आकर हैं। वे अनुभूत तथ्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। वर्तमान में चिन्तन की धारा अवरुद्ध हो गई। इन हजार वर्षों में चिन्तन का विशेष विकास नहीं हुआ।

कोई भी राजनेता क्रान्ति नहीं ला सकता। कोई भी प्रणाली क्रान्ति नहीं ला सकती और यदि वह क्रान्ति आएगी तो क्रान्ति कोई परिणाम-दायी नहीं होगी, लाभदायी नहीं होगी। कुछ देशों में क्रान्ति हुई थी किन्तु वह टिक नहीं पायी, क्रान्ति का कोई अर्थ नहीं हुआ। क्रान्ति तभी अर्थ-वान् बनती है जबकि उसके पीछे चिन्तन और दीर्घ चिन्तन होता है। माओ ने जो चीन में सबसे बड़ी बात की क्रान्ति की, मैं मानता हूं कि वही बात नहीं है; वह तो क्रिया की प्रतिक्रिया थी। सबसे बड़ी बात थी तो यह थी कि उन्होंने जो एक पुस्तक लिखी और उस पुस्तक में चीनियों के दृष्टि-कोण को बदलने का प्रयत्न किया। हम चिन्तन कैसे करें—उसकी प्रणाली प्रस्तुत की और उसमें यह बताया कि हमें किस प्रकार सोचना चाहिए। ठीक मुझे एक बात याद आती है। कुत्ते के सामने पत्थर फेंकते हैं तो कुत्ता पत्थर को चाटने लग जाता है। सिंह के सामने बाण फेंकिए या कुछ भी फेंकें, वह गोली पर ध्यान नहीं देगा, बाण पर ध्यान नहीं देगा, वह देखेगा कि गोली कहां से आयी, बाण कहां से आया ? वहां लपकेगा, उस पर

आक्रमण करेगा। एक होती है वर्तमान काल की दृष्टि जो वर्तमान को पकड़ लेती है और एक होती है हमारी दीर्घकालीन दृष्टि, दूरगामी दृष्टि, मूल को पकड़ने वाली दृष्टि। ठीक इसी भाषा में जैसे माओ ने सोचा कि एक वर्तमान दृष्टि से समाधान देने का हमारा प्रयत्न होता है और एक भूल को सुधारने का प्रयत्न होता है, जड़ की बात को पकड़ने का प्रयत्न होता है। तो सचमुच उन्होंने जड़ की बात को पकड़ने की दिशा दी। आज वहां काफी परिवर्तन आ गया है। मुझे ऐसा लग रहा है कि आज हिन्दुस्तान में न कोई ऐसा दार्शनिक दीख रहा है और न कोई ऐसा विचारक ही दीख रहा है और न कोई ऐसा राजनेता ही दीख रहा है जो मूल तक पहुंचने की दृष्टि दे। पत्तों को सींचने का प्रयत्न हो रहा है। फूलों को सींचने का प्रयत्न हो रहा है। शाखाओं को सींचने का प्रयत्न हो रहा है। किन्तु आप जानते हैं कि मूल को नहीं सींचा जाता तब न पत्तों को सींचने का अर्थ होता है, न फूलों को सींचने का अर्थ होता है और न शाखाओं को सींचने का अर्थ होता है। ये सारे सूख जाते हैं अगर मूल को नहीं सींचा जाता है तो। हिन्दुस्तान में भी ऐसा ही कुछ हो रहा है। मैं देखता हूं कि दिशा की बात सारे सन्दर्भ में की जा सकती है। समाज का यह सारा सन्दर्भ है। सन्दर्भ से एक तरफ होकर कोई बात नहीं सोची जा सकती। हर वस्तु की व्याख्या के लिए कम से कम द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ये चार आयाम होने चाहिए। कम से कम ये चार आयाम। द्रव्य—वस्तु क्या है? क्षेत्र क्या है? काल क्या है? और अवस्था क्या है? ये चार आयाम कम से कम होने चाहिए। दिशाहीन चिन्तन की जो स्थिति हमारी बनी है, उस स्थिति के कारण सचमुच दिशा का भटकाव हुआ है; पुरानी पीढ़ी में भी हुआ है, नई में भी हुआ है। किसी को दोष देने की जरूरत नहीं। स्वयं अपने-अपने दोष देखने की जरूरत है। और धर्म का सबसे बड़ा सूत्र है—अपना दोष देखो, दूसरे का दोष मत देखो। अगर इस स्थिति में सोचा जाए तो मैं सोचता हूं कि समस्या का समाधान मिल सकता है और इस स्थिति से हटकर सोचेंगे तो एक-दूसरे को दोष देते रहेंगे, दिशा का भटकाव दोनों

का रहेगा, दोनों एक-दूसरे से कट जाएंगे, परिणाम कुछ नहीं आएगा।

समग्रता के सन्दर्भ में देखें और अपना-अपना दायित्व, अपना-अपना दोष सब अपने पर ओढ़ें तो मुझे विश्वास है कि युवक भी अधिक शक्तिशाली होगा और पुरानी पीढ़ी का व्यक्ति भी अधिक सोचने के लिए बाध्य होगा।[1]

---

१. १३ अक्तूबर, १९७३ को हिसार में तेरापंथ युवक परिषद् के सातवें अधिवेशन में प्रदत्त प्रवचन।

लग गई है। कितना अच्छा हो कि एक गिलास ठंडा पानी मिल जाए। देखता है कि एक गिलास पानी आ गया। वह आश्चर्य में पड़ गया। उसने सोचा, यह कैसे हुआ ? मैंने तो केवल मन में सोचा था, पानी लाने के लिए किसी कुएं या तालाब पर नहीं गया था, फिर यह पानी का गिलास कहां से आया ? समझ नहीं सका। किन्तु दुनिया में बहुत-सारी बातें ऐसी होती हैं जो समझ में नहीं आतीं, फिर भी हो जाती हैं। उसने पानी पी लिया। थोड़ी देर बैठा रहा। अब भूख लगी। उसने सोचा, कितना अच्छा हो कि एक थाली भोजन आ जाए। उसके सोचते ही भोजन थाली में परोसकर आ गया। फिर उसने सोचा, आज क्या हो रहा है ? कहीं स्वप्न तो नहीं ले रहा हूं ? सो तो नहीं रहा हूं ? हो क्या रहा है ? उसने भोजन भी कर लिया। फिर सोचा, ठंडी हवा आ रही है, कितना अच्छा हो कि सोने के लिए एक पलंग मिल जाए। सोचते ही पलंग तैयार हो गया। वह सो गया। नींद आ गयी। सोने के बाद उठा तो सोचने लगा कि यह क्या तमाशा हो रहा है ? मन में आया कि कहीं भूत तो नहीं है ? यह सोचते ही भूत तैयार खड़ा है। फिर सोचने लगा कि कहीं ऐसा न हो कि भूत मुझे खा जाए। तो वह भी तैयार। यह सोचते ही भूत ने आदमी को समाप्त कर दिया।

आप देखिए कि आदमी को जिसने पानी दिया, भोजन दिया, पलंग तक दिया, जो चाहा वह दिया, भूत भी दिया और उसने मार भी दिया। मैं देखता हूं कि बुद्धि भी उस कल्पवृक्ष के समान है जिससे आप चाहें तो पानी, रोटी या पलंग ले सकते हैं और चाहें तो भूत और मौत भी ले सकते हैं। दोनों बातें ले सकते हैं।

दुनिया के विकास में या समाज के विकास में हमारी बुद्धि का जितना योग है, उससे अधिक योग है हमारे अन्तःकरण के ज्ञान का। आज तक जितना विकास हुआ है, हम सोचते हैं कि बुद्धि के द्वारा हुआ है, किन्तु मैं इस बात में विश्वास नहीं करता। बुद्धि के द्वारा विकास नहीं होता, ऐसा मैं नहीं कहना चाहता। बुद्धि के द्वारा विकास होता है। किन्तु यदि आप थोड़ा

गहरे में जाएंगे तो आपको पता चलेगा कि जितना हमारा नया ज्ञान बढ़ा है, वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं, वे आन्तरिक ज्ञान के द्वारा हुए हैं। उन क्षणों मे हुए हैं, जब आदमी ने बुद्धि का उपयोग नहीं किया। आन्तरिक ज्ञान की जो शक्ति है, उन क्षणो मे, जब हम तनाव में नही होते। हम तनाव से घिरे रहते है और तनाव में बुद्धि कभी अच्छा काम नही कर सकती। जो हमारे विश्राम के क्षण होते हैं, शान्ति के क्षण होते है, एकान्त के क्षण होते हैं और हम अन्तर की गहराइयों में जाते हैं, अध्यात्म में डुबकियां लगाते है तो उस अध्यात्म मे ऐसी नयी स्फुरणा, नया उन्मेप और नई रश्मियां हमारे सामने आती है तो दुनिया के मंच पर कोई बड़ी वात आ जाती है। दुनिया में जितने भी वैज्ञानिक हुए हैं, उन व्यक्तियों ने जब-जब प्रयत्न किया है, वे कोई नयी वात नहीं पा सके हैं। जैसे ही प्रयत्न छोड़ा है, शान्ति मे रहे हैं, उस समय एक नयी स्फुरणा प्राप्त हो गयी है। आप स्वयं अनुभव करेंगे कि कभी-कभी बहुत सोचने पर कुछ भी नहीं मिलता है, प्रयत्न को छोड़ दिया तो अपने आप ही समाधान हो गया। या सोते-सोते अकस्मात् कोई घटना घटित हुई और समाधान निकल आता है। अकस्मात् का अर्थ क्या ? यही तो है कि जो आपके अन्त:करण में शक्तियां थी, वे काम कर रही थीं और अकस्मात् एक विस्फोट जैसा हो गया। मैं स्वयं अपने अनुभव की वात जानता हूं। जब कोई वड़ा प्रश्न आता है, थोड़ा-सा भी बुद्धि पर दवाव देने का अवसर आता है, तत्काल उस विषय को छोड़ देता हूं। दो-चार दिन उस विषय का कोई चिन्तन नहीं करता। ध्यान ही नही देता। पाच-दस दिनों के बाद ऐसा लगता है कि मानो प्रश्न तो बहुत साधारण था किन्तु अनावश्यक ही उलझ गए थे। वास्तव में हमारी शक्ति का मूल स्रोत बुद्धि नहीं है। हमारी शक्ति का मूल स्रोत है हमारा अन्त:करण, अध्यात्म। आत्मा की शक्ति और चैतन्य की शक्ति जो बुद्धि से भी परे है। जो बुद्धि से परे की वात है, उसे हम बुद्धि से जोड़ना चाहते हैं तो वहां हमारी भूल होती है। दो वातें हमारे सामने स्पष्ट हैं—एक बुद्धि और एक बुद्धि से परे का ज्ञान। समाज के विकास

जाती है। धर्म की चर्चाएं भी बौद्धिक स्तर पर की जा रही हैं। यह धर्म-सम्प्रदाय तो खड़ा कर देता है किन्तु धर्म को कभी खड़ा नहीं करता। आज यह साम्प्रदायिक मतभेद क्यों है ? बौद्धिक आधार पर मतभेद चल रहे हैं। एक ही बुद्धि के द्वारा एक बात का समर्थन किया जा रहा है तो दूसरी बुद्धि के द्वारा उस बात का खण्डन किया जा रहा है। यह समर्थन और खण्डन, यह स्थापना और उत्थापना, यह निर्माण और विघट्टन—ये सारे इसी आधार पर चल रहे हैं तो उधर भी बुद्धि ने अपना एक अखाड़ा जमा रखा है। धर्म में ऐसा होता नहीं और होना भी नहीं चाहिए।

बुद्धि के क्षेत्र में बहुत सावधान रहने की जरूरत है, जहां हम निर्माण की बात सोचते हैं। यह सुख-सुविधा की जितनी भी सामग्री और उपकरण बने हैं, किसी बुद्धिहीन आदमी ने नहीं बनाए हैं। किन्तु उस बुद्धि के पीछे भी एक तत्त्व काम कर रहा है—अन्तर्-ज्ञान का। जिसने मंत्र दिया, रहस्य दिया, वह बुद्धि से भी परे रहा है और कोई आत्मज्ञानी रहा है। इस दृष्टि से देखें तो बुद्धिहीनता अच्छी बात नहीं है, बुरी बात है। बुद्धिमान होना अच्छा भी है और बुरा भी है। किन्तु उससे भी परे की बात है बुद्धि से अतीत होना। यह हमारे धर्म की बात है। आप लोग धर्म की बात सुनने के लिए बैठे हैं। बुद्धि की चर्चा के और भी क्षेत्र है। मैंने बुद्धि से परे की बात बुद्धि के सन्दर्भ में की। मैं बोल रहा हूं तो इसमें भी बुद्धि का योग तो है ही। कुछ तो है ही। अगर वह नहीं होता तो मैं शायद नहीं बोल पाता। किन्तु अगर कोरा बुद्धि का ही योग हो तो मैं भी आपको वही बात कहूंगा, जो आपको तोड़ने वाली भी होगी, जो आपको आगे से अच्छी भी लगेगी, किन्तु पीछे से कैंची का काम करेगी। किन्तु यदि हम बुद्धि को अच्छी तरह समझ लें और उसे एक सेविका या दासी के रूप में काम ले लें तो वह हमारे लिए खतरनाक नहीं बनेगी, कल्याणकारी बन जाएगी।[1]

---

१. १२ अगस्त, १९७३ को हिसार में दिया गया वक्तव्य।

व्यक्ति का समाजीकरण और समाज का व्यक्तीकरण

मुझे इसका गर्व है कि मैंने महावीर की परम नास्तिकता को समझने का प्रयत्न किया है। मैं नहीं समझता कि जो परम नास्तिक नहीं होता, वह आस्तिक कैसे होगा ? जिन लोगों ने अस्ति और नास्ति को तोड़कर देखा है, वे किसी को आस्तिक मानते हैं और किसी को नास्तिक। महावीर सबको जोड़कर देखते थे। उनके दृष्टिकोण में नास्तित्व से शून्य अस्तित्व और अस्तित्व से शून्य नास्तित्व होता ही नहीं। एक बार उनके ज्येष्ठ शिष्य गौतम ने पूछा—'भंते ! आपका अस्तित्व अस्तित्व में परिणत हो रहा है, क्या यह सच है ? आपका नास्तित्व नास्तित्व में परिणत हो रहा है, क्या यह सच है ?' महावीर ने कहा—'यह सत्य है कि मेरा अस्तित्व अस्तित्व में परिणत हो रहा है और यह भी सत्य है कि मेरा नास्तित्व नास्तित्व मे परिणत हो रहा है। अस्तित्व के बिना किसी की सत्ता स्थापित नही होती और नास्तित्व के बिना कोई स्वतंत्र नहीं होता, कोई व्यक्ति नही बन पाता। अस्तित्व समाज है और नास्तित्व व्यक्ति। अस्तित्व और नास्तित्व को तोड़ा नहीं जा सकता तब समाज और व्यक्ति को कैसे विभक्त किया जा सकता है ?' समाज के सन्दर्भ में व्यक्ति और व्यक्ति के सन्दर्भ में समाज का मूल्यांकन किया जा सकता है।

समाजीकरण का सिद्धांत

समाजवाद ने व्यक्ति का समाजीकरण किया है। समाज एक वृहद्

यंत्र है और व्यक्ति उसका एक अंग। अतः समाज-संरचना के पक्ष में व्यक्ति सीमित हो जाता है। सापेक्ष अर्थ में व्यक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं रहता। जिन हाथों मे समाज-व्यवस्था की बागडोर होती है, वे चाहें तो बच्चों को माता-पिता से अलग रख सकते हैं और अनुपयोगी बूढ़ों को अरण्यवास दे सकते हैं या समाप्त कर सकते हैं। वे चाहें तो जनता को संपत्ति का स्वामित्व दे सकते हैं और चाहें तो उसे छीन सकते हैं। समाज का प्रभुत्व भौतिक संपदा पर होता है और उसका क्षेत्र इतना सीमित है कि किसी को भी सार्वभौम स्वतंत्रता नहीं दी जाती।

व्यक्तीकरण का सिद्धान्त

महावीर ने समाज का व्यक्तीकरण किया। उन्होंने कहा—व्यक्ति समाज में जन्म लेता है, समाज में रहता है और समाज की सुविधाओं का उपयोग करता है, फिर भी वह व्यक्ति है। उसका अस्तित्व समाज है और व्यक्तित्व उसका नास्तित्व है। वह अकेला आता है और अकेला चला जाता है। अकेला कर्म करता है और अकेला उसका फल भोगता है। अपना-अपना ज्ञान होता है और अपना-अपना संवेदन। कहीं कोई साझेदारी नहीं है। माता मेरी नहीं है, पिता मेरा नहीं है, सन्तान मेरी नहीं है और संपदा मेरी नहीं है। इस ममकार को नकारते चले जाओ, अहंकार की ग्रन्थि घुल जाएगी और शेष जो बचेगा, वह है व्यक्ति का अपना चैतन्य, जो उससे कभी विभक्त नहीं होता। यह नास्तिकता का क्षेत्र इतना विशाल है कि इसमें व्यक्ति की स्वतंत्रता असीम हो जाती है।

जितना परिग्रह उतना अभिमान, जितना अभिमान उतना ही स्वतन्त्रता का परिसीमन। महावीर ने कहा—जैसे-जैसे परिग्रह और अभिमान कम होते जाते हैं, वैसे-वैसे नास्तिता की परिधि विस्तृत होती जाती है और व्यक्ति की स्वतंत्रता बढ़ती जाती है। जैसे-जैसे परिग्रह और अभिमान अधिक होते जाते हैं, वैसे-वैसे नास्तिता की सीमा संकुचित होती

जाती है और व्यक्ति की स्वतंत्रता घटती जाती है।

व्यक्तीकरण का फलित

जिसे नास्तिता का सम्यक् बोध होता है, वही अपरिग्रही हो सकता है। महावीर ने कहा—व्यक्ति मे दूसरों के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की नास्तिता है, इसीलिए उसकी अस्तिता है। इसलिए यह उसका सहज धर्म है कि वह दूसरों के स्वत्व पर अपना अधिकार न करे।

जो अपरिग्रही होता है, वही अहिंसक हो सकता है। अपरिग्रह निषेधात्मक है। अहिंसा भी निषेधात्मक है। अपने में दूसरों की निषेधात्मकता ही अपना व्यक्तित्व है, इसका अनुभव हुए बिना कोई व्यक्ति न अपरिग्रही हो सकता है और न अहिंसक, न समाजवादी हो सकता है और न समानतावादी।

समाज और व्यक्ति की सापेक्षता

महावीर जनतंत्र के व्याख्याता नहीं थे पर उन्होंने अस्ति-नास्ति की सापेक्षता के उस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जो जनतंत्र का सर्वाधिक शक्तिशाली आधार है। उन्होंने कहा—आत्मा अनेक हैं। उनमें कोई हीन नहीं है और कोई अतिरिक्त नहीं है। कोई सर्वशक्तिमान् नहीं है और कोई शक्तिशून्य नही है। सब स्वतंत्र हैं। वे स्वतंत्र होते हुए भी जीवन-संचालन के लिए परस्पर सापेक्ष हैं। यह सापेक्षता ही व्यक्ति को सामाजिक बनाती है। समाज-व्यवस्था का प्रयोजन व्यक्ति को परतंत्र करना नहीं, किन्तु सापेक्षता की पूर्ति है।

महावीर समाजवाद के व्याख्याता नहीं थे, पर उन्होंने एक और अनेक की सापेक्षता के उस सिद्धान्त की व्याख्या की जो समाजवाद का सशक्त आधार है। उन्होंने कहा— जो एक को जानता है, वह सबको जानता है। जो सबको जानता है, वह एक को जानता है। व्यवहार की भाषा में उन्होंने कहा—जो एक व्यक्ति की अवज्ञा करता है, वह समूचे समाज की

अवज्ञा करता है। जो एक व्यक्ति की पूजा करता है, वह समूचे समाज की पूजा करता है। एक के अवज्ञात होने पर समूचा समाज अवज्ञात हो जाता है और एक के पूजित होने पर समूचा समाज पूजित हो जाता है। इस व्याख्या में व्यक्ति समाज से अभिन्न है।

महावीर ने कहा—'एक साधु का प्राणहरण करने वाला अनन्त जीवों का प्राणहरण करता है।' शिष्य ने पूछा—'भंते! यह कैसे हो सकता है?' महावीर ने कहा—'साधु अहिंसक है। उसके अन्तःकरण में अनंत जीवों का हित प्रतिबिंबित है। अहिंसा सब जीवों के लिए कल्याणकारी है। अतः एक अहिंसक की क्षति सब जीवों की क्षति है।'

महावीर ने व्यक्ति और समाज को विभक्त कर नहीं देखा। जहां व्यक्ति को विशिष्टता दी, वहां समाज को उसकी पृष्ठभूमि में रखा और जहां समाज को विशिष्टता दी, वहां व्यक्ति को उसकी पृष्ठभूमि में रखा। व्यक्ति-निरपेक्ष समाज और समाज-निरपेक्ष व्यक्ति की परिकल्पना नहीं की। उन्होंने कहा—सत्य को स्वयं खोजो। सत्य की खोज व्यक्ति की अपनी विशिष्टता है। जो व्यक्ति केवल दूसरों द्वारा खोजे हुए सत्यों पर विश्वास करता है, वह अंध-विश्वासी हो जाता है। वह अपने में छिपी हुई प्रकाश की शक्ति का कभी उपयोग नहीं कर पाता। सत्य अपने ही श्रम से खोजा जा सकता है, वह बाजार में नहीं मिलता। मिट्टी से घड़ा बनता है। कोरी मिट्टी से घड़ा नहीं बनता। पानी, चाक, कुम्हार के हाथ—यह सारी सामग्री मिलती है, तब घड़ा बनता है। पर हम इस तथ्य को न भूलें कि घड़े का उपादान मिट्टी ही है। शेष सब निमित्त हैं। वे उपादान के होने पर सहकारी बनते हैं और मिट्टी को नया आकार मिल जाता है।

समाज के वातावरण से दूर रहने वाले व्यक्ति में भाषा, विचार और व्यवहार का विकास नहीं होता, उसे एक सभ्य मनुष्य का आकार नहीं मिलता, फिर भी हमें उस सत्य की विस्मृति नहीं होनी चाहिए कि व्यक्ति के विकास का उपादान उसका चैतन्य ही है। समाज एक निमित्त है, जो उपादान को एक नए आकार में प्रस्तुत कर देता है। मिट्टी को घड़े का

रूप मिलने में निमित्तों का कितना बड़ा योग है, इसे समझने वाला व्यक्ति के विकास में समाज के महत्त्वपूर्ण योग को अस्वीकार नही करेगा और समाजवादी व्यवस्था का मूल्य कम नही आंकेगा।

घड़े के निर्माण में मिट्टी का क्या स्थान है, इसे जानने वाला इस सत्य को अस्वीकृति नही देगा कि व्यवस्था की सफलता का सूत्र व्यक्ति व्यक्ति का हार्दिक समर्थन ही है। उपादान की शक्ति को व्यवस्थित किए विना निमित्तों की शक्ति व्यवस्थित नहीं हो सकती।

महावीर ने व्यक्ति को समाज की पृष्ठभूमि पर रखा पर उसके उपादान को कभी विस्मृत नहीं होने दिया। उन्होंने कहा—'सत्य की खोज स्वयं करने पर उसकी परिणति समाज में करो। सबके साथ मैत्री का व्यवहार करो।'

एक मुनि महावीर के पास आकर बोला—भंते! मैं मैत्री के लिए अमुक मुनि से क्षमा-याचना कर रहा हूं पर वह मुझे क्षमा नहीं कर रहा है। भंते! जब वह मुझे क्षमा नही कर रहा है, अपना आक्रोश प्रकट कर रहा है, तब मुझे उससे क्षमा क्यों मांगनी चाहिए?'

महावीर ने कहा—'जो क्रोध को उपशान्त करता है, वह अपने लक्ष्य में सफल होता है और जो क्रोध को उपशान्त नहीं करता, वह अपने लक्ष्य से भटक जाता है। इसलिए तुम अपने लिए क्रोध को उपशान्त करो। तुमने शान्ति का व्रत स्वीकार किया है। उसका सार है क्रोध को शान्त करना।' समाज-व्यवस्था में व्यवहार या उपचार प्रधान होता है, सत्य गौण होता है। अध्यात्म की भूमिका में सत्य प्रधान होता है, व्यवहार गौण होता है। समाज सत्य से विमुख नहीं हो सकता और अध्यात्म व्यवहार से। इस वास्तविकता के दर्पण में समाजवाद और दर्शन अपनी-अपनी कमियों को देख सकते है।

सापेक्षता का फलित

भौतिक संपदा से वंचित व्यक्ति दुःख भोगता है, जठराग्नि की ज्वाला

को बुझा नहीं पाता। आध्यात्मिक संपदा से शून्य व्यक्ति क्लेश का अनुभव करता है, मानसिक उलझनों को सुलझा नहीं पाता। सुखी होने के लिए मनुष्य संपदा को खोजता है। जिसने भौतिक संपदा की खोज की, उसने समाज को अभाव से मुक्ति दिला दी। जिसने अध्यात्म की खोज की, उसने समाज को मानसिक क्लेशों से मुक्ति दिला दी, अन्तःकरण को आलोक से भर दिया।

महावीर ने समाज के सन्दर्भ में कहा— शस्त्रों का निर्माण मत करो, उनका व्यवसाय मत करो, उनको सज्जित मत करो, उनका दान मत करो।

व्यक्ति के सन्दर्भ में कहा—'उस चित्त को बदलो, जो शस्त्रों का निर्माण करता है। उस चित्त को बदलो, जो जंजीरों का निर्माण करता है।

सापेक्षता : एक अनिवार्यता

द्वन्द्व के जगत् में रहने वाले हम सब इस बात को न भूलें कि पक्ष की स्वीकृति में प्रतिपक्ष की स्वीकृति समाहित होती है। नास्तिकता का मर्म समझे बिना हम कहते हैं कि कोई भी मनुष्य दुःख नहीं चाहता पर सुख चाहने वाला दुःख नहीं चाहता, यह हम कैसे कह सकते हैं? दुःख और सुख का जोड़ा है। इसमें से किसी एक को चाहने वाला जाने-अनजाने दूसरे को चाहता ही है।

हम कहते हैं कि कोई भी मनुष्य मरना नहीं चाहता, पर जीने की इच्छा करने वाला मरना नहीं चाहता, यह हम कैसे कह सकते हैं? जीवन और मरण एक द्वन्द्व है। इसमें से किसी एक को चाहने वाला जाने-अनजाने दूसरे को चाहता ही है। उपाध्याय यशोविजयजी ने लिखा है—'आत्मा नामक धर्मी को अस्वीकार करने वाले चार्वाक दर्शन को हम नास्तिक कहते हैं। पर वस्तु के अनन्त धर्मों को निरपेक्ष मानने वाला कौन ऐसा व्यक्ति या दार्शनिक है, जो नास्तिक नहीं है। आस्तिकता और नास्तिकता को सापेक्ष मानने वाला ही परमार्थ और व्यवहार को समझ सकता है और उन दोनों भूमिकाओं में सफल हो सकता है।'

बदलती हुई परिस्थितियां : टूटता हुआ समाज

विचार और विचार, दोनों का समीकरण कभी नहीं हो सकता। ऐसा कोई भी विज्ञान का फार्मूला अभी सामने नहीं आया जो विचारों का समीकरण करे। विचारों में हमेशा तोड़ और जोड़ रहता है। यह तोड़ और जोड़ की बात सारे विश्व के संचालन की बात है। आचार्य उमास्वामी ने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सूत्र लिखा है—'संघातभेदेभ्यस्यदुत्पत्तिः।' यह सारी सृष्टि न केवल समुदाय से संचालित होती है और न केवल भेद से संचालित होती है। संघात और भेद—ये दोनों साथ-साथ चलते हैं। हम कहते हैं, टूटता जा रहा है, बिखराव हो रहा है, यह हमारा एक दृष्टिकोण है। कुछ नहीं बिखर रहा है। इस अनन्त आकाश में हम जहां जन्मे थे, पचास वर्ष हो गए, क्या यह पृथ्वी वहीं है? बहुत आगे सरक गई है। हमें पता नहीं चलता है किन्तु बहुत आगे सरक गई है। समय का सारा सौरमण्डल आगे सरकता चला जा रहा है। ये नीहारिकाएं आगे सरकती चली जा रही हैं। हम अनन्त आकाश में जहां थे, वहां कल नहीं होंगे। और जहां कल थे, वहां परसों नहीं होंगे। आगे-से-आगे अनन्त की ओर बढ़ते चले जा रहे हैं। यह पुरानी धारणा थी और आज यह विज्ञान-सम्मत धारणा भी हो चुकी है।

आगम कहते हैं—एक केवली है। उसने अपनी अंगुली किसी स्थान पर रखी। क्या दूसरी बार वह अंगुली वहां रख सकता है? नहीं रख सकता। चाहे वह सर्वज्ञ है किन्तु उन्हीं आकाश-प्रदेशों में अपनी अंगुली को

नही रख सकता। अपने पैर को नहीं रख सकता। आज विज्ञान ने इस बात की घोषणा कर दी कि हमारी पृथ्वी जहां थी, कल वहां नहीं रहेगी। परसों वहां नहीं रहेगी। एक समय मे जो वस्तु जहां थी, वहां रह ही नहीं सकती। अनन्त और असीम में वह आगे-से-आगे बढ़ती और चलती जाती है। यह बिखराव आखिर एक समुदाय मे होगा। तो यह समुदाय और अलगाव—दोनों बातें साथ-साथ चलती रहेंगी।

हजारों वर्षों से आत्मा के अस्वीकार की, मोक्ष, परमात्मा और धर्म के अस्वीकार की उद्घोषणा हिन्दुस्तान में होती आ रही है। हमारे यहां अनेक आचार्य हुए हैं। आपने बृहस्पति का नाम सुना होगा। वे चार्वाक दर्शन के बहुत बड़े विद्वान आचार्य हुए हैं। एक ओर श्रामणिक और वैदिक उपनिषदों का उद्घोष हो रहा था तो दूसरी ओर बृहस्पति का भी घोष हो रहा था। वे कुछ स्थापनाएं कर रहे थे तो बृहस्पति उनकी उत्थापना कर रहे थे। दोनों धारणाएं साथ-साथ चलती थीं। मैं समझता हूं कि यह सारा दृष्टिकोणों का अन्तर है। यह भूमिकाओं का अन्तर है। यदि कोई भी व्यक्ति वात्स्यायन होगा और कामशास्त्र लिखेगा तो वह कामशास्त्र की स्थापना को मुख्यता देगा, धर्म की सारी धारणाएं उसके सामने गौण होंगी। कोई कौटिल्य होगा तो अर्थशास्त्र या राजनीतिशास्त्र लिखेगा और वह अपनी बात को मुख्यता से प्रतिपादित करेगा, दूसरी बातें उसके सामने गौण होंगी। कौटिल्य यह बात सुझा सकता है कि शत्रु की विशाल सेना को यदि परास्त करना हो तो इस प्रकार के विषैले पदार्थों का समायोजन किया जाए कि जिससे हजारों-लाखों सैनिक एक साथ हतप्रभ हो जाएं या मर जाएं। कौटिल्य यह सुझा सकता है, क्योंकि यह उसकी भूमिका है। एक समाजशास्त्री यदि अपनी बात कहेगा तो उसके सामने मुख्य दृष्टिकोण यही रखेगा कि जहां धर्म से समाज का विघटन होता हो, वहां धर्म को हमें तिलांजलि दे देनी चाहिए।

एक समाजशास्त्री की भूमिका है, एक राजनीतिशास्त्री की भूमिका है और एक कामशास्त्री की भूमिका है। एक वैज्ञानिक की भूमिका है और

एक धर्माचार्य की भूमिका है। अपनी-अपनी भूमिका से सारे लोग बात करते हैं। मैं समझता हूं कि इसमें कोई उलझन नहीं है। यह संसार नाना रुचियों, नाना धारणाओं और नाना विचारों का एक पिण्ड है। सब ठीक हैं। अपने-अपने दृष्टिकोण से सब ठीक हैं। भूमिकाओं के जो भेद हैं, उन्हें हम ठीक से नहीं समझेंगे तो बहुत उलझन में पड़ जाएंगे।

धर्म शब्द इतना जटिल बन गया है कि वह आज हमें बड़ी उलझन में डाल देता है। वह धर्म है —हमारे समाज की धारणा। जो समाज की धारणा के लिए धर्म है, उसका मूल 'अर्थ' होगा। वहां अगर अर्थ की उपेक्षा की जाएगी, अर्थ को गौण किया जाएगा तो धर्म नष्ट होगा, समाज नष्ट होगा और जाति नष्ट हो जाएगी। किन्तु इस धर्म का कानून से अधिक कोई मूल्य नहीं है। मनुजी ने जो लिखा वह धर्मशास्त्र है। बृहस्पति ने लिखा वह भी धर्मशास्त्र है, नारद ने लिखा वह भी धर्मशास्त्र है, कौटिल्य ने लिखा वह भी धर्मशास्त्र है। यह है अर्थमूलक धर्म की धारणा। विचार के स्तर पर जो भी चिन्तन हुआ है, लिखा गया है, वह सारा-का-सारा कानून का शास्त्र है, विधि-विधान है। संविधान को बदला जा सकता है, इस धर्म की धारणाओं को भी बदला जा सकता है, कोई कठिनाई नहीं है। और मैं तो यह मानता हूं कि जो भी मनुष्य ने कहा, वह वाणी के द्वारा कहा, वाणी के बिना कोई प्रतिपादन नहीं किया जा सकता और वाणी के द्वारा कहा गया, वह कुछ भी अपरिवर्तनीय नहीं होता। जो बात चाहे महावीर ने कही, बुद्ध ने कही, कृष्ण ने कही, ईसा ने कही या दुनिया के किसी भी महापुरुष ने कही, और अपनी वाणी के द्वारा कही, वह कभी अपरिवर्तनीय नहीं होती। कोई भी शास्त्र अपरिवर्तनीय नहीं हो सकता। तर्कशास्त्र का यह नियम है कि जो-जो कृत होता है—किया जाता है, वह अनित्य होता है, जैसे कि घड़ा। घड़ा कभी नित्य नहीं हो सकता। क्यों नहीं हो सकता ? इसका तर्कशास्त्र ने उत्तर दिया—जो-जो मनुष्य के द्वारा कृत है, वह अनित्य होता है। कृतक कभी नित्य नहीं हो सकता, जैसे कि घड़ा, जैसे कि कपड़ा और जैसे कि शास्त्र। कोई अन्तर नहीं है। मनुष्य

धर्मों पर विचार करने वाले अनन्त दृष्टिकोणों का संगम होता है, वहां एक को मानकर चलेंगे तो भी उलझन आ जाएगी। कठिनाई आएगी। रूस ने जब धर्म की अस्वीकृति की घोषणा की तब एक अमरीकन भविष्यवक्ता वहा गए। वहां का अध्ययन किया और अध्ययन करने के बाद उन्होंने कहा, कि जो रूस आज धर्म की अस्वीकृति की घोषणा कर रहा है, चालीस वर्ष के बाद यहीं से वैज्ञानिक धर्म का उदय होगा। आज मुझे लगता है कि जिस प्रकार वहा सूक्ष्म रहस्यों की खोज की जा रही है, शायद उपनिषद् उसके साथ नही चल पाएंगे, आगम उसके साथ नही चल पाएंगे। इतनी सूक्ष्म बातों पर प्रकाश डाला जा रहा है कि स्वयं हम लोगों को आश्चर्य होता है।

क्या हम अनन्त धर्मों का प्रतिपादन कर सकते हैं ? कभी नहीं कर सकते। हम जो कुछ भी करते हैं, एक भूमिका से, एक दृष्टि से करते हैं। एक दृष्टिकोण को आप एक दृष्टिकोण ही मानें, उसे सर्वांग न मानें। हमारे जीवन मे अगर कोई सुलझाव लाएगी तो यही बात ला सकती है। क्रान्ति की बात सुनते हैं तो हम क्रान्ति की बात करने लग जाते हैं। हमें यह पता नहीं कि क्रान्ति कैसे होती है ? और क्रान्ति के पीछे फिर क्या-क्या चाहिए ? कुछ लोग एक बात को पकड़ लेते हैं और उसके पीछे चलते जाते हैं। धर्म में जाते हैं तो फिर यह चिन्ता नही रहती कि कमाने की आवश्यकता है या नही ? पुरुषार्थ को भी भुला देते हैं। हमें स्याद्वाद की दृष्टि से सोचना चाहिए। हमने काल को ही महत्त्व नही दिया, क्षेत्र को भी महत्त्व दिया है, कर्म को भी महत्त्व दिया, आत्मा और परमात्मा को भी महत्त्व दिया है। दूसरी ओर से चलें तो हमने सबको अस्वीकार किया है। काल का कोई महत्त्व नहीं, आत्मा का कोई महत्त्व नहीं, धर्म का भी कोई महत्त्व नहीं है, अगर भूमिका-भेद से न सोचें तो। हम दोनों दृष्टियों से चलें, एक ओर स्वीकार की भाषा में चलें तो दूसरी ओर अस्वीकार की भाषा में चलें। हम मोक्ष की बात को भी अस्वीकार कर सकते हैं, कोई कठिनाई नहीं है।

आचार्यश्री के पास जोधपुर में एक व्यक्ति आया और बोला—'महाराज ! मेरा लड़का गुम हो गया है। क्या करू ?' आचार्यश्री ने उसके प्रति सहानुभूति प्रकट की—कितने वर्ष का था, कब गुम हुआ, कैसे हुआ ? दो क्षण रुकने के बाद वह व्यक्ति बोला—'महाराज ! लड़का गुम हो गया। अब उसे खोजूं तो पुण्य होगा या पाप होगा ?' आचार्यश्री ने समझ लिया कि इसका लड़का गुम नहीं हुआ है बल्कि दूसरी बात है। दो क्षण रुकने के बाद आचार्यश्री ने पूछा—'तुमने पैदा करते समय तो मुझसे नहीं पूछा था कि इसमें पुण्य होगा या पाप होगा ? अब पूछने आए हो कि लड़का गुम हो गया, उसके खोजने में पुण्य होगा या पाप होगा ?'

आज के समग्र धार्मिक दृष्टिकोण को इस छोटी-सी घटना से समझ सकते है। आज आत्मा, परमात्मा और धर्म के अस्वीकार की बात क्यों आ रही है ? आज के धार्मिक पर इतनी राख आ गयी है कि एक बार बिना क्रान्ति के उस राख को हटाया नहीं जा सकता। हमारे निकट के श्रावकों ने भी कभी-कभी हमें नास्तिक और साम्यवादी कहा है। एक दृष्टिकोण से इसे मैं शुभ मानता हूं परन्तु परिपूर्ण नहीं मानता। अध्यात्म की भूमिका का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। सूक्ष्म रहस्यों को कभी भी मिटाया और भुलाया नहीं जा सकता।

मुक्ति

एक संस्कृत कवि की सम्मति है कि इस दुनिया मे बन्धन बहुत हैं पर प्रेम-रज्जु जैसा गाढ़ बन्धन कोई नहीं है। भौंरा काठ को भेदकर निकल जाता है, किन्तु कोमलतम कमल-कोश को भेदकर नहीं निकल पाता।

सूर्य-विकासी कमल था। मध्याह्न में वह खिल उठा। एक भौंरा आया और उसके पराग में लुब्ध हो गया। वह बार-बार उस पर मंडराता रहा। अन्त में उसके मध्य में जाकर बैठ गया। संध्या हो गयी, फिर भी वह नहीं उड़ा। कमलकोश सिकुड़ गया, भौंरा उसमें बन्दी बन गया। प्रेम से कौन बन्दी नहीं बना?

दूसरों के प्रति प्रेम होता है, वह बांधता है और अपने प्रति प्रेम होता है, वह मुक्त करता है। बन्धन का अर्थ है दूसरों की ओर प्रवाहित होने वाला प्रेम और मुक्ति का अर्थ है अपने अस्तित्व की ओर प्रवाहित होने वाला प्रेम। यह स्वार्थ की संकुचित सीमा नहीं है। यह व्यक्तित्व की सहज मर्यादा है। जिसे अपने अस्तित्व का अनुराग है, वह दूसरों को बंधन में नहीं डाल सकता। दूसरों को वे ही लोग बांधते है, जो अपने अस्तित्व के प्रति उदासीन होते हैं। मनुष्य अपने मनोरंजन के लिए तोते को पिंजड़े में डालता है। मनुष्य अपने से अनुरक्त नहीं है, इसलिए वह दूसरो को बन्धन में डाल अपना मनोरंजन करता है।

एक आदमी की अपने पड़ोसी से अनबन हो गयी। उसके मन में क्रोध की गांठ बैठ गयी। वह जब कभी पड़ोसी को देखता, उसकी आंखें लाल हो

उठतीं। यह द्वेष का बंधन है।

एक बुढ़िया शरीर में कृश होने लगी। पुत्र ने पूछा, 'मां ! क्या तुम्हें कोई व्याधि है ?' 'नहीं, बेटा ! कोई व्याधि नहीं है।' 'फिर वह कृशता क्यों आ रही है ?' 'बेटा ! अपने पड़ोसी के घर में बिलोना होता है, उससे मुझे बहुत पीड़ा होती है। मथनी की डंडियां मेरी छाती मे चलती है।' यह ईर्ष्या का बंधन है।

राजा ने कहा—बकरी को खूब खिलाओ पर वह शरीर में बढ़नी नहीं चाहिए। गांव वाले समस्या में उलझ गए। रोहक ने मार्ग ढूंढ लिया। बकरी को शेर के पिंजड़े के पास ले जाकर बांध दिया। उसे चारा खूब देते, पर बकरी का शरीर पुष्ट नहीं हुआ। यह भय का बंधन है।

एक आदमी किसी सेठ के पास गया। घर में विवाह था। सेठ से कुछ सामग्री लेनी थी। सेठ ने मांग की तो वह बोला, 'ठहरो, अभी यहां कोई आदमी नहीं है।' आधे घंटा बाद फिर मांग की तो सेठ ने फिर वही उत्तर दिया। तीसरी बार मांग की और वही उत्तर मिला, तब आगन्तुक ने कहा, 'मैं तो आपको आदमी समझकर ही आपसे मांगने आया था।' यह मानदण्ड का बंधन है। अपने भीतर के बंधन से निवटे बिना बाहरी बंधनों से निवटना, नहीं निवटने के समान है।

मुझे मुक्ति प्रिय है, आपको भी प्रिय है, हर व्यक्ति को प्रिय है। किन्तु दूसरों को बांधने की मनोवृत्ति को त्यागे बिना क्या हम मुक्त रह सकते हैं ? अपने से छोटे को मैं बांधता हूं, इसका अर्थ है, मैं अपने बड़ों से बंधन का रास्ता साफ करता हूं। आप बंधना न चाहें इसका अर्थ होना चाहिए कि आप दूसरों को बांधना न चाहें। बंधन बंधन को जन्म देता है और मुक्ति मुक्ति को। बाहरी बंधनों से मुक्ति पाने की अनिवार्य शर्त है मानसिक मुक्ति, आन्तरिक मुक्ति।

क्या हम स्वतंत्र हैं ?

इस दुनिया में सब प्रकार के लोग जन्म लेते हैं। सब लोग कृपालु भी नहीं होते तो सब लोग क्रूर भी नहीं होते। जहां पर महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण जैसे व्यक्ति उत्पन्न हुए है, अशोक जैसे महान व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं तो दूसरी ओर उनसे उल्टे व्यक्ति भी उत्पन्न हुए हैं। हिटलर इसी दुनिया में पैदा हुआ था जिसने पांच लाख यहूदियों को मरवा डाला। केवल दोष के आधार पर नहीं, किन्तु यहूदी को मारना है, जाति को समाप्त करना है, इस जाति-विद्वेष के आधार पर इतना क्रूर कर्म किया। नादिरशाह भी इसी दुनिया में पैदा हुआ और वर्तमान में याह्या खां भी इसी दुनिया के रंगपट्ट पर उत्पन्न हुआ।

महान् सीरियस जो आस्ट्रिया का राजा था, इसी दुनिया में उत्पन्न हुआ। उसने जहां यह लिखा, मैं गया और गुलामों को मुक्त कराया। यहूदी धर्म को बसाया। दुनिया का भला किया। वन्दियों को छोड़ा। खेतों को सींचने की सुविधा दी। जनता के कष्टों को दूर किया। पच्चीस सौ वर्ष पहले हुए महान् सीरियस ने जो यह लिखा साइप्रेस में, तो दूसरी ओर असुर क्या लिखता है कि मैंने अमुक गांव को उजाड़ा, मैंने तीन हजार सैनिकों को जिन्दा जला डाला।

इस प्रकार ये दोनों धाराएं दुनिया में चलती हैं—एक क्रूरता की और एक करुणा की। एक उदारता की और एक संकुचितता की। इस स्थिति में मानवीय स्वतन्त्रता का इतिहास इतना दयनीय, इतना करुण और

इतना निर्मम रहा कि मनुष्यको बहुत कम स्वतन्त्रता मिली है। सारी दुनिया के इतिहास को देखें तो हमें मालूम होगा कि पौने सोलह आना परतन्त्रता की जकड़न रही है, मुश्किल से एक पैसा मनुष्य को स्वतन्त्रता मिली है।

फिर हम क्यों स्वतन्त्रता की बात करें ? मानवीय व्यथा की करुण कहानी को इस पर तोलें तो ऐसा लगता है कि यह दुनिया जीने के लायक नहीं है। यहां वही आदमी जी सकता है, जिसके पास हृदय नहीं है, कामना नहीं है, जो व्यथा को समझने की क्षमता नहीं रखता। अन्यथा इतनी गुलामी, इतनी परतन्त्रता, इतनी जकड़न और मनुष्यों को पशु से भी गया-बीता मानने की इतनी तीव्र मनोवृत्ति कि जिसका चित्रण करना भी एक सहृदय व्यक्ति के हृदय में भय पैदा कर देता है।

मैंने एक पैसा स्वतन्त्रता की बात कही, परन्तु वह भी कहां है ? यह भी मुझे खोजने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है। इस परतन्त्रता का आवरण मनुष्य पर क्यों डाला जाता है ? कौन डालता है ? वह व्यक्ति डालता है, जो स्वयं स्वतन्त्र नहीं है। और मैं समझता हूं कि हमारी सबसे बड़ी कठिनाई यही तो है कि किस व्यक्ति को स्वतन्त्र माना जाए ? केवल शासन थोपना और जेल के सींकचों में बन्द कर देना, इतनी ही परतन्त्रता की गाथा, व्याख्या और अर्थ नहीं है। वे लोग जो कि अपनी मानसिक वृत्तियों के अधीन होकर ऐसा काम करते हैं, वे स्वतन्त्र कहां हैं ? यदि मानसिक गुलामी, मानसिक परतन्त्रता मिट जाए तो मानना चाहिए कि एक पैसा ही स्वतन्त्रता हमें प्राप्त है, या एक पैसे भर ही लोग दुनिया में स्वतन्त्र हुए हैं, किन्तु वे भी शायद पूरे नहीं उतरते।

यह मानसिक जकड़न, यह संस्कारों की जकड़, उसमें कौन, कहां, कैसे छूट रहा है ? छूट नहीं पा रहा है। मदारी लोग बन्दर को पकड़ने के लिए एक छोटे-से बर्तन में चना डाल देते हैं। बन्दर चनों के शौकीन होते हैं। चने खाने के लिए वे बर्तन में हाथ डालते हैं। मुट्ठी में चने भरकर वे हाथ बाहर निकालने का प्रयत्न करते हैं। मुट्ठी बन्द होने पर

बाहर नहीं निकलता, क्योंकि बर्तन का मुंह इतना संकरा है कि बन्द मुट्ठी निकालना सरल नहीं और चनों का छोड़ना उन्हें स्वीकार्य नहीं। और मुट्ठी को खोले बिना निकालना सकोरे को मान्य नहीं। दोनों ओर कठिनाई है। वे सोचते हैं कि अन्दर से किसी ने हाथ पकड़ लिया। वहीं के वहीं खड़े रह जाते हैं और पकड़ने वाला आकर तत्काल पकड़ लेता है। यह पकड़ किसकी पकड़ है? अपनी वृत्ति की, परतन्त्रता की पकड़ है। ऐसी पकड़ न जाने कितने लोगों में होती है। कौन व्यक्ति यह कह सकता है कि मैं स्वतन्त्र हूं। स्वतन्त्र होना बहुत कठिन काम है। स्वतन्त्र वह होता है, जो प्रतिक्रिया का जीवन नहीं जीता, किन्तु क्रिया का जीवन जीता है, स्वतन्त्रता का जीवन जीता है। आप देखिए, थोड़ी-सी बात किसी ने अप्रिय कही और मुझे क्रोध आ जाता है। क्या मेरा यह क्रिया का जीवन है? क्रिया का नहीं है, किन्तु प्रतिक्रिया का है। मैं प्रतिबिम्ब का जीवन जी रहा हूं। सामने जैसा आता है वैसा मैं बन जाता हूं।

सारी दुनिया प्रतिक्रिया का जीवन जी रही है और प्रतिक्रिया का जीवन जीने वाला कोई भी व्यक्ति स्वतन्त्र हो सकता है? स्वतन्त्रता का समर्थन कर सकता है? या स्वतन्त्रता का दावा कर सकता है? जो जितना करता है उतना ही झूठ है। हमारे यहां अध्यात्म की गाथा गायी गयी। उसे इसलिए महत्त्व दिया गया है कि अध्यात्म को समझने वाला व्यक्ति प्रतिक्रिया का जीवन नहीं जीता। कोई सामने गाली देता है तो वह हंसता है, मुसकराता है, क्योंकि वह प्रतिक्रिया का जीवन नहीं जीता। अन्यथा गाली दे तो उसे भी गाली देना चाहिए। पीटे तो उसे भी पीटना चाहिए और मारे तो उसे भी मारना चाहिए। ईंट से मारे तो पत्थर से जवाब देना चाहिए। उस स्थिति में आध्यात्मिक व्यक्ति क्या करता है? गाली नहीं देता, मारता-पीटता नहीं। प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने अभी कहा था कि कुछ लोग हमें धमकियां देते हैं, परन्तु वे धमकियां अब कोई काम की नहीं होंगी। हम लोग धमकियों से डरेंगे नहीं और साथ-साथ भारत धमकियां देना भी नहीं चाहता। धमकी को

धमकी देना भारत नही जानता। यह भारत की अपनी प्रकृति की विशेषता है। धमकी के सामने वह झुकता भी नही है, किन्तु धमकी देना भी नहीं चाहता। यह है स्वतन्त्रता, यह है क्रिया का जीवन। अगर धमकी का जवाब धमकी से दिया जाए तो वह होगा प्रतिक्रिया का जीवन। यानी परतन्त्रता का जीवन। हमारा जीवन ऐसा बन जाता है, जैसे बच्चे का खिलौना। बच्चा खिलौने को चाहे जैसे इधर-उधर कर देता है। हमारा जीवन वैसा ही बन जाता है कि कोई रुलाना चाहे तो हम रो सकते हैं, हंसाना चाहे तो हंस सकते हैं, खिलाना चाहे तो खिल सकते हैं, मुरझाना चाहे तो मुरझा जाते हैं। दो बात प्रशंसा की कहता है, हम खिल जाते है। दो गोलियां देता है, हम मुरझा जाते हैं। थोड़ा-सा कुछ दिया, हम खुश हो जाते है और थोड़ी-सी कोई अप्रिय घटना घटी, हम रोने लग जाते हैं। यह हमारा परतन्त्रता का जीवन होता है।

हमें केवल शारीरिक, भौतिक, सामाजिक और राष्ट्रीय दृष्टि से ही स्वतन्त्रता पर विचार नहीं करना है और भारत ने कभी ऐसा नहीं किया। जो केवल इन बातों पर ही विचार करते हैं, उनका अधूरा दर्शन, अधूरा दृष्टिकोण और अधूरी बात रहती है।

बहुत बड़ी कठिनाई है हमारे चरित्र-निर्माण की। या तो हमारे चरित्र का निर्माण होता है भय के आधार पर या हमारे चरित्र का निर्माण होता है प्रशंसा या दण्ड के आधार पर। किन्तु इनसे व्यक्ति का कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नही बनता। चरित्र का कोई मौलिक आधार नहीं बनता, कोई पृष्ठभूमि नहीं बनती। वे धर्म करते है तो भय के आधार पर। वे सोचते है कि धर्म नहीं करेंगे तो नरक में चले जाएंगे। नरक में जाने का भय है, इसलिए धर्म करते हैं। धर्म का कोई स्वतन्त्र मूल्य नहीं है। अगर आज कोई कह दे कि तुम हिंसा करो—नरक मे नही जाओगे तो वे हिंसा करने के लिए तैयार हो जाएंगे। इसलिए शायद यह कहा गया कि युद्ध जीतोगे तो लक्ष्मी मिलेगी। युद्ध में मरोगे तो देवांगना मिलेगी। यह देवांगना का प्रलोभन भी शायद युद्ध-स्थान में मरने में सहायक रहा।

यदि प्रलोभन के आधार पर हमारे चरित्र का निर्माण नहीं होता, शुद्ध कर्तव्य की भावना और आदर्श की निष्ठा के आधार पर हमारे चरित्र का निर्माण होता तो शायद ऐसी बातें नहीं कही जातीं। बहुत सारी बातें यही कही जाती हैं यहां कि यह करोगे तो नरक में जाओगे और वह करोगे तो स्वर्ग में जाओगे। तो ये दोनों हमारे धर्म करने के कोण बन गए हैं—एक भय का और एक प्रलोभन का। एक हाथ में भय का पलड़ा है और एक हाथ मे प्रलोभन का पलड़ा है। अगर ये दोनों पलड़े टूट जाएं तो धर्म भी हमारा टूट जाता है और इसीलिए धर्म टूट रहा है। आज के वैज्ञानिकों ने और बौद्धिक व्यक्तियों ने जब इस स्वर्ग और नरक की बात को थोड़ा-सा झुठला दिया तो आज लोगों की धर्म की आस्था भी जरा धुंधली-सी हो गयी, क्योंकि जो आधार था वह टूटने लगा तो फिर ऊपर की बात कहां रहती है ? अगर किसी का मूल उखड़ जाएगा तो फूल और पत्ती कहां टिकेंगे ? धर्म का आधार होना चाहिए था व्यक्ति का स्वतन्त्र चिन्तन, व्यक्ति का स्वतन्त्र आदर्श और स्वतंत्र निष्ठा। जब हम स्वतन्त्रता की बात करें तो बहुत गम्भीर बात है कि हमारा मस्तिष्क, हमारा मन, हमारा हृदय, हमारी आस्थाएं स्वतन्त्र हों। उसी परिस्थिति मे व्यक्ति स्वतन्त्र हो सकता है जब कि वह बाहर के वातावरण से प्रभावित न हो। ऐसा कोई वातानुकूलित स्थान दुनिया में नहीं है, जहां सब लोग बैठ जाएं और बाहर का असर न हो। साधारण आदमी इतना भावुक होता है कि उस पर हर परिस्थिति का असर हो जाता है और उस असर के कारण वह प्रतिक्रिया का जीवन जीता चला जाता है। जिस व्यक्ति ने मेरा कुछ बिगाड़ दिया, जब तक मैं प्रतिशोध नहीं ले लेता हूं तब तक मुझे चैन नहीं पड़ता। दस-बीस वर्ष तक भी मैं उस प्रतिशोध की भावना को भुला नहीं पाता, जब तक मैं प्रतिशोध न ले लूं। यह प्रतिशोध की तीव्र भावना, प्रतिक्रिया की तीव्र भावना होते हुए क्या हम यह कह सकते हैं कि हम स्वतन्त्र हैं ? हम स्वतन्त्रता का जीवन जीते हैं ? हम स्वतन्त्रता को समझें और अपने स्वतन्त्र जीवन का निर्माण करें। जब

भौगोलिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती, नागरिक अपने देश का स्वामी स्वयं नही होता, तो वह अपने देश का निर्माण नहीं कर सकता। पूर्व बंगाल की जटिलता क्यों बढ़ी ? बंगाल इतना उत्पादक देश जहां से कि अरबों रुपयों का जूट निर्यात होता था, फिर भी इतना गरीब क्यों रहा ? वास्तव में वह सही अर्थ मे स्वतन्त्र नहीं था। उसकी सारी आमदनी का उपयोग दूसरे स्थान पर हो रहा था, पश्चिमी पाकिस्तान में हो रहा था। इसी प्रतिक्रिया ने बंगाल के मन में, बंगलादेश के निवासियों के मन मे एक भावना पैदा की और उस भावना का यह परिणाम आया कि आज बंगला देश स्वतन्त्र हो गया। भौगोलिक स्वतन्त्रता, राजनैतिक स्वतन्त्रता न होने पर व्यक्ति अपने अस्तित्व का, अपने देश का निर्माण नहीं कर पाता। जहां हमारी चारित्रिक स्वतन्त्रता नहीं है, चरित्र का स्वतन्त्र मूल्य नहीं है, वहां व्यक्ति अपने जीवन का निर्माण कैसे कर पाएगा ? इसलिए हमें इस विषय पर बहुत गहराई से विचार करना चाहिए और यह सोचना भी बहुत जरूरी है कि हम अपने कर्तव्य का, चरित्र और निष्ठा का निर्धारण सिद्धान्त के आधार पर करें, दूसरी चीज के आधार पर नहीं।

आचार्यश्री बहुत बार उपदेश देते हैं कि समाज को थोड़ा बदलना चाहिए, सामाजिक रूढ़ियों में परिवर्तन आना चाहिए, वैवाहिक प्रदर्शनों में परिवर्तन आना चाहिए—ज़माने के अनुसार कुछ बातें परिवर्तित होनी चाहिए। लोग यह अनुभव भी करते हैं कि वर्तमान की परिस्थिति में ऐसा होना चाहिए। परन्तु जब दूसरी ओर मुड़ते हैं, देखते हैं तो सोचते हैं कि यह नही करेंगे तो पड़ोसी क्या कहेंगे ? सगे-सम्बन्धी क्या कहेंगे ? गांव क्या कहेगा ? इतना धन कमाया और शादी पर भोज भी नहीं दिया ?

अब गांव क्या कहेगा, सगे-सम्बन्धी क्या कहेंगे, यह सब सोचते हैं तब सारे सिद्धान्त कहीं के कहीं चले जाते हैं। दो चीजें हैं—एक सिद्धान्त और एक व्यवहार। इनमें दूरी रहती है। मैंने कई बार सोचा कि इस दूरी का कारण क्या है ? मैंने समझा कि सिद्धान्त का निर्धारण होता है हमारी बुद्धि के द्वारा और व्यवहार का निर्धारण होता है हमारी रागात्मक

भावनाओं के द्वारा । बुद्धि द्वारा होने वाला निर्णय और रागात्मक भावनाओं द्वारा होने वाला निर्णय पूरा मिल नहीं पाता। जब तक हम रागात्मक भावनाओं पर तथा भय, क्रोध आदि आवेगों पर विजय नहीं पाएंगे तब तक बुद्धि और कर्तव्य का सामंजस्य होगा नहीं। उनमें वह खाई या विरोध बना-का-बना रहेगा । धार्मिक वह होता है जो रागात्मक वृत्तियों पर भी नियंत्रण पाता है। रागात्मक भावनाओं पर नियंत्रण और सैद्धान्तिक दृढ़ता, दोनों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए जरूरी है स्वतन्त्रता का विकास और स्वतन्त्र होने के लिए जरूरी है रागात्मक भावनाओं पर विजय। अगर ऐसा योग मिलता है तो सचमुच हमारे जीवन में स्वतन्त्रता की नयी किरण फूटेगी और हम अपने जीवन में स्वतन्त्रता का नया अनुभव कर सकेंगे और उसी स्थिति में स्वतन्त्रता हमारे लिए भौतिक और आध्यात्मिक—दोनों क्षेत्रों में वरदान बन पाएगी।

सृजनात्मक स्वतंत्रता

अन्तर्जगत् में हर वस्तु का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। उसमें किसी दूसरे का कोई हस्तक्षेप नही है। वह स्वतंत्रता निर्बाध, श्रंखलाविहीन, अप्रतिबद्ध और निरकुंश है। स्वतंत्रता का नियमन बाह्य विस्तार में होता है। अन्तर्जगत् में समग्र एकता होती है। इसलिए वहां स्वतंत्रता निर्मर्याद होती है। घर में अकेला आदमी है। वह जहां चाहे बैठ सकता है, सो सकता है। उसी घर में दो आदमी हो जाते हैं तब उस व्यक्ति की स्वतंत्रता मर्यादित हो जाती है। फिर वह अमुक स्थान में बैठ सकता है, सो सकता है, अमुक में नहीं बैठ सकता, नहीं सो सकता। स्वतंत्रता की मर्यादा है—व्यक्ति का द्वन्द्वीकरण या समाजीकरण। कोई भी सामाजिक व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्र नही हो सकता। बाह्य जगत् मे अनेकता है और जहां अनेकता है वहां स्वतंत्रता सीमित हो जाती है।

स्वतंत्रता का नियमन देश, काल, वातावरण और दृश्य सृष्टि के द्वारा होता है। एक दृश्य को देख कर व्यक्ति कामुक बन जाता है। यह उसकी स्वतंत्रता नही, किन्तु दृश्य की अधीनता का वरण है। देश, 'काल और परिस्थिति से अप्रभावित आचरण स्वतंत्रता के सूचक हो सकते हैं, किन्तु उनके प्रभाव से प्रतिबद्ध आचरण स्वतंत्र नही हो सकते। वह अपनी दृश्याधीनता को स्वतंत्रता का विकृत परिधान देने का कृत्रिम उपाय है।

बाह्य विस्तार से प्रभावित नही होना अस्तित्व की नकारात्मक स्वतंत्रता है। अस्तित्व में बाह्य क्षमताओं को अनावृत करना उसकी सृजनात्मक

स्वतंत्रता है। आधुनिक भारतीय साहित्य के रंगमंच पर एकांगी धाराओं का अभिनय हो रहा है। वास्तविकता धाराओं की समन्विति है। यथार्थ एकांगी दृष्टि से गृहीत नहीं होता। इसीलिए हमारा साहित्य अपनी प्रगतिवादिता के उद्‌घोष के उपरान्त भी वस्तु-स्पर्शी नहीं है। वह वस्तु-स्पर्शी नहीं है इसीलिए वह मानवीय समस्याओं की व्यंजना में पर्याप्त सक्षम भी नहीं है।

मनुष्य का जीवन द्वंद्वात्मक है। उसमें प्रकाश भी है और अन्धकार भी है। स्वतंत्रता भी है और नियंत्रण भी है। अनुराग भी है और विराग भी है। हम इनका एकपक्षीय लोप या समारोप नहीं कर सकते।

सृजन और ध्वंस में परस्पर अनुबन्ध है। पूर्वावस्था का ध्वंस होता है और उत्तरावस्था का सृजन। फिर ध्वंस और सृजन—इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। किन्तु सृजन की प्रेरणा वहां से प्राप्त होती है जो सृजन और ध्वंस के अन्तराल में अनुस्यूत है। भारतीय साहित्यकार इस अनुस्यूति से कितना परिचित है, मैं नहीं कह सकता।

हम शाश्वत और अशाश्वत दोनों की सत्ता को हृदयंगम किए बिना सृजनात्मक साहित्य की प्रतिपत्ति नहीं कर सकते।

क्या हम अंतश्चेतना द्वारा सृष्ट परिवर्तनों की उपेक्षा कर परिस्थति को बदलने में सक्षम हो सकते हैं? सक्षम होकर भी क्या उससे बहुत लाभान्वित हो सकते हैं?

समस्याओं का सर्वांगीण अध्ययन, सापेक्ष स्वीकार और सापेक्ष समाधान प्रस्तुत कर हम सर्वसमाहारी साहित्यिक परम्परा का सूत्रपात कर सकते हैं। सृजनात्मक साहित्य की एकांगी धारणा के कारण उसके मूल्य भी एकांगी हो गए हैं। अनावरण, कामुकता, स्वतंत्रता, आस्थाभंग आदि मूल्यों की स्थापना को सर्वथा त्रुटिपूर्ण नहीं जा सकता तो क्या आवरण, विराग, नियन्त्रण, आस्था आदि मूल्यों के विघटन को सर्वथा उचित कहा जा सकता है?

आज जो हो रहा है उसके पीछे प्रकृत कम है, अनुकृति ज्यादा है।

हमारे परिवेश भी अनुकृति-प्रधान हो रहे हैं। इसका हेतु साहित्यकार के सामने स्पष्ट दर्शन का अभाव है।

आज हम सापेक्ष दृष्टि का उपयोग कर साहित्य को अधिक यथार्थता दे सकते हैं।

मर्यादा की बैसाखी

बिन्दु लघु है, सिन्धु विराट्। बिन्दु पर सेतु-निर्माण आवश्यक नहीं होता। सिंधु भूमि को खतरे में नहीं डालता इसलिए वह भी सेतु-मुक्त होता है। जो मध्यम परिमाण में होते हैं, उन्हें बचाने की जरूरत होती है, और उनसे बचने की जरूरत होती है, इसलिए उन्हें सेतु से नियंत्रित किया जाता है। साधना के जगत् में जलाशय की प्रकृति ही अनुकृत होती है। जिसे साधना का प्रथम दर्शन—सम्यग् दर्शन प्राप्त हो, वह मर्यादा का वरण नहीं करता। साधना की परिपक्व दशा में होने वाला साधक मर्यादातीत हो जाता है। उसके लिए मर्यादा के बंधन नहीं होते। मध्यम परिमाण में रहने वाले साधक मर्यादा से बंधे होते हैं। पर साधना विराट् के लिए की जाती है। विराट् होने के लिए गहरा होना जरूरी है। सिन्धु की गहराई ही उसकी मर्यादा है। यदि वह गहरा नहीं होता तो बाहरी सेतु से मुक्त नहीं रह सकता। जिसमें चेतना की गहराई प्रकट नहीं हो जाती, वह साधक मर्यादा से मुक्त नहीं हो सकता। मर्यादा जागतिक नियम है। अपनी मर्यादा हो तो बाहरी मर्यादा नहीं आती। बाहरी मर्यादा आती है तो उसका अर्थ है कि अपनी मर्यादा नहीं है।

चिंतन की एक धारा यह है कि व्यक्ति के आसपास मर्यादा का, नियमों का जाल बिछा दो जिस से वह बच सके, उससे दूसरे बच सकें। चिंतन की दूसरी धारा यह है कि व्यक्ति को चेतना की गहराई में जाने का मार्ग दिखा दो और उसे अपनी गति से चलने दो। गहराई स्वयं

मर्यादा है। उसके लिए बाहरी मर्यादा का' तानाबाना बुनना जरूरी नहीं है। दोनों धाराओं का अपना-अपना दृष्टिकोण है, अपने-अपने तर्क और अपना-अपना सत्यांश है। दो वर्ष के बच्चे को खुला छोड़ देना हित में नहीं है और तीस वर्ष के युवा को बाधकर रखना भी हित में नही है।

मर्यादा अर्थहीन नहीं है और वह सार्थक भी नही है। उसकी सार्थकता की एक सीमा है और उसकी अर्थहीनता की भी सीमा है। जो मनुष्य केवल मर्यादा को जानता है, वह उसकी अर्थहीनता को भी नही जान सकता और सार्थकता को भी नही जान सकता। उसकी अर्थहीनता और सार्थकता को वह जान सकता है, जो मर्यादा की मर्यादा को जानता है। मर्यादा दूसरों को ही मर्यादित नहीं करती। उसकी भी अपनी मर्यादा है। वह सार्वभौम सत्य नहीं है, वह देशकालातीत सत्य नही है। वह सापेक्ष सत्य है। एक देश और काल में जो मर्यादा सार्थक होती है, दूसरे में वह अर्थहीन हो जाती है। एक व्यक्ति के लिए जो मर्यादा सार्थक होती है, वह दूसरे के लिए अर्थहीन हो जाती है। एक के लिए अर्थहीन, दूसरे के लिए सार्थक हो जाती है। यही मर्यादा की मर्यादा है।

धर्म का अर्थ है मर्यादा को जगाना। धार्मिक व्यक्ति निश्चित ही मर्यादाशील होता है। मर्यादाशील व्यक्ति का धार्मिक होना जरूरी नहीं है। अप्रमाद धर्म है। वह जीवन की सबसे बड़ी मर्यादा है। अप्रमत्त के लिए मर्यादा बनानी नहीं पड़ती। जो अंतरंग में स्वतंत्र होता है, वह परतंत्र नही हो सकता, उसे परतंत्र नहीं किया जा सकता। जो अंतरंग में परतंत्र होता है, वही परतंत्र होता है, उसे ही परतंत्र किया जा सकता है।

परतंत्रता अपने ही नियंत्रण से आती है। दूसरा कोई नहीं लाता। जितनी आकाक्षा उतनी परतंत्रता। जितनी अनासक्ति उतनी स्वतंत्रता। स्वतंत्रता को कोई नही बांध सकता, अनासक्त को कोई नहीं जकड़ सकता। आज की चिंतनधारा मे मर्यादा, जकड़न, परतंत्रता से सब एक श्रेणी में आ गए हैं। उन्मुक्तता, स्वतंत्रता, उच्छृंखलता ये भी एक ही श्रेणी के मान लिये गए है। लोग उन्मुक्त होना चाहते हैं। मर्यादाओं के बंधन तोड़कर

स्वतंत्र होना एक अर्थ में स्वतंत्रता हो सकती है पर सामुदायिक जीवन में क्या ऐसा संभव है ? मर्यादाओं को तोड़ देना एक बात है और उन्हें अर्थहीन बना देना दूसरी बात है। अप्रमत्त या अनासक्त व्यक्ति मर्यादा को तोड़ता नहीं है, उसे अर्थहीन बनाता है। अपने लिए उसकी उपयोगिता निश्शेष कर देता है। धर्म-संघ की सुदृढ़ता का यही मूल आधार है। आचार्य भिक्षु ने आचार की धातु से मर्यादा का कवच बनाया था, किन्तु मर्यादा की धातु से मर्यादा का कवच नहीं बनाया। मर्यादा मर्यादा के लिए नहीं है। वह बैसाखी है जो प्रमाद से लंगड़ाते पैरों को सहारा देने के लिए आवश्यकतानुसार पहन ली जाती है। मूल प्रयोजन है पैर मजबूत बनें। उन्हें बैसाखी की कम से कम जरूरत हो।

वर्तमान का दर्प : भविष्य का दर्पण

वर्तमान के दर्प ने हर प्रतिभा को ठुकराया है और भविष्य के दर्पण ने हर प्रतिभा को प्रतिबिम्बित किया है। इस शाश्वत सत्य की पुष्टि के लिए मैं तीन आत्माओं की अन्तर्वेदना का स्वर प्रस्तुत करूंगा।

आप महाकवि कालिदास के नाम से परिचित हैं। वे संस्कृत साहित्य के आकाश में जाज्वल्य मान नक्षत्र की भांति चमक रहे हैं। किन्तु वर्तमान ने उन्हें उपेक्षा का विषपान करने को बाध्य किया था। उनके विषपान का अमृतमय उद्‌गार हमे 'मालविकाग्निमित्र' मे मिलता है। महाकवि ने अपनी उपेक्षा को इन शब्दो मे व्यक्त किया है—

> पुराणमित्येव न साधु सर्वं,
> न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
> सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते,
> मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः ॥

—पुराने काव्य अनवद्य ही होते हैं और नए काव्य अवद्य ही होते हैं—यह मानना असंगत है। विद्वान् मनुष्य अनवद्य और अवद्य की परीक्षा कर अनवद्य काव्य का रसास्वाद करते हैं और मूढ़ व्यक्ति दूसरों की प्रतीति का अंधानुकरण करते हैं।

महाकवि का मानस-मंथन वर्तमान की वेदी पर वह प्रतिष्ठा नहीं पा सका, जो प्रतिष्ठा उसने आज प्राप्त की है। उनके समकालीन सहृदय उन्हें

कवि मानने को तैयार नहीं थे। उन्हें अपने दृश्य और श्रव्य काव्यों की प्रस्तुति प्रयत्नपूर्वक करनी पड़ी।

आचार्य सिद्धसेन तर्क और काव्य—दोनों क्षेत्रों में पारंगत थे। सन्मति जैसा महान् न्यायशास्त्रीय ग्रन्थ उनकी अप्रतिम तार्किक प्रतिभा का ज्वलन्त प्रमाण है। बत्तीस द्वात्रिंशिकाएं उनके कवित्व की स्वयंभू साक्ष्य है। उन्होंने प्राकृत साहित्य के संस्कृतीकरण का प्रयत्न किया, तब आचार्य ने उन्हें संघ से बहिष्कृत कर दिया। उनकी अन्तर्वेदना निम्न पद्यों में प्रस्फुटित हुई है :

१. पुरातनैर्या नियता व्यवस्थितिः,
तथैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति।
तथेति वक्तुं मृतरूढगौरवाद्,
अहं न जातः प्रथयन्तु विद्विषः॥

२. 'पुरातनप्रेम जडस्य युज्यते।'

—'हमारे पूर्वजों ने जो व्यवस्था निर्धारित की है, वह वैसे ही है। उसकी समीक्षा कर हम क्या सिद्ध कर पाएंगे? ऐसे मृत-रूढ़ गौरव के गीत गाने वालों की हां में हां मिलाने के लिए मैं नहीं जन्मा हूं। लोग मेरे शत्रु बनते हैं तो भले बनें।'

—'पुरातन का प्रेम जड़ व्यक्ति को ही शोभा देता है, मेरे जैसे व्यक्ति को नहीं।'

आचार्य सिद्धसेन की स्थापनाओं का जो मूल्य आज है, वह उनके अस्तित्वकाल में नहीं था। वे जैन वाङ्मय की तार्किक शाखा के सर्वाधिक समर्थ प्रतिनिधि व्यक्ति हैं।

आयुर्वेद के तीन मुख्य आचार्य माने जाते हैं—चरक, सुश्रुत और वाग्भट। वाग्भट ने अष्टांगहृदय नामक चिकित्सा-ग्रन्थ लिखा। उस समय के धुरीण वैद्यों ने उसे मान्यता नहीं दी। उस समय वाग्भट ने बहुत ही मार्मिक शब्दों में अपनी आत्मा को उनके सामने प्रस्तुत किया :

१. 'वाते पित्ते श्लेष्मशान्तौ च पथ्यं,
तैलं सर्पिर्माक्षिकं च क्रमेण ।
एतद् ब्रह्मा भाषतां ब्रह्मजो वा,
का निर्मन्त्रे वक्तृभेदोक्ति शक्तिः ॥'

२. 'अभिधातृवशात् किं वा, द्रव्यशक्तिर्विशिष्यते ।
अतो मात्सर्यमुत्सृज्य, माध्यस्थ्यमवलम्ब्यताम् ॥'

--'वातज पित्तज और श्लेष्मज---ये तीन प्रकार के रोग हैं। इनकी शांति के लिए तैल, घृत और मधु---ये तीन पथ्य हैं । इस स्पष्ट सत्य का प्रतिपादन ब्रह्मा करे अथवा ब्रह्मपुत्र करे, उसमें कोई अंतर आने वाला नहीं है। प्रतिपादक की शक्ति से द्रव्य की शक्ति में कोई विशेषता नहीं आती। अतः आप मात्सर्य को छोड़कर तटस्थ भाव से मेरे ग्रन्थ को पढ़ें।'

काव्य, दर्शन और चिकित्सा-शास्त्र के परिप्रेक्ष्य में घटित इन तीन वृत्तों के संदर्भ में यही तथ्य उभरता है कि वर्तमान का दर्प दर्पण बनने की क्षमता से वंचित रहा है।

ऐसा क्यों होता है ? इसका उत्तर देश और काल के गर्भ में छिपा हुआ है। देश और काल की दूरी में व्यक्तित्व की जो प्रतिमा उभरती है, वह उनके सामीप्य में नहीं उभरती। बाहरी व भूतकालीन व्यक्ति को महत्त्व देने की मनोवृत्ति सर्वत्र देखी जाती है।

अपरिचय में व्यक्ति ज्ञात नहीं होता, इसलिए परिचय आवश्यक होता है। किन्तु जैसे-जैसे उसकी मात्रा बढ़ती है, वैसे-वैसे वह व्यक्ति के मूल्य को कम करती जाती है।

इसीलिए एक संस्कृत कवि को लिखना पड़ा--- 'अतिपरिचयदोषात् कस्य नो मानहानिः।' ऐसा कौन व्यक्ति है जिसे अति परिचय के कारण मानहानि की कठिनाई का सामना न करना पड़ा हो।

देश और काल की निकटता में दो अहं की सीधी टक्कर होती है। पूर्वज का अहं अपने अनुज के अहं की पूर्ति में स्वयं की हीनता का अनुभव

करता है। यही स्थिति दो एकदेशीय व्यक्तियों के अहं की होती है।

देश और काल की दूरी में अहं पूर्वज बनकर प्रस्तुत होता है और वह प्रस्तुत होता है काल-वेला की ऊर्मियों से स्नात होकर । वह वर्तमान के अहं पर चोट नहीं करता। इसलिए उसे अनुज की मान्यता प्राप्त हो जाती है। वह पूर्वज का भविष्य और अनुज का अतीत होता है, इसलिए उसमें वर्तमान की तीव्रता नहीं होती। इस दुनिया में सारा संघर्ष तीव्रता का है, वह अहं की हो या अन्य किसी वस्तु-धर्म की।

अणुव्रत आन्दोलन : कुछ प्रश्न जो समाधान चाहते हैं

अणुव्रत आन्दोलन ने पचीस वर्ष पूरे कर लिये हैं। यह नैतिकता का आन्दोलन है। इसकी पृष्ठभूमि में संयम है, अध्यात्म है। नैतिकता समाज के लिए आवश्यक है। सयम और अध्यात्म को समाज की मंचभूमि पर प्रतिष्ठित किया भी जा सकता है और नहीं भी किया जा सकता है। हिन्दुस्तान के मानस का संस्कार धर्म से जुड़ा हुआ है। संयम और अध्यात्म दोनों धर्म से जुड़े हुए हैं। लोग धर्म को मानते हैं, पर संयम और अध्यात्म को कम मानते हैं। धर्म से परलोक सुधरता है—इस धारणा ने उन्हें कल्पनावादी बना दिया है। वे परलोक में धर्म के फल की आकांक्षा करते हैं, वर्तमान को बदलने की बात नहीं सोचते। संयम और अध्यात्म से वर्तमान बदलता है। संयम और अध्यात्म विहीन धर्म के अनुशीलन से वर्तमान में कोई अन्तर नहीं आता, इसीलिए धर्म और अनैतिकता दोनों साथ-साथ चल रहे हैं।

यह सचाई है कि सब लोग धार्मिक नहीं होते। जितने धर्म के अनुयायी होते हैं उतने धर्म-श्रद्धालु नहीं होते। जितने श्रद्धालु होते हैं उतने धर्म के प्रति सम्यक् दृष्टि रखने वाले नहीं होते। जितने सम्यक् दृष्टि रखने वाले होते हैं उतने उसका आचरण करने वाले नहीं होते। इस पृष्ठभूमि पर धर्म के द्वारा नैतिक आन्दोलन को सर्वव्यापी नहीं बनाया जा सकता।

सामाजिक जीवन के दो प्राणकोष हैं—अर्थ और सत्ता। ये दोनों ही नैतिकता को संबल नहीं देते। इनके लिए अनैतिकता होती है। फिर वे

नैतिकता को संबल कैसे दे सकते हैं ? अर्थ का अर्थ से और सत्ता का सत्ता से टकराव होता है तब नैतिकता की बात सूझती है। उस समय नैतिकता का एक हथियार के रूप में प्रयोग किया जाता है, किन्तु उसका स्वतंत्र मूल्य नहीं आंका जाता। स्वार्थ के साथ जुड़कर नैतिकता सीमित हो जाती है। फिर अमुक देश-काल तथा व्यक्ति या वर्ग के प्रति नैतिकता का व्यवहार होता है और अमुक देश काल तथा व्यक्ति या वर्ग के प्रति उसका व्यवहार नहीं होता। यह खंडित नैतिकता अखंड व्यक्तित्व का निर्माण नहीं कर सकती।

मुझे लगता है कि धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक—ये तीनों ही मंच नैतिक आन्दोलन के द्वारा जन-मानस को आन्दोलित नहीं कर सकते। इन तीनों के अतिरिक्त चौथा कोई मंच नहीं है जो नैतिकता का आन्दोलन चला सके। नैतिक आन्दोलन स्वयं समस्या है। जो स्वयं समस्या है उसके द्वारा समस्या के समाधान की आशा नहीं की जा सकती।

अणुव्रत आन्दोलन धर्म के मंच से संचालित आन्दोलन है। आचार्यश्री तुलसी धर्मनेता हैं। यह आन्दोलन उनके द्वारा संचालित है। उन्होंने संयम और अध्यात्म से जुड़े हुए धर्म को उसकी पृष्ठभूमि में रखा है, फिर भी इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह धर्म के द्वारा संचालित है। धर्म की आवश्यकता अनुभव करने वालों से नैतिकता की आवश्यकता अनुभव करने वाले अधिक हैं। नैतिकता की अपेक्षा आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव करने वाले और अधिक हैं। आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन के लिए समाजवादी शासन-व्यवस्था को अनिवार्य मानने वाले उनसे भी अधिक हैं। इस प्रकार शासन-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था और धर्म—इन तीनों की छत्र-छाया में ही नैतिकता पनप सकती है। समाज की जिस अर्थ-व्यवस्था में जनता को आश्वासन उपलब्ध हो, जीविका, बीमारी और बुढ़ापे की चिन्ता-मुक्ति हो, उसमें अनैतिकता की संभावनाएं कम होती हैं। जिस व्यक्ति में धर्म-चेतना जागृत हो, दूसरे के सुख-दुःख का संवेदन अपने ही सुख-दुःख के संवेदन की भांति आत्मगत

हो, उस व्यक्ति में अनैतिकता की संभावनाएं सर्वथा नहीं होतीं। पर व्यक्ति की भांति पूरा समाज क्या धार्मिक हो सकता है? क्या वह एकात्मकता का अनुभव कर सकता है? इस प्रश्न का निश्चित समाधान दिया नहीं जा सकता। समाज का वर्तमान चेतना-स्तर इस कोटि का नहीं है। भविष्य में इस कोटि के चेतना-स्तर का निर्माण हो सकेगा इसकी आशा और कल्पना की जा सकती है। किन्तु निश्चय की भाषा में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए गुणात्मकता की दृष्टि से धर्म के क्षेत्र में अनैतिकता की संभावनाएं नहीं हैं। उन संभावनाओं को समाजव्यापी बनाने की प्रक्रिया अभी ज्ञात नहीं है। व्यापकता की दृष्टि से आर्थिक व्यवस्था के परिवर्तन को अधिक मूल्य दिया जा सकता है। किन्तु उसमें समाज के मानस-परिवर्तन को स्वीकृति नहीं दी जा सकती।

जिस व्यवस्था में सुख-सुविधा के साधन उपलब्ध होते हैं उस व्यवस्था में जीने वाला यदि अप्रामाणिक व्यवहार नहीं करता तो यह उसकी कोई विशेषता नहीं है। सुख-सुविधा के साधनों की उपलब्धि न होने पर भी जो व्यक्ति अनैतिक व्यवहार नहीं करता, उसमें कोई विशेष चेतना जागृत होती है, अन्यथा वह ऐसा कर नहीं सकता। धर्म का काम है—मनुष्य में विशेष चेतना को जागृत करना, जिससे वह साधनों की उपलब्धि या अनुपलब्धि—किसी भी स्थिति में अप्रामाणिक व्यवहार न करें।

परिवर्तित अर्थव्यवस्था का काम मनुष्य में विशेष चेतना को जागृत करना नहीं है, किन्तु अपेक्षा या आकांक्षा या साधनों में समीकरण लाना है, उनमें संतुलन स्थापित करना है। जब अपेक्षा और आवश्यक साधनों में संतुलन नहीं होता तब अनैतिकता के कीटाणुओं को पल्लवित होने का अवसर अधिक मिलता है। उनमें संतुलन स्थापित करने का अर्थ है अनैतिकता के कीटाणुओं को पल्लवित होने का अवसर न देना। इसका यह अर्थ नहीं है कि संतुलित स्थिति में अनैतिकता के कीटाणु समाप्त हो जाते हैं। उनकी समाप्ति विशेष चेतना को जागृत करने पर ही होती है। इस वास्तविकता के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि

नैतिकता का आन्दोलन केवल धर्म के मंच द्वारा ही संचालित किया जा सकता है। वह पूरे समाज के मानस का स्पर्श करे या न करे, समाजव्यापी बने या न बने, किन्तु विशेष चेतना का जागरण वही कर सकता है, दूसरा नहीं कर सकता।

अणुव्रत आन्दोलन धर्म के मंच से संचालित है। चेतना को जागृत करना इसका उद्देश्य है। यह एक ज्योति पुञ्ज है। इससे व्यक्ति आलोकित होता है और समाज भी आलोक प्राप्त करता है। दीप हो या सूर्य, दूसरे को वही प्रकाशित कर सकता है जो स्वयं प्रकाशित होता है। अणुव्रत स्वयं प्रकाश है। इसीलिए उससे व्यक्ति और समाज दोनों प्रकाशित होते हैं। अणुव्रत आन्दोलन ने सचमुच प्रकाश की रेखाएं विकीर्ण की है। इस वास्तविकता को मुक्तभाव से स्वीकार करना चाहिए कि प्रकाश-रश्मियों के विकिरण की जो गति पहले दशक में थी, वह अब नहीं है। उसमें कुछ मन्दता आयी है। वह किन कारणों से आयी है, इस चर्चा में मैं नहीं जाऊंगा, किन्तु वह आयी है, इस सचाई को स्वीकार कर गति में तीव्रता लानी चाहिए, यह रजत जयन्ती का संकल्प हो सकता है। शुद्धता और व्यापकता—इन दोनों में तालमेल नहीं रहा है। कुंड या तालाब का पानी शुद्ध रह सकता है पर वह व्यापक नहीं बन सकता। नदी का प्रवाह व्यापक होता है, पर वह शुद्ध नहीं रह पाता। नैतिकता का आन्दोलन शुद्धि का आन्दोलन है, इसलिए इसकी व्यापकता स्वयं एक समस्या है। किन्तु इस समस्या को समाधान मानकर चलना चाहिए। कोई भी समस्या ऐसी नहीं है जो किसी रूप में समाधान न हो और कोई भी ऐसा समाधान नहीं है जो किसी रूप में समस्या न हो। अणुव्रत कार्यकर्ताओं की निष्ठा अडिग होनी चाहिए कि अणुव्रत समस्या होते हुए भी बहुत बड़ा समाधान है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का अपना एक चरित्र होता है और चरित्र-वान् व्यक्ति, समाज और राष्ट्र प्रतिष्ठा को प्राप्त करते हैं। अणुव्रत आन्दोलन ने वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय चरित्र की आचार-संहिता प्रस्तुत की है और वह असांप्रदायिक रूप में मान्य हो चुकी है। यह कम

सफलता नहीं है । आचार-संहिता के अनुशीलन की जिस स्तर पर अपेक्षा थी, वह पूरी नही हुई। इसे असफलता भी कहा जा सकता है। सफलता और असफलता—दोनों साथ-साथ चलती हैं। अणुव्रत कार्यकर्ताओं का पुरुषार्थ तीव्र होना चाहिए जिससे असफलता सफलता पर आवरण न डाल सके।

अणुव्रत आन्दोलन तीसरे दशक में भी कार्यकर्ताओं की अभीप्सित शक्ति अर्पित नही कर पाया, यह उसका दुर्बल पक्ष रहा है। इस पक्ष पर पुर्नविचार होना अपेक्षित है। क्या परमार्थ स्वार्थ से अभिभूत हो गया है या परमार्थ के भाव को जागृत करने का प्रयत्न कम हुआ है ?

कुछ प्रश्न उपस्थित है। रजत जयन्ती का वर्ष उनके उत्तर खोजने का वर्ष है। सही खोज, सही दिशा और सही प्रयत्न करें, जिससे अणुव्रत की ज्योति-रेखा से व्यक्ति और समाज अभीप्सित प्रकाश प्राप्त कर सकें।

अणुव्रत आन्दोलन की मंजिल

विश्व का कण-कण गतिशील है। कोई भी पदार्थ सदा एकरूप नहीं रह सकता। पहले क्षण में जो पदार्थ जैसा होता है, वह दूसरे क्षण में वैसा नहीं रहता। वह अपने अस्तित्व की धुरी में स्थिर रहकर भी कुछ छोड़ देता है और कुछ नया जोड़ लेता है। इस प्रकार पदार्थ के केन्द्र में स्थिति और परिधि में निरंतर गतिशीलता व्याप्त रहती है। यह स्थितिमूलक गतिशीलता का सिद्धांत प्रत्येक विचार, व्यवस्था व प्रवृत्ति पर घटित होता है। मनुष्य के विचार और उससे प्रतिबिंबित होने वाली व्यवस्था भी निरंतर गतिशील है। हजारों वर्षों में मनुष्य के विचारों के अनगिन संस्करण हुए हैं और उनके आधार पर अनगिन व्यवस्थाएं रूपांतरित हुई हैं।

आज हमें अनुभव होता है कि वर्तमान विचार प्रशस्ततम विचार है और वर्तमान व्यवस्था सुन्दरतम व्यवस्था है, किंतु आनेवाली पीढ़ी उस विचार में अपूर्णता और व्यवस्था में खामियां देख उन्हें बदल देती है। इस प्रकार विचार और व्यवस्था का प्रवाह बदल जाता है। ऐसे परिवर्तन न जाने कितनी बार घटित हुए हैं।

मनुष्य स्वयं अपूर्ण है। विचार और व्यवस्था उसकी कृति है। अपूर्ण मनुष्य की कोई भी कृति परिपूर्ण कैसे हो सकती है? हमें यह मानकर ही चलना चाहिए कि कोई भी विचार पूर्ण नहीं है, इस लिए उसमें परिवर्तन का निरंतर अवकाश है। उस अवकाश को खो देने वाला यथार्थ से विमुख

होकर पिछड़ जाता है और उस अवकाश को समझने वाला यथार्थ से अभिमुख होकर आगे बढ़ जाता है। अणुव्रत आंदोलन को आगे बढ़ाना है—इस दृष्टि से मैंने गतिशीलता के सिद्धांत पर एक विमर्श प्रस्तुत किया है।

अब तक आंदोलन का मुख्य स्वरूप विचारात्मक रहा है। व्रत का विचार समझे बिना कोई आदमी व्रती कैसे बन सकता है ? नैतिकता का विचार समझे बिना कोई आदमी नैतिक कैसे बन सकता है ? जो वस्तु चलेगी उसका विचारात्मक रूप सदा ही चलेगा। उसके बिना वह चल नहीं सकती। विचार का दूसरा पहलू है आचार या क्रियान्विति। वह विचार अपना मूल्य खो देता है, जो क्रियान्विति की कसौटी से नहीं कसा जाता। अणुव्रत-आंदोलन का भावी कार्यक्रम होगा—व्रत के विचार को सामाजिक संदर्भ में क्रियान्वित करना।

सामुदायिकता की ओर

हजार-दो हजार वर्ष पहले के विचार व्यक्तिप्रधान रहे हैं। फलतः व्यवस्था भी व्यक्तिप्रधान रही है। विचार से व्यवस्था प्रतिफलित होती है और व्यवस्था के अनुरूप ही विचार का प्रवाह चलता जाता है। लंबे समय से चली आ रही वैयक्तिकता को वर्तमान युग ने चुनौती दी है। आज विचार और व्यवस्था दोनों का झुकाव सामुदायिकता की ओर है। व्यवस्था का सामुदायिक दृष्टिकोण प्राप्त रूपों में सर्वोत्तम रूप है। आंतरिक क्षमताओं का समाजीकरण नहीं किया जा सकता किंतु समाज की व्यवस्था में समरसता नहीं लायी जा सकती, ऐसा नहीं है। भगवान् महावीर ने कहा—कोई भी आत्मा दीन नहीं है और कोई भी आत्मा उच्च नहीं है। यह आत्मा के अंतिम विकास की स्थिति का चित्रण है। मध्य विकास की स्थिति में आंतरिक क्षमता का तारतम्य रहता है। उसके आधार पर ही विकसित बुद्धि वाले लोग एक अपना वर्ग बना लेते हैं और अल्पबुद्धि वाले लोगों का एक भिन्न वर्ग बन जाता है। इस प्रकार दो वर्ग बन जाते हैं—एक सम्पन्न और दूसरा विपन्न। उनमें समरसता नहीं रह पाती। बड़प्पन और छुटपन

के आधार पर अहं और घृणा तथा हीन भावना और प्रतिशोध के भाव स्थिर हो जाते हैं। इस स्थिति में सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा समता के आधार को खो देती है।

सामाजिक सामंजस्य

जिस स्थिति का मैंने विश्लेषण किया, वह हजारों वर्षों से चली आ रही है। इस शताब्दी में सामाजिक विचार का तीव्र गति से विकास हुआ है। लोक चेतना जाग्रत हुई है। फलस्वरूप अनेक राष्ट्रों में क्रांतियां हुई हैं। उनके द्वारा सामाजिक सामंजस्य की स्थापना का प्रयत्न किया गया है। किंतु वैसा करने में सामाजिक मूल्यों को बदलने में दंडशक्ति को अधिक तीव्र करना पड़ा। वहां मानवीय चेतना का यांत्रिकीकरण हुआ और स्वतंत्रता सीमित हो गयी। दंडशक्ति की तीव्रता होने पर इससे भिन्न परिणाम की आशा नहीं की जा सकती।

क्या तलवार की धार को तेज किये बिना सामाजिक सामंजस्य नहीं लाया जा सकता? इस प्रश्न पर उन सबको विचार करना जरूरी है, जो अहिंसा की शक्ति या स्वतंत्रता में विश्वास रखते हैं। अणुव्रत आन्दोलन सामाजिक समरसता में विश्वास करता है। उसके सामने भी वही प्रश्न है कि वह इस दिशा में क्या सोचता है और क्या करता है? लोग कहते हैं, हजारों वर्ष हो गये, धर्म का इतना उपदेश होता है, उससे क्या परिवर्तन हुआ? इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार नहीं हुआ है। पुराने जमाने में यानी हजारों वर्षों की लंबी परंपराओं में धर्म के सामने सामाजिक सामंजस्य का उद्देश्य नहीं रहा है। उसके सामने उद्देश्य रहा है व्यक्तिगत आत्म-शुद्धि का। उसके चिंतन का विकास और कार्य उसी क्षेत्र में हुआ है। सामाजिक सामंजस्य का प्रश्न नया है। इस पर नये दृष्टिकोण से ही विचार करना है। वर्तमान समस्या के संदर्भ में अणुव्रत आंदोलन के सामने दो मुख्य कार्य हैं—दृष्टिकोण का परिवर्तन और सामाजिक मूल्यों का परिवर्तन।

कर्म का फल नहीं

अभी हिन्दुस्तान के हजारों लोगों का दृष्टिकोण यह है कि कर्मवाद का सिद्धांत अटल सिद्धांत है। इसलिए सब लोग समान कैसे हो सकते है? हर व्यक्ति का अपना पुण्य और अपना पाप होता है। पुण्यवान लोग पुण्य का फल भोगते है और पापी आदमी पाप का फल भोगते हैं। क्या पुण्य और पाप का फल एक हो जायेगा? इस कर्मवादी धारणा के आधार पर वे सामाजिक सामंजस्य की संभावना ही स्वीकार नही करते। जहां तक मैं समझ पाया हूं, मुझे ऐसा नहीं लगता है कि कर्म इसमें हस्तक्षेप करता है कि एक आदमी को रोटी, मकान और कपड़ा मिले और दूसरे को वे न मिलें। सामाजिक सामंजस्य की एक सीमा है। उस सीमा में कर्मवाद बाधक नही है। इस दृष्टिकोण को स्थापित करना और इसके विरोधी दृष्टिकोण को बदलना अहिंसक क्रांति के लिए नितान्त आवश्यक है।

दृष्टिकोण का परिवर्तन होने पर सामाजिक मूल्यों के परिवर्तन की प्रक्रिया चालू हो जाती है। किंतु दृष्टिकोण का परिवर्तन करना सरल कार्य नही है। परंपरागत धारणाओं, मान्यताओं और सिद्धांतों तथा न्यस्त स्वार्थों के लोहावरण को हटाकर जनता की दृष्टि को स्वच्छ और यथार्थ बनाना सचमुच कठिन कार्य है। पर विचार की प्रक्रिया जो चालू हो जाती है वह जनमानस को कभी न कभी अवश्य ही प्रभावित करती है। इस सिद्धात के आधार पर ही हम दिशा का निर्णय कर सकते हैं। प्रस्तुत दिशा मे गतिकरने के लिए अणुव्रत-आंदोलन को लोकशिक्षण का कार्य सुनियोजित ढंग से हाथ मे लेना चाहिए। लोकमानस को जिस दिशा में प्रशिक्षित किया जाता है, उसी दिशा में वह गतिशील हो जाता है। विकास के ऐतिहासिक क्रम का अध्ययन करने वाला व्यक्ति इस तथ्य को भली भांति समझता है।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के मूल्यों की व्याख्या अभी तक मोक्ष के संदर्भ में ही हुई है। सुखी और स्वतंत्र सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में उनकी व्यवस्था की जाय तो निश्चित ही नयी दिशा उद्घाटित

होगी। नयी व्याख्याओं को समझने के लिए लोकशिक्षण की व्यवस्था का दायित्व उठाना और उनकी क्रियान्विति के लिए प्रयोगात्मक शिविरों का आयोजन करना, अणुव्रत आंदोलन के सामने एक रचनात्मक कार्य है। इसको उठाये बिना दंडशक्ति व उसके द्वारा स्थापित होने वाले सामाजिक सामंजस्य के स्थान पर नैतिक शक्ति व उसके द्वारा स्थापित होने वाले सामाजिक सामंजस्य की स्थापना नहीं की जा सकती।

जीवन-निर्माण की दिशा और अणुव्रत

एक संस्कृत कवि ने लिखा है—

'अग्निदाहे न मे दुःखं, न दुःखं लोहताडने।
इदमेव महद्दुःखं, गुञ्जया सह तोलनम्॥'

सोना स्वर्णकार से कह रहा है—'मुझे अग्नि में गर्म किया उसका दुःख नहीं है, मेरे ऊपर घन की चोटें दीं उसका भी मुझे तनिक मात्र दुःख नहीं है। मुझे दुःख इसी बात का है कि तुम मुझे गुञ्जाओं (चिरमियों) के साथ तोल रहे हो।'

सचमुच सोने की इस आपत्ति में तथ्य है। किसी विशेष वस्तु की नगण्य के साथ तुलना करने पर क्या उसे वेदना नहीं होती, दर्द नहीं होता, पीड़ा नहीं होती! आज हिन्दुस्तान के नागरिकों की तुलना कुछ अन्य देशीय नागरिकों के साथ होती है—वह भी कुछ चरित्र के मामले को लेकर—ऐसे देशों के साथ जिनका उत्कर्ष प्रकट नहीं होता है, सचमुच पीड़ा की बात है। प्रश्न है—क्यों? सचमुच अतीतकाल में हिन्दुस्तान धर्म-प्रधान देश रहा है। उसी धर्म-प्रधान देश को आज साहस के साथ धर्म-प्रधान देश नहीं कह सकते, दुःस्साहस करके ही कह सकते हैं। मुझे कहने में संकोच होता है। केवल अतीत की दुहाई देनी हो तो मैं दे सकता हूं। किन्तु अतीत तो मात्र दर्पण है। वह हमें प्रतिविम्ब दे सकता है, चला नहीं सकता। हमें देखना है कि हमारा वर्तमान सुन्दर व सुखद है या नहीं। जहां पर सामाजिकजीवन में धर्म का प्रतिविम्ब नहीं पड़ता, जीवन

में धर्म का आचरण नहीं होता। केवल उपासना और क्रियाकाण्डों में ही विश्वास किया जाता है और व्यवहार में शुद्धि नहीं रखी जाती, उस देश को हम धर्म-प्रधान कैसे कह सकते है? बौद्धिक मानस शायद ही इसके लिए तैयार हो। आज की स्थिति क्या है? हमारे सामने दो विकल्प हैं—पहला विकल्प है रोटी का और दूसरा है आस्था का।

रोटी हमारे लिए आवश्यक है। आस्था को किसके सहारे टिकाएं? वह लक्ष्य या सिद्धान्त के सहारे टिक सकती है। रोटी जीवन को चलाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। आस्था के अभाव में सफलता प्राप्त नही की जा सकती, चाहे वह भौतिक, मानसिक और अध्यात्म क्षेत्र में हो अथवा किसी भी क्षेत्र में हो। आस्था को रखना अत्यन्त आवश्यक है। वही व्यक्ति जीवन मे कुछ कर सकता है जो आस्थावान् होता है। जीवन में श्रद्धा का होना बहुत जरूरी है। बिना श्रद्धा के आत्मविश्वास पैदा नही होता। आत्मविश्वास के अभाव में सफलता के मार्ग में अनेक कांटे हैं। जहां आस्था नही, दृढ़ संकल्प नहीं, दृढ़तम इच्छा नहीं हो, वहां अनेक समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं।

हिन्दुस्तान अतीतकाल में सोने की चिड़िया कहलाता था। आज उसी हिन्दुस्तान के सामने रोटी और आस्था की प्रमुख समस्या है। पता नहीं हिन्दुस्तान इसमें क्यो उलझ गया? जहां तक मैंने समझा है हिन्दुस्तान में व्यक्तिवादी मनोवृत्ति बहुत तीव्र हो गई है। स्वयं के स्वार्थ में दूसरों की हानि का उसे कोई दुःख नहीं होता। स्वयं के ही स्वार्थ की बात सोचता है, स्वयं की प्रतिष्ठा कैसे बढ़े, दूसरे मेरे बड़प्पन का महत्त्व कैसे आंकें, यह मनोवृत्ति आज भारतरूपी शरीर में प्रवेश कर गयी है जो शरीर को जला रही है किन्तु उसकी वेदना ज्ञात नहीं हो रही है। व्यक्ति-वादी मनोवृत्ति अध्यात्म क्षेत्र में अत्यन्त उपयोगी है किन्तु जहां समाज का प्रश्न है, व्यक्तिवादी मनोवृत्ति मनुष्य को कर्तव्य से दूर कर देती है।

आज हिन्दुस्तान मे 'अप्रामाणिकता' का रोग बढ गया है। हर क्षेत्र में अप्रामाणिकता की शिकायत है। यह शिकायत क्यों? शायद हिन्दुस्तान के

नागरिकों ने यह कभी जिज्ञासा भी नहीं की हो ! उस अप्रामाणिकता के पीछे हेतु है 'व्यक्तिवाद' का। यह सच है कि धन के अभाव में देश संत्रस्त होता है, किन्तु गरीबी या धन का अभाव होने पर भी अप्रामाणिकता नहीं करते। लेकिन सम्पन्न व्यक्ति अप्रामाणिकता करने में आगे रहते है। हम प्रतिदिन समाचारपत्रों में पढ़ते हैं कि एक टैक्सी वाले ने, तांगेवाले ने या श्रमिक ने अमुक व्यक्ति के गहने, रुपयों का बटुआ पाया और उसने खोज करके मालिक के पास सुरक्षित पहुंचा दिया। किन्तु हमने यह नहीं देखा कि किसी उद्योगपति ने या मिल के मालिक ने ऐसी प्रामाणिकता का परिचय दिया हो। आखिर इस आस्था के आकर्षण का क्या कारण है? मुझे लगता है इसके दो प्रमुख कारण हैं—

१. आस्था की हीनता,

२. मार्गदर्शन का अभाव।

आखिर हमने यह क्यों मान लिया कि मानसिक विकास, जीवन की सफलता के और समृद्धि-संचय के लिए अप्रामाणिकता करना आवश्यक है। यह हमारे दर्शन के मूल मे ही भूल है। जीवन की समस्याओं का सबसे बड़ा हेतु है अप्रामाणिकता। इस अप्रामाणिकता के कारण ही दुनिया के देशों में हिन्दुस्तान ने प्रतिष्ठा को खोया है।

अभी कुछ दिन पहले हमने समाचारपत्रों में दुनिया के धनियों के आंकड़े देखे थे। देखने पर आश्चर्य हुआ कि जो टाटा, बिरला, डालमिया इत्यादि हिन्दुस्तान के सबसे बड़े धनी माने जाते हैं, उनका दुनिया के धनियों मे न जाने किस क्रम के बाद नाम आता है, उनके नाम का कोई अस्तित्व ही नहीं है। मुझे आश्चर्य होता है कि हिन्दुस्तान के व्यवसायिकों ने कहां धन कमाया, कहां है उनकी समृद्धि तथा कहां है धन अर्जन का दिमाग ? आप से ही पूछना चाहता हूं कि दुनिया के किस देश में किस क्षेत्र मे हिन्दुस्तान की प्रामाणिकता की साख है !

आज एक ओर समाजवाद की बात चल रही है। समाजवाद का अर्थ है वितरण। प्रश्न होता है—किसका वितरण किया जाए ? वितरण उसी

का होता है जहां पर उत्पादन हो। यहां पर उत्पादन की बात तो गौण है और विसर्जन की प्रमुख। इस देश के श्रमिक लोग काम करने से तो जी चुराते हैं, राजकर्मचारी आठ घंटों के कर्तव्य के स्थान पर मुश्किल से दो घंटे का कर्तव्य अदा करते है, यहां के देश की पूंजी का कैसे विकास होगा? यहां पर लोग अकर्मण्य जीवन जीकर क्या समाजवाद लाएंगे? मेरी समझ में तो नहीं आता है कि जिस देश में अकर्मण्यता, निठल्लापन और आस्थाहीनता बढ़ रही हो, वहां पर समाजवाद पनपेगा।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यहां के लोक-जीवन में शिथिलता-सी आयी हुई है। ऐसे विचार भर गए हैं जिनसे उनका कोई स्वतंत्र चिन्तन ही नहीं तथा ऐसी-ऐसी धारणाएं दिमाग में घुसी हुई हैं जिनको निकालना मुश्किल-सा हो गया है। हिन्दुस्तानियों ने यह मान लिया कि अप्रामाणिकता ही जीवन की सफलता का सूचक है। हमारे व्यापारियों की दुनिया के बाजारों में साख नहीं है। जहां साख नहीं होगी, वहां पर आप स्वयं सोचें कि उस देश में आयात ज्यादा होगा या निर्यात? इस देश की किस क्षेत्र में प्रामाणिकता है, कहना मुश्किल है। आज जो हिन्दुस्तान को हानि उठानी पड़ रही है उसका प्रमुख कारण अप्रामाणिकता ही है।

जब मैं इस सन्दर्भ में 'अणुव्रत' को देखता हूं तो मुझे लगता है कि अणुव्रत का विचार समूची मानव-जाति के लिए आवश्यक है। मैं पहले अणुव्रत को स्थान देता हूं, पीछे धर्म को। जीवन की सफलता के लिए धर्म का होना आवश्यक है। यदि जीवन में प्रामाणिकता, सचाई तथा सामंजस्य नहीं है तो मैं मानता हूं बड़े-बड़े धर्मशास्त्री भी वर्तमान के युग में नहीं टिक सकते। जहां सामाजिक जीवन में धोखा, आक्रोश पनपता है वहां सामंजस्य कहां? व्यक्ति पूजा करता है, उसमें वह भगवान का नाम अत्यन्त श्रद्धा से लेता है, किन्तु उसके पीछे भी उसका स्वार्थ बोलता है। वह भगवान का नाम इसलिए लेता है कि दूसरों के साथ धोखाधड़ी व अप्रामाणिकता निर्बाध चलती रहे। यह हमारे जीवन का अभिशाप बन गया है। आज के इस नए युग में एक नए सन्दर्भ की आवश्यकता है।

अणुव्रत एक विचार-क्रांति का दर्शन है। अणुव्रत कहता है कि कोई भी व्यक्ति धार्मिक बने या न बने, किन्तु उसका नैतिक बनना आवश्यक है। वास्तव में धार्मिक बनने का अधिकार उसी को प्राप्त होना चाहिए जो पहले नैतिक हो।

छलांग प्रकृति के राज्य में हो सकती है किन्तु मानवीय विकास स्तम्भ मे नहीं, किन्तु आज ऐसा हो रहा है। जीवन-निर्माण की दृष्टि से अणुव्रत की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य नैतिक अवश्य बनें। अणुव्रत यह भी कहता है कि मनुष्य भगवान् की पूजा करें या न करें, क्रियाकाण्डों में विश्वास रखें या न रखें, चलती हुई रूढियों का बहिष्कार करें या न करें, अणुव्रती बनने के लिए आचार्यश्री तुलसी को गुरु मानें या न मानें, परन्तु मनुष्य अच्छे मनुष्य बनें, नैतिक बनें, प्रामाणिक बनें। प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य होता है कि वह राष्ट्र के प्रति वफादार बने, प्रामाणिक बने।

हमने जिस देश में, जिस समाज में जन्म लिया है उनका हमारे पर बहुत बड़ा ऋण है। उस ऋण से हम तभी मुक्त हो सकेंगे, जबकि प्रामाणिक बनकर मानवीय विकास में, राष्ट्रीय विकास में एक कड़ी का काम करेंगे। कड़ी बनने से पहले हमें नैतिक बनना आवश्यक होगा। राष्ट्र में रहने वाले साधु-संन्यासियों का प्रमुख कर्तव्य होता है कि वे समाज में रहने वाले को प्रामाणिकता के संस्कार दें, जिससे देश की समृद्धि बढ़ सके। आज देश में बड़े-बड़े बांध बन रहे हैं। बांध पूरा नहीं बनने के पूर्व ही वह टूटने लग जाता है। कारण स्पष्ट है कि काम प्रामाणिकता से नहीं होता।

एक बार एक मकान बन रहा था, उसमें हमने देखा कि जहां पर सीमेंट लगी हुई है वह अभी तक पूरी सूखी भी नहीं है, उससे पहले टूटनी शुरू हो गई है। निरीक्षण करने पर ज्ञात हुआ कि जहां पर लेप लगा हुआ है उसमें नब्बे प्रतिशत तो बालू रेत है और दस प्रतिशत सीमेंट। ऐसी घटनाएं बहुत होती हैं। आप समाज में रहते हैं इसी लिए आप यथार्थ को ज्यादा भोगते हैं तथा आपको जीवन में अनेक समस्याओं का सामना

करना पड़ता है। व्यक्ति बाजार से घी, मिर्च, दूध, तेल इत्यादि वस्तुएं खरीदता है, किन्तु उसको विश्वास नहीं है कि मैंने शुद्ध वस्तु खरीदी है!

हम दिल्ली में थे, एक साधु तीन सूंठ के गठिएं गृहस्थी से लेकर आया। पीसने पर मालूम हुआ कि एक शुद्ध है और दो मिट्टी के है। यही स्थिति लौंग और काली मिर्च की हुई। यह तो क्या, आजकल जहर भी शुद्ध नहीं मिलता है। इसी सन्दर्भ मे एक सत्य घटना है—एक विद्यार्थी ने आत्म-हत्या करनी चाही। वह बाजार से खरीदकर एक जहर की पुड़िया लाया। उसने अपनी जीवन-लीला को समाप्त करना चाहा इसीलिए रात्रि में वह पुड़िया लेकर सो गया। जब वह प्रातः वापस उठा तो उसे दुःख हुआ कि आज के युग में शुद्ध जहर भी प्राप्त नहीं होता। आज जो यह ठगने का चक्रव्यूह चल रहा है उसमें जो एक बार फंस गया, वह जीता हुआ भी बाहर नहीं निकल सकता।

आज इस स्थिति का यथार्थ सबको भुगतना पड़ रहा है। जब एक व्यापारी रेलवे स्टेशन पर टिकट लेने के लिए जाता है तब रेलवे कर्मचारी रिजर्वेशनके लिए पांच रुपये अतिरिक्त मांगता है, तब उसके दिमाग में आता है कि कैसा जमाना आया है! वही व्यापारी जब अपनी दुकान पर बैठकर दूसरों को ठगता है तब यह सब भूल जाता है। जिस दिन उसका व्यापार ठीक ढंग से चलता है तब वह मन्दिर में जाकर भगवान के पास अर्चना करता है—हे भगवन! आज अच्छा व्यापार चला तो कल मैं आपको दो रुपए की मिठाई चढ़ाऊंगा। यह उपासना अप्रामाणिकता को बढ़ाने के लिए करता है। उपासना की यह कैसी विडम्बना है!

अध्यात्म-प्रधान देश के नागरिकों का यह चिन्तन, यह भावना न जाने पतन के लिए किस कगार पर खड़ी है। अतीतकाल में बाजार जो एक पवित्र, पुण्य स्थान माना जाता था, वहां पर समाज का कोई भी बूढ़ा-बच्चा ठगा नहीं जाता था, वहां पर आज चालाक से चालाक व्यक्ति भी ठगा करके आ जाता है। क्या इस स्थिति से देश का कल्याण सम्भव है? जो स्थान समाज के हृदय की पुण्यभूमि बनी हुई थी, वही पुण्यभूमि आज

लुटेरों का स्थान बना हुआ है। इन सारी स्थितियों में अणुव्रत एक विकल्प है। उसको प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करे। व्यक्ति के समाज में एक आदर्श प्राणी बनने के लिए यह आवश्यक है।

हम उपासना परलोक की प्राप्ति के लिए करते है, न कि वर्तमान सुख के लिए। इस मनोवृत्ति में जब परिवर्तन आ जायगा तब हिन्दुस्तान की पूंजी सुरक्षित रहेगी। हमारी नियोजित पूंजी का लाभांश नही मिल पाता। पिछले वर्षों में बीकानेर में जब अकाल पड़ा तब अकाल-पीडितों के लिए केन्द्रीय सरकार, राजस्थान सरकार तथा अन्यान्य मदद मिली, किन्तु ज्ञात हुआ कि उस मदद का चौथाई भाग भी काम नहीं आया। ज्ञात हुआ कि शप रुपया बंट गया, कहां बंट गया, जिनको आवश्यकता नहीं थी। जब तक हम समानता का, प्रेम का, धर्म का और ममता का पाठ नहीं पढ़ेंगे, तब तक समाजवाद नही दिखता। धर्म हमें समता का पाठ पढ़ाता है।

मानवता के निर्माण में अणुव्रत के संस्कार बहुत आवश्यक हैं तथा सामाजिक सभ्यता के लिए भी। हमारे सामने प्रश्न है रोटी और आस्था का। बिना रोटी के आस्था भी नही होती तथा बिना आस्था के रोटी भी भी नहीं मिलती अर्थात् किसी न किसी दशा मे आस्था का होना अपेक्षित है। किसी के लिए किसी का आलम्बन होना जरूरी है।

आज सुबह मैं बाहर जा रहा था। मार्ग में तोहरू की बेल को देखा। मैं लगातार देखता आ रहा हूं कि तोहरी की बेल बाड़ के ऊपर आ जाती है। किसान उस पर और बाड़ करता है, फिर भी वह ऊपर आ जाती है। यह क्रम पांच-छह बार चला। दोनों में प्रतिस्पर्धा चल रही है, आखिर विजय बेल की हुई। बेल को फैलने के लिए आलम्बन व सहारे की आवश्यकता है। संस्कृत कवि ने कहा है—अनाश्रयाः न शोभन्ते, पण्डिता वनिता लताः—पंडित, स्त्री और लता—ये आश्रय के बिना शोभित नहीं हो सकते। इसी प्रकार जीवनरूपी बेल को सहारा, आलम्बन की आवश्यकता है। आज युग में 'अणुव्रत' सहारा है। हिन्दुस्तानवासी सफलता चाहते है,

किन्तु उनके पास भित्ति नहीं है। मुख्य लक्ष्य होना चाहिए चरित्र का विकास। एक समय चरित्र साधन था, किन्तु आज उसे साध्य बनने की जरूरत है। अपेक्षा है अणुव्रत के महत्त्व को जीवन में आंकें। मानव-जीवन की न्यूनतम मर्यादा के लिए यह आवश्यक है। भेदरेखा लक्ष्य को बांट देती है किन्तु अणुव्रत एक शाश्वत तत्त्व है जो भेदरेखाओं को परस्पर मिलाता है। आज अणुव्रत का मूल्य समाज की आचार-संहिता की दृष्टि से हुआ है, किन्तु जीवन-दर्शन की दृष्टि से अपर्याप्त है। मैं आपको स्पष्ट कह देना चाहूंगा कि अणुव्रत को माने बिना राष्ट्र का उत्थान नहीं हो सकता।

अणुव्रत दर्शन विचार-क्रान्ति का दर्शन है। हम स्वयं का कल्याण करते हुए, दृढ़ संकल्पी बनते हुए दूसरों के लिए रश्मि खींच सकें तो स्वयं का भला होगा और हर क्षेत्र में उन्नति होगी।

क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?

'क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?' यह विषय जब सामने आता है तब सहज ही आचार्यश्री तुलसी की कृति का टाइटल सामने आ जाता है—'क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?' इस पुस्तक को हिन्दुस्तान के अनेक विद्वानों ने, बुद्धिजीवियों ने, चिन्तकों ने पढ़ा है और आपने भी पढ़ा होगा। यह प्रश्न प्राचीन भी है और तरोताजा भी है। सचमुच यह एक प्रश्न है क्योंकि मनुष्य के पास जानने के साधन हैं—इन्द्रिय, मन और बुद्धि। गीता में कहा है—

'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।'

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं—'यदि तू समझे कि इन्द्रियों को रोककर कामरूप वैरी को मारने की मेरी शक्ति नहीं है तो तेरी यह भूल है, क्योंकि इस शरीर से इन्द्रियां परे (श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म) हैं और इन्द्रियों से परे मन है और मन से परे बुद्धि है और जो बुद्धि से भी अत्यन्त परे है, वह आत्मा है।'

जिस लक्ष्य को प्राप्त करना होता है उसको प्राप्त करने के बाद अवकाश आ जाता है। जिस तरह उत्तरीय ध्रुव का छोर आगे देखा नहीं जा सकता है, क्योंकि वह श्वेत बर्फ़ से ढका हुआ है, वहां पर व्यक्ति सर्दी से ठिठुर जाता है—ठीक उसी प्रकार सूक्ष्म सत्य की अभेद दीवार को

चीर कर पार तक नहीं जाया जा सकता। क्या इस समस्या को बुद्धि के द्वारा हल किया जा सकता है ? हम बुद्धि के द्वारा ही बुद्धि का अतिक्रमण करते हैं। उससे आगे चले जाते हैं और बुद्धि का प्रामाण्य स्थापित करना चाहते हैं, बुद्धि को ही निर्णायक बनाना चाहते हैं। मैं मानता हूं कि बुद्धि एक सशक्त साधन है किन्तु अनुभव उससे भी बड़ा है।

आज का युग वैज्ञानिक युग है। उसमें हरेक बात प्रयोगसिद्ध की जाती है। कसौटी पर सिद्ध होने पर ही उसको प्रामाणिक मानते हैं। हमने यह यह क्यों मान लिया कि बुद्धि ही सर्वश्रेष्ठ और सुबोध प्रामाणिक है। जहां बुद्धि को अनुभव की कसौटी पर नहीं कसा जाता है वहां अवश्य ही कठिनाई पैदा होती है। एक सत्य घटना है—

एक इंजीनियर अपने परिवार सहित गांव से शहर की ओर जा रहे थे। रास्ता कच्चा था। शहर और गांव के बीच में एक बड़ी नदी पड़ती थी। नदी में पानी का सतह गहरा था, सब रुक गये। इंजीनियर ने सोचा कि मैं अभी देखता हूं कि नदी में चलकर उसको पार किया जा सकता है या नहीं? घरवालों ने मना किया। किन्तु साहब ने किसी की नहीं सुनी। इंजीनियर ने पहले पानी की गहराई को नापा और पश्चात् परिवार वालों की संख्या की गिनती की। गणित के हिसाब से अनुपात निकाला। अनुपात के अनुसार हल निकाला कि नदी को पार किया जा सकता है। उसने पिता, माता और छोटी बहन से नदी को पार करने के लिए कहा। सबने आनाकानी की, परन्तु विशेष आग्रह पर नदी में उतरने का तय किया। पिता, माता और बहन नदी में उतर गए। नदी की धारा में कुछ तेज बहाव आ गया और वे तीनों उसमें बह गए। अब वह घबराने लगा और उसने तत्काल हिसाब को देखा, किन्तु हिसाब ठीक था। वह गुनगुनाने लगा—

'हिसाब ज्यों का त्यों, कुनबा डूबा क्यों ?'

देखिए यह था बुद्धि का अतिक्रमण ! जैसा कि मैंने पहले ही कहा कि

बुद्धि एक सशक्त साधन है, किन्तु अनुभव उससे बड़ा है। बुद्धि एक तेज धार के समान है, उसमें खतरा भी है। हमने बुद्धि को तो सर्वश्रेष्ठ मान लिया तथा अनुभव और प्रयोग को गौण कर दिया।

मन, बुद्धि और इन्द्रियां—ये परोक्षानुभूति की भूमिका में हैं। हमने परोक्षानुभूति को तो प्रमुख मान लिया और प्रत्यक्षानुभूति को भुला दिया। जहां हमारा अनुभव नहीं होता वहां ज्ञान भी स्पष्ट नहीं होता। जहां सूक्ष्मता से नहीं देखा जाता वहां परोक्ष का क्षेत्र होता है। इन्द्रियां, मन और बुद्धि—ये सब परोक्ष ज्ञान की मर्यादा में आते हैं। उनमें हमारा अनुभव नहीं रहता है। दुःख इसी बात का है कि हम भारतीयों ने स्वसंवेदन और प्रातिभज्ञान को तो भुला दिया और केवल बौद्धिक ज्ञान को प्रमुखता दे दी। जब भी हम आगे पहुंचने की कोशिश करते हैं तो बीच में ही अटक जाते हैं, क्योंकि हमारे पास आगे अवकाश नहीं है। हमें केवल बुद्धि ही इष्ट है। अनुभव, प्रत्यक्षानुभूति नहीं। आचार्य सिद्धसेन ने मीमांसा करते हुए लिखा है—

'जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ, आगमे य आगमिओ।
सो ससमयपण्णवओ सिद्धंतविराहओ अन्नो ॥'

—'जो व्यक्ति आगम के क्षेत्र में श्रद्धा से काम लेता है, तर्कवाद में तर्क से काम लेता है वही सम्यग् निरूपण करने वाला होता है।'

ठीक उसी तरह मनुस्मृति में भी लिखा है—

'यस्तर्केणानुसंधत्ते स वेदं वेद नेतरः

—'जिसने तर्क के द्वारा जानना चाहा उसने जाना।'

यह तर्क, बुद्धि—सब परोक्ष की भूमिका में चलते हैं। हमारे सामने प्रश्न है—'क्या धर्म बुद्धिगम्य है?' क्यों नहीं ? सचमुच है। धर्म का उद्गम प्रत्यक्षानुभूति के अजस्र स्रोत से प्रवाहित हुआ है, किन्तु उससे विच्छिन्न होकर वह बुद्धि के सहारे भी चलता है।

प्रश्न होता है कि धर्म क्या है ? हमने इसको किस अर्थ में स्वीकार

किया है ? क्या यही धर्म है कि प्रातःकाल उठकर प्रार्थना करना, मध्याह्न में क्रियाकाण्ड करना और रात्रि में उपासना करना ! यह सब तो क्रियाकाण्डों का वर्गीकरण है, धर्म की चिनगारियां और प्रतिबिम्ब है। मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि क्या आपने इसी को ही धर्म मान लिया ? हमें मूल तक पहुंचना है। हमने धर्म को समझा नहीं और केवल उसके नाम को पकड़ लिया है। 'धर्म क्या है ?' मेरी दृष्टि में साहित्यिक शब्दों में धर्म की यह परिभाषा उपयुक्त होगी—

- धर्म हमारे जीवन का वह आलोक है जो हमारी इन्द्रियों को, मन को और बुद्धि को आलोकित करता है, प्रकाश से भर देता है।
- धर्म वह है जो हमारे जीवन की अन्धकारमय संस्कारों की परतों को प्रकाशमय बना दे।
- धर्म वह है जो इन्द्रियों को, बुद्धि को और मन को निर्मल बनाता हो।
- धर्म वह है जो इन्द्रिय, बुद्धि और मन को शक्तिशाली बनाता हो।

कोई भी व्यक्ति अन्धकार की गुफा में नहीं रहना चाहता, कोई भी व्यक्ति अज्ञानी रहना नहीं चाहता तथा कोई भी शक्तिशाली व्यक्ति वीर्यहीन नहीं बनना चाहता। सब व्यक्ति प्रकाशी, ज्ञानी और वीर्यवान बनना चाहते हैं।

मनुष्य ने जो आविष्कार किए हैं, वे किसलिए ? आविष्कार इसलिए किए कि उसे सहायता मिले। आज बिजली का आविष्कार हुआ—प्रकाशपूर्ति के लिए। डॉक्टरों ने टॉनिकों का आविष्कार किया जिससे विभिन्न तत्त्वों की पूर्ति हुई। जो आविष्कार हुए हैं उनका कुछ न कुछ उपयोग तो है ही।

साधन और साध्य दो होते हैं। हमने साधन को धर्म मान लिया है। हम उसको अस्वीकार करते हैं जो धर्म के परिपार्श्व में घटित नहीं होता। आज धर्म-ग्रन्थों की, धर्माचार्यों की, संन्यासिओं की आलोचना होती है कि उस साधु ने यह खा लिया, उसने ऐसा पहन लिया, उसने ऐसा कर

लिया, बस इन्हीं कारणों से उसकी धर्म से अनास्था हो जाती है। मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि क्या यही हमारा धर्म है ? क्या यही धर्म की समझ हैं ? क्या यही धर्म की अनुभूति है ? अगर आपने इसी को ही धर्म मान लिया है तो आपने अभी तक अपने जीवन में धर्म को सही रूप से समझा ही नहीं। आज धर्म को समझने वाले 'आनुवंशिक' ज्यादा होते है। हमें धर्म के द्वारा जो लाभ होना चाहिए वह नही मिल पाता। कारण स्पष्ट है कि हमने धर्म के सही स्वरूप को नहीं समझा। धर्म मे जो ऊर्जा, शक्ति है, उसका उपयोग नही किया, यही कारण है कि आज हमारे सामने फिर वही प्रश्न है--'क्या धर्म बुद्धिगम्य है ?'

आज का मनुष्य आवेगों से घिरा हुआ है। मानसिक आवेग उसे सत्य के पास पहुंचने नही देते। वह ज्यों-ज्यों उनसे दूर जाना चाहता है, त्यों-त्यो वे उसको आ घेरते हैं। मानसिक आवेग अवचेतन मन को प्रभावित करते है और उनसे अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। होमियोपैथिक प्रवर्तक डॉ० हेनिमन ने अपनी प्रारम्भिक भूमिका में लिखा है कि रोग कीटाणु से पैदा नही होते है। उन्होंने बीमारी का मूल अवचेतन मन माना है। जब हमारा रोग अवचेतन मन तक पहुंच जाता है तब बीमारी पैदा होती हैं। आज तो मनोवैज्ञानिक ने भी यह प्रमाणित कर दिया है। यही चरक में लिखा है कि—काम, क्रोध, लोभ आदि आवेगों से रोग पैदा होते हैं। व्यक्ति कोढ़ी क्यों होता है ? इसलिए कि वह दूसरों से घृणा, ईर्ष्या करता है। यह सच है कि जहां ईर्ष्या की तीव्र भावना पैदा होती है वहां अवश्य ही छुआछूत का रोग होता है। मनोवैज्ञानिको ने तो यह सिद्ध भी कर दिया है कि पचास प्रतिशत बीमारियां मानसिक अपवित्रता के कारण होती हैं। सन्त तुलसीदासजी ने भी रामायण के अन्तिम भाग में लिखा है कि—'मानसिक दोषों के कारण बीमारियां पैदा होती हैं।' यह भी तो सच है कि स्वभाव चिड़चिड़ा होने के कारण क्रोध आता है और क्रोध आने के कारण आंतों पर जोर पड़ता है। हम देखेंगे कि क्रोध के कारण मन के स्वभाव पर क्या असर पड़ता है तथा उसका निष्कर्ष क्या

पूछनेवाले तपस्वी को उत्तर से प्रकाश मिल गया।

आज तो यह भी सिद्ध हो चुका है कि स्त्री को ज्यादा 'हार्ट अटेक' नहीं होता, क्योंकि वह जल्दी ही रो जाती है और मनुष्य को इसलिए होता है कि उसे अहं है कि मैं मनुष्य हूं इसीलिए रोऊंगा नहीं। अतः जब हम धर्म को सही दृष्टि से प्राप्त करना चाहेंगे तो हमारे सामने प्रत्यक्षानुभूति का मार्ग खुलेगा। आज हमारी बुद्धि परोक्षानुभूति पर स्थिर हो रही है। चाहे हमारी बुद्धि प्रत्यक्षानुभूति कर सके या नहीं, गहराई तक पहुंच सके या नहीं, किन्तु धर्म की पारिपार्श्विक भूमिका में अवश्य चले।

धर्म का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

एक बार स्वर्ण ने स्वर्णकार से कहा—तुम मुझे अग्नि में डालते हो, इसका मुझे दु.ख नही। लोहे से मुझे पीटते हो, इसका भी मुझे विशेष दुःख नहीं। लेकिन दुःख इस बात का है कि तुम मुझे चिरमियों के साथ तोलते हो। ठीक यही वेदना समझदार व्यक्ति के मन में होती है जब वह यह सुनता है कि धर्म अफीम की गोली है या निकम्मी चीज़ है। किन्तु मेरी यह मान्यता है कि व्यक्ति श्वास के विना जी सकता है (चाहे कुछ क्षण तक ही सही), लेकिन धर्म के बिना दो क्षण भी जीवित नहीं रह सकता।

धर्म की परिभाषा समझने में अनेक बार हमारे सामने कठिनाइयां आ जाती हैं। दर्शन की भाषा मे धर्म की परिभाषा है—आत्मा की शुद्धि ही धर्म है। साहित्य की भाषा में धर्म की परिभाषा है—जिसके द्वारा ज्ञान, आनन्द और शक्ति का विकास हो, वही धर्म है। मनोविज्ञान की भाषा में धर्म की परिभाषा है—समता।

प्रश्न है—मनोविज्ञान क्या है ? दूसरे के मन के भावों को जानने का साधन ही मनोविज्ञान है। प्राचीन समय में भारतवर्ष में योगविद्या का बहुत बड़ा महत्त्व रहा है। पूर्वाचार्यों ने हज़ारों वर्षों तक अध्ययन करके अनेको उपलब्धियां प्राप्त की थीं। लेकिन मनोविज्ञान एक नई शाखा है। आज मनोविज्ञान अनेक प्रवृत्तियों में बहुत उपयोगी प्रमाणित हुआ है। शिक्षा, स्वास्थ्य एवं अन्य अनेक प्रवृत्तियों में इसकी उपयोगिता सर्वविदित है।

समता धर्म है और विषमता अधर्म। यह एक कसौटी है। एक जमाना था अर्थवाद का। लोग किसी भी चीज को बढ़ा-चढ़ाकर कहते थे। जैसे अगर तुम क्रोध करोगे तो काले हो जाओगे, किसी को पीटोगे तो हाथ में कांटे उग आयेंगे, पाप करोगे तो नरक में जाओगे या अमुक काम करोगे तो स्वर्ग में जाओगे आदि-आदि। लेकिन आज वह स्थिति नहीं रही। आज का बुद्धिवादी इन बातों का विश्वास नही करेगा। लोकमान्य तिलक को पुस्तकों से बेहद प्यार था। उन्होंने एक बार कहा था—'अगर मैं नरक में भी जाऊं और वहां मुझे पुस्तकें मिल जाएं तो मैं स्वर्ग की कामना नहीं करूंगा, वही मेरे लिए स्वर्ग बन जायेगा।' आज व्यक्ति नरक से डरते नहीं हैं। आचार्य हरिभद्र ने तीन प्रकार के व्यक्ति बताये हैं—मन्द, मध्यम और प्राज्ञ। तीनों को अलग-अलग तरीकों से समझाया जाए। मन्द व्यक्ति को कहें—अगर तुम बुरा काम करोगे, पाप करोगे तो नरक में जाओगे। मध्यम व्यक्ति को वस्तु-स्थिति समझाई जाए—यह काम बुरा है ऐसा करने से तुम्हारा अहित होगा। और प्राज्ञ व्यक्ति को तत्त्व क्या है, यह समझाने की आवश्यकता है। कौन-सा काम करने से किस प्रकार की प्रतिक्रिया होगी, यह समझ लेने पर प्राज्ञ व्यक्ति स्वतः सही मार्ग अपना लेता है।

जैसे, हम क्रोध को लें। क्रोध का क्या असर होता है हमारे मन, वचन व शरीर पर? साधारण व्यक्ति स्वयं इसका अनुमान नही लगा सकता, किन्तु इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर हम देखेंगे कि क्रोधी व्यक्ति का रक्त विषमय बन जाता है। क्रोध में डूबी हुई माता द्वारा बच्चे को स्तन-पान कराने पर कभी-कभी बच्चे की मृत्यु हो जाने के उदाहरण भी सामने आये हैं। घृणा से आंतों में छाले हो जाते हैं, दस्त लगने लगते हैं। ईर्ष्या से घाव व मुंह में छाले हो जाते हैं। यहां तक कि नब्बे प्रतिशत बीमारियां मानसिक अशुद्धि की उपज हैं और दस प्रतिशत शारीरिक। आयुर्वेद का मत है कि क्रोध, मान, लोभ, ईर्ष्या व भय आदि से मन्दाग्नि हो जाती है। जो रस बनता है वह कभी कम और कभी अधिक बनने

लगता है, इसके कारण पाचन पर भयंकर प्रभाव पड़ता है। क्रोध, भय, लोभ आदि दुर्गुणों के कारण अनेक बार मृत्यु तक हो जाती है।

इन सब बुराइयों और दुर्गुणों का प्रतिकार मनोवैज्ञानिक ढंग से किया जाए। इसलिए हमें धर्म की ओर मुड़ना पड़ेगा। लेकिन केवल रूढ़ि निभाना ही धर्म नहीं है। सामयिक का अर्थ समझे बिना एक मुहूर्त तक मुखवस्त्रिका लगाकर बैठे रहना ही सामायिक नहीं है। सामायिक का अर्थ है समता। मन-रूपी घोड़े पर लगाम लगाये बिना, बड़ाई, निन्दा आदि विचारों व राग-द्वेष आदि भावों पर रोक लगाये बिना शुद्ध सामायिक का फल भी कहां से प्राप्त होगा ?

एक मनुष्य के मन की बात दूसरा मनुष्य ताड़ लेता है। कभी-कभी किसी व्यक्ति को देखकर स्वत: स्नेह पैदा होता है और कभी-कभी किसी देखकर भय या दुर्भावना पैदा होती है। हम भावनाओं को चाहे कितना ही दबाएं, परन्तु वे अपने आप दूसरे व्यक्ति में प्रतिबिम्बित हो ही जाती हैं। राजा सवारी पर बाज़ार से जा रहा था। एक बनिये को देखा। राजमहल में जाकर राजा ने मंत्री को बुलाया। आज्ञा दी—उस बनिये को देश-निकाला दे दो। मंत्री ने कहा—राजन् ! बिना कसूर किसी को दण्डित करने से प्रजा में बदनामी फैल जायेगी। राजा नहीं माना। मंत्री बनिये के घर गया। पूछा—क्या काम कर रहे हो ? बनिये ने कहा—चन्दन का कारबार है। मंत्री ने बनिये से सारा चन्दन खरीद लिया। बनिया तो यही चाहता था, क्योंकि अचानक चन्दन का भाव गिर गया था और आज उसे मनचाहे दाम मिल गये। दूसरे दिन फिर सवारी निकली। राजा ने इस बनिये को फिर देखा, लेकिन आज उसके मन में बनिये के प्रति दया के भाव उत्पन्न हुए। राजा ने मंत्री से सारी बात कही। मंत्री ने बनिये को बुलाया। तुम्हारे मन में कल और आज जो भी भाव थे, मुझे स्पष्ट बता दो। पहले तो वह डरा, किन्तु अन्त में उसने कहा—'मेरे पास चन्दन था। कल आपको देखकर मेरे जी में आया कि अगर राजा की मृत्यु हो जाए तो सारा चन्दन बिक जाए। कल मेरा चन्दन खरीद लिया गया तो मैं निश्चिन्त

हो गया। आज आपको देखकर भाव आया—आप चिरायु रहें।' इससे यह स्पष्ट होता है कि एक के मन की भावना दूसरे पर कितना असर करती है।

धर्मशास्त्रियों ने इसीलिए कहा है कि किसी के प्रति बुरा विचार मत लाओ, नहीं तो आत्मा का पतन हो जायेगा और अकारण उसके साथ शत्रुता हो जायेगी। मन में जो भी बुरे भाव उठते हैं, तत्काल उनका दमन करो। मानसिक संकल्प-विकल्प के सम्बन्ध में एक घटित घटना है। एक करोड़पति परिवार की महिला अंगुली में हीरे की अंगूठी पहने थी। अचानक मन में एक दिन आया—इस अंगूठी को खा जाऊं। आठ-दस दिन बाद सोकर जब उठी तो देखा—अंगूठी नहीं है। खोज की गयी, लेकिन अंगूठी नहीं मिली। अचानक उसे अपनी विगत भावना याद आयी। अपनी सास से सारी बात कही। उसका एक्स-रे करवाया गया। भीतर अंगूठी मिल गयी। कहने का तात्पर्य है कि मन की अनेक विचित्र बातें हमारे सामने आती रहती हैं। आवश्यकता है अन्वेषण की कि ऐसा क्यों होता है ?

धर्म क्या है ! आज के युग में उसकी परिभाषा सीमित शब्दों में नहीं की जा सकती। मूल तत्व है कषाय-मुक्ति। जो व्यक्ति इससे मुक्त होता है, वही सही अर्थ में धार्मिक है। क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, घृणा, हीनभावना की मनोवृत्ति आदि अधर्म है। धर्म उनके मन में टिकता है, जो शक्तिशाली हैं, पवित्र हैं, भय-रहित हैं। अभय धर्म है, समता धर्म है, क्षमाशीलता धर्म है, दूसरों की उन्नति देखकर सबके विकास की इच्छा करना धर्म है, मित्रता की भावना का विकास करना धर्म है। क्रोध नहीं करना, ऋजुता, सरलता, सन्तोष धर्म है। दुनिया में कौन समर्थन नहीं करेगा इस परिभाषा का ?

जैन नवकार मंत्र का पाठ करता है तो वैदिक गायत्री का। एक मुसलमान कुरान का पाठ करता है तो ईसाई बाइबिल का। यह भेद आ सकता है, लेकिन उपर्युक्त बातों के लिए किसी में अन्तर नहीं आयेगा। ये

बातें सम्प्रदायातीत है। धर्म हमारे लिए शरण देने वाला है, लेकिन लोग आज धर्म का उपयोग करना नहीं जानते।

'धार्मिक व्यक्ति बीमार नहीं हो सकता'—यह एक तथ्य है। तत्काल प्रश्न होता है—साधु-साध्वियां बीमार क्यों होते है? सीधा-सा उत्तर है—वे सिद्ध तो नहीं हैं। धर्म का पालन तो करते है, लेकिन पूर्णता तो नहीं आयी है। वे धर्म की ओर बढ़ रहे हैं। जिस दिन वीतराग की स्थिति पर पहुंचेंगे उस दिन बीमारी न आयेगी और न टिकेगी। मन की दुर्बलता के साथ बीमारियां आती है। थोड़ी-सी अवस्था हुई, इन्जेक्शन व दवाइयों की भरमार शुरू हो जायेगी। आदमी उनसे अधमरा तो वैसे ही हो जायेगा। कितना जहर ठूंस दिया जाता है बात-बात में, चाहे बाद में उसका कितना ही व किसी तरह का उल्टा असर (रिएक्शन) क्यों न हो। होमियोपैथीक के आविष्कारक हेनीमेन ने कहा था—मनुष्य की बीमारी उसके मन में नहीं, उससे भी गहरी उसकी आत्मा में है।

कहने का अर्थ है, धर्म का विश्लेषण सही दृष्टिकोण से किया जाए और वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसका अध्ययन किया जाए तो निश्चित रूप से आपको स्वस्थ व सुखी जीवन बिताने का साधन मिल जायेगा। दार्शनिक, साहित्यिक व मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम धर्म को समझें, विषमता को छोड़ें और समता को ज्यादा-से-ज्यादा ग्रहण करें।

धर्म : समस्या के संदर्भ में

संसार समस्या से व्याकुल है। इसमें बोलना भी समस्या है, सुनना भी समस्या है और न बोलना भी समस्या है। और शायद नहीं सुनना भी समस्या है। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं होगा जो सोचता है, समझता है और जिसके सामने समस्या नहीं है। यह संभव नहीं है। क्योंकि हम कुछ व्यक्तिगत जीवन जीते हैं और कुछ सामाजिक जीवन जीते हैं। व्यक्ति का अपना मत है, अपनी चेतना है और अपना चिंतन। उसके साथ समस्याएं जुड़ी हैं। सामूहिक चेतना समस्याओं का घर है। दो बना और समस्या को जन्म दे दिया। दो होने का मतलब ही समस्या है। दो होने के अतिरिक्त कोई समस्या नहीं है। चाहे अतीत को देखिए, चाहे वर्तमान को देखिए और चाहे भविष्य को, कोई भी काल ऐसा नहीं मिलेगा जो समस्या से मुक्त हो। आज कोई नयी बात नहीं है और मैं आपको कोई नयी बात नहीं कह रहा हूं। सिर्फ एक स्मृति दिला रहा हूं कि समस्या हमारे जीवन का अभिन्न अंग है, अनिवार्य अंग है।

आप चाहे जंगल में चले जाइए, समस्याओं से मुक्ति नहीं पा सकते। एक आदमी जंगल की ओर भागा जा रहा था। रास्ते में कोई व्यक्ति मिला। समझदार था। उसने पूछा, 'भागे क्यों जा रहे हो? कहां जा रहे हो?' उसने कहा, 'जंगल में जा रहा हूं। कुछ खोज रहा हूं।' 'किसलिए खोज रहे हो?' 'शहर में गंदगी बहुत है। जंगल में शान्ति और शुद्धि है, गंदगी नहीं है।' उस आदमी ने कहा—'जब तक तुम नहीं जाते हो, तब

तक शुद्धि है, सफाई है। तुम्हारे पहुंचते ही वहां भी गंदगी हो जाएगी।'

जहां मनुष्य पहुंचा, वहा गंदगी हो गयी। भूत में थी, वर्तमान में है और भविष्य में होगी। जहां मनुष्य नही पहुंचा, वहां कोई गंदगी नहीं है। जहां मनुष्य पहुंचा, वहां समस्या उत्पन्न हो गयी। तो फिर आज नयी बात क्या है? आज की समस्या नयी क्या है? मैं भी सोच रहा हूं और आप भी सोचते होंगे। आज की सबसे बड़ी समस्या है—गरीबी। चुनाव चल रहा है। घोषणापत्रों में सबसे पहली बात आती है कि यदि हमारी सरकार बन गयी तो हम गरीबी को मिटा देंगे।

मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि क्या अतीत में गरीबी नहीं रही है? क्या कोई भी अतीत ऐसा रहा है जब मनुष्य समाज रहा हो और गरीबी न रही हो? ऐसा कोई भी समय नहीं रहा। जिसको हम स्वर्णयुग कहते हैं, उस युग में भी गरीबी प्रचुर मात्रा मे रही है तो फिर आज नयी बात क्या है? आज मकान की समस्या है तो पुराने जमाने में भी मकानों की कमी रही है। पर आज समस्या क्या है? मुझे लगता है कि आज एक नयी समस्या पैदा हो गयी है। आज समस्या के प्रति मनुष्य अधिक जागरूक हो गया है। यह सबसे बड़ी समस्या आज की है। मनुष्य पहले सजग नहीं था समस्याओं के प्रति। इतना जाग्रत नही था अपने अधिकारों के प्रति। मनुष्य इतना सोचता नही था अपने स्वामित्व के प्रति। एक युग था धारणाओं का। और वे धारणाएं धर्म के नाम से चल रही थीं। भगवान् ने जिस कुल मे पैदा कर दिया, जिस कुल में पैदा है, वही काम करना है। गरीबी मिली है तो गरीबी को भोगना है और अमीरी मिली है तो अमीरी को भोगना है। बेचारा क्या कर सकता है? यह अनुभूति थी। यह चिंतन और विचार था। इस चिंतन ने न जाने कितनी समस्याओं को अपने आप में ग्रस लिया। समस्याए क्षीण हो गयीं। मनुष्य ने एक नियति का अनुभव किया। एक परम सत्ता का अनुभव किया। परम सत्ता की इच्छा पर अपने आपको न्योछावर कर दिया। किन्तु आज का चिंतन बहुत बदल गया है। आज का आदमी इस भाषा में नहीं सोचता कि मेरे भाग्य में गरीबी

लिखी है और मैं गरीवी भोगने के लिए जन्मा हूं । मैं गरीव वना रहूं और उसे भोगता चला जाऊं ? आज ऐसा वही आदमी सोच सकता है जिसका मस्तिष्क अविकसित है। जिसने वर्तमान युग को नही समझा, जिसने वर्तमान चेतना को नही समझा और जिसमें सत्य धर्म की या यथार्थ धर्म की चेतना जागृत नही हुई, वही आदमी ऐसा सोच सकता है।

आज कर्मवाद का अर्थ कितना वदल गया है, धर्म का अर्थ कितना वदल गया है और मनुष्य का अपना अर्थ भी कितना वदल गया है। आज कोई भी वड़ी समस्या हमारे सामने उभरकर आती है, सवका ध्यान उस ओर चला जाता है। वुद्धि का विकास हुआ है । वुद्धि का विकास होना वहुत वड़ी समस्या है।

पशु के लिए समस्या क्या है ? कोई भी समस्या नहीं है। जो समस्या होती है उसे भी वे नही जानते कि हमारे लिए कोई समस्या है। अनुभव भी नही करते। किन्तु मनुष्य के लिए समस्या है, क्योंकि वह पशु नही है और पक्षी भी नहीं है। उसकी चेतना जागृत है। जागृत चेतना में समस्या जब उभरकर आती है तो वहुत ही विकराल वन जाती है। मनुष्य मे वुद्धि का विकास है। वर्तमान शताब्दी में वुद्धि का विकास हुआ, समस्या नग्न रूप मे मनुष्य के सामने प्रस्तुत हो गयी। समस्या का होना कोई वुरी वात नही। मैं तो यह मानता हूं कि जव समस्याएं हमारे जीवन में न हों तो शायद हमारा जीवन निकम्मा और निठल्ला हो जाएगा, किसी काम का ही नही रहेगा। जिस जीवन मे समस्या नहीं, वह जीवन ही कैसा ?

कल ही एक भाई सुना रहा था। आंधी वहुत तेज आ रही थी। वगीचे मे छोटे-छोटे पौधे जो लगाए गए थे, कांप रहे थे। भाई ने माली से कहा--'पौधे कांप रहे हैं, कहीं ऐसा न हो कि उखड़ जाएं। तुम पौधों के साथ वांस को वांध दो जिस से कि वे उखड़ें नहीं।' माली ने सुना और हंस दिया। उसने पूछा—'तुम हंसते क्यों हो ?' माली ने कहा—'कोई वात नहीं। मैं आपकी आज्ञा का पालन करूंगा।' भाई ने पूछा—'फिर भी तुम अपने हंसने का कारण तो वताओ।' मालिक वोला—'वावूजी ! आप नहीं जानते

हैं। जब तक हवा के झोंके नहीं लगेंगे, पौधों की जड़ें मजबूत नहीं होंगी, ताकत नहीं पकड़ेंगी। झोंके खाने से शायद दो-चार पौधे उखड़ेंगे और नहीं खाने से सारे के सारे पौधे उखड़ जाएंगे।'

जो व्यक्ति समस्या के झोंके नहीं खाता उसकी जड़ भी मजबूत नहीं होती। उसी व्यक्ति की जड़ मजबूत होती है जो समस्या के झोंकों को खाता रहता है। तो क्या व्यक्ति को यह कामना करनी चाहिए कि उसके जीवन में समस्या न आए ? क्या कोई व्यक्ति यह कामना करे कि उसका जीवन समस्या से मुक्त हो जाए ?

समस्याओं से मुक्त होना अपने हाथों और पैरों को निकम्मा करना है। कोई भी व्यक्ति अपने हाथों और पैरों को निकम्मा करना नहीं चाहता है। हर व्यक्ति यही चाहता है कि उसका पुरुषार्थ बराबर बना रहे।

समस्याओं से कोई व्यक्ति मुक्त होता नहीं और होना चाहता भी नहीं। किन्तु बुद्धि हमारी बहुत तीक्ष्ण होती है, बहुत पैनी होती है। वह समस्या को इस प्रकार सामने ला देती है कि आदमी घबरा जाता है और दूसरी बात यह है कि बुद्धि समस्या को इतनी उग्र बना देती है कि वह अपने लिए ही नहीं, बहुत बार दूसरों के लिए भी खतरा बन जाती है। इस स्थिति में हमें जरा सोचना पड़ता है कि यह क्या है ? क्या समस्याओं को ऐसे ही उभरने दें या उसके उफान पर छींटा डालें। दूध गर्म होता है तो उफनता है। उफनना उसका स्वभाव है और उफनकर बाहर आना भी उसका स्वभाव है। किन्तु कोई भी आदमी दूध को निकम्मा जाना पसन्द नहीं करता, बाहर जाना पसन्द नहीं करता। पानी के कुछ छींटे डाल देता है, दूध शान्त हो जाता है।

क्या हमारे पास भी समस्याओं के उफान पर छींटा देने के लिए कुछ है ? वह है धर्म। यदि समस्याएं उभरती हैं और उनमें उफान आता है, उफान पर यदि थोड़े-से छींटे डाल दिए जाएं तो वह शान्त होकर रह जाता है। मिटाने की जरूरत नहीं है। दूध को कैसे मिटाना है ? दूध को पीना है। दूध पुष्टि देता है। समस्याएं भी हमें पुष्टि देती हैं। उन्हें मिटाना

नहीं है। मिटाने का अर्थ नहीं है। केवल जो उफान आता है, उस उफान पर थोड़े से छींटे डाल देना है। वह है हमारे चित्त का निर्माण।

बुद्धि का जब कोरा निर्माण होता है, खतरा पैदा होता है। उसके साथ चित्त का निर्माण होता है, तब वह खतरा टल जाता है, और वह व्यापक बन जाता है। धर्म की शोध बुद्धि के खतरे से बचने के लिए व्यक्ति ने की थी। यदि बुद्धि का खतरा नहीं होता तो शायद धर्म का शोध करने की कोई जरूरत नहीं होती। बुद्धि अपने विकराल रूप में, भयंकर रूप में विस्फोट पैदा न करे, इस स्थिति से बचने के लिए धर्म की खोज की गयी, शोध की गयी, जिससे कि बुद्धि पर थोड़ा-थोड़ा अंकुश बराबर बना रहे।

बुद्धि जितनी भयंकर होती है उतना भयंकर शायद दुनिया में दूसरा और कोई नहीं होता। आप मानते हैं कि शस्त्र भयंकर होते हैं, उद्जन बम भयंकर होते हैं। किन्तु इनका निर्माण किसने किया? परमाणु बम का उत्पादक कौन है? अस्त्रों-शस्त्रों को उत्पन्न करने वाला कौन है? उसका निर्माता कौन है? निर्बुद्धि ने नहीं किया। सारी समस्याओं को उत्पन्न करने वाली है मानवीय बुद्धि। बुद्धि ने ही सब कुछ उत्पन्न किया है। तो फिर जिस बुद्धि ने शस्त्र का निर्माण किया, क्या वह बुद्धि शस्त्र को समाप्त कर सकती है?

आजकल निःशस्त्रीकरण की बात चलती है। जो बुद्धि शस्त्र का निर्माण करने वाली है, वह बुद्धि कभी शस्त्र का विध्वंस नहीं कर सकती। वह कभी निःशस्त्रीकरण नहीं कर सकती। कोई और चीज यह कर सकती है। वह है हमारी चेतना का निर्माण, हमारे चित्त का निर्माण या हमारी धार्मिक चेतना का निर्माण। उसके आने पर ही बुद्धि का दोष मिट सकता है, वैसे ही नहीं मिट सकता। कलम का काम लिखना है। आदमी बुद्धि के साथ लिखता है, इसलिए वह कलम भी शस्त्र बन जाती है।

एक ग्रामीण जाट था। पढ़ा-लिखा नहीं था। सेठजी की दूकान पर गया। माल बेचना था। सेठजी बैठे थे। उनके कान पर कलम थी, वह नीचे गिर गई। किसान तत्काल बोला—'सेठजी! आपकी छुरी नीचे गिर

गई।' सेठजी ने चौंककर कहा—'कैसा मूर्ख है! मैं बनिया हूं। अहिंसक हूं। छुरी को छूता भी नहीं हूं और तू कहता है कि छुरी नीचे गिर गई। यह कैसे हो सकता है?' जाट बोला—'सेठजी! यह पड़ी है।' सेठजी ने कहा—'मूर्ख! जानता नहीं, यह कलम है।' जाट ने कहा—'सेठजी! आपके लिए यह कलम हो सकती है, हमारे लिए तो यह छुरी है, क्योंकि हमारे गले पर तो यही चलती है।'

बुद्धि के साथ जुड़कर कलम भी छुरी बन जाती है। बुद्धि का संसर्ग होता है, कुछ से कुछ बन जाता है। लोग कहते हैं कि पारस का स्पर्श पाकर लोहा सोना बन जाता है। पता नहीं ऐसा होता है या नहीं परन्तु बुद्धि का स्पर्श पाकर तो हर चीज भयानक बन जाती है और सांप की तरह हमारे सामने फुफकारने लग जाती है। बुद्धि के सामने यदि धार्मिक चेतना का निर्माण न हो तो बुद्धि सचमुच भयंकर बन जाती है। वर्तमान की समस्या है और समस्या हमेशा वर्तमान की ही होती है। अतीत की बीत जाती है, उससे हमारा कोई वास्ता नहीं। भविष्य की अनागत होती है, वह हमें सताती नहीं है। व्यक्ति को हमेशा वर्तमान की समस्या सताती है। वर्तमान ही उबरता है और वर्तमान ही मारता है। हमारे लिए सारे उपायों का केन्द्र-बिन्दु वर्तमान होता है। वर्तमान की समस्या के सन्दर्भ में यह बहुत सत्य बात है कि यदि हमारी धार्मिक चेतना का निर्माण नहीं होता है तो बुद्धि हमारे लिए बहुत खतरनाक बन जाती है। इसलिए धर्म को बढ़ना है। हमारे लिए एक कठिनाई है, और आज के भारत के धर्म की बहुत बड़ी कठिनाई यह है कि हम धर्म करते हैं, परन्तु समस्याओं को सुलझाने के लिए धर्म नहीं करते, मात्र प्रलोभन के लिए धर्म करते हैं। भय के कारण धर्म करते हैं। एक भय घुस गया नरक का। आदमी नरक से बचना चाहता है और इसलिए वह धर्म करता है। एक प्रलोभन घुस गया स्वर्ग का, सुख का। अगले जन्म में सुख पाने के लिए व्यक्ति धर्म करता है। अगर भय और प्रलोभन—ये दोनों मन से निकाल दें तो शायद यहां इतने लोग बैठे हैं, उपासना करने के लिए, पीछे कौन बचेगा, यह मैं नहीं कह सकता। बहुत

नहीं है। मिटाने का अर्थ नहीं है। केवल जो उफान आता है, उस उफान पर थोड़े से छींटे डाल देना है। वह है हमारे चित्त का निर्माण।

बुद्धि का जब कोरा निर्माण होता है, खतरा पैदा होता है। उसके साथ चित्त का निर्माण होता है, तब वह खतरा टल जाता है, और वह व्यापक बन जाता है। धर्म की शोध बुद्धि के खतरे से बचने के लिए व्यक्ति ने की थी। यदि बुद्धि का खतरा नही होता तो शायद धर्म का शोध करने की कोई जरूरत नही होती। बुद्धि अपने विकराल रूप में, भयंकर रूप में विस्फोट पैदा न करे, इस स्थिति से बचने के लिए धर्म की खोज की गयी, शोध की गयी, जिससे कि बुद्धि पर थोड़ा-थोडा अंकुश बराबर बना रहे।

बुद्धि जितनी भयंकर होती है उतना भयंकर शायद दुनिया में दूसरा और कोई नहीं होता। आप मानते हैं कि शस्त्र भयंकर होते है, उद्‌जन बम भयंकर होते है। किन्तु इनका निर्माण किसने किया? परमाणु बम का उत्पादक कौन है? अस्त्रों-शस्त्रों को उत्पन्न करने वाला कौन है? उसका निर्माता कौन है? निर्बुद्धि ने नही किया। सारी समस्याओं को उत्पन्न करने वाली है मानवीय बुद्धि। बुद्धि ने ही सब कुछ उत्पन्न किया है। तो फिर जिस बुद्धि ने शस्त्र का निर्माण किया, क्या वह बुद्धि शस्त्र को समाप्त कर सकती है?

आजकल निःशस्त्रीकरण की बात चलती है। जो बुद्धि शस्त्र का निर्माण करने वाली है, वह बुद्धि कभी शस्त्र का विध्वंस नहीं कर सकती। वह कभी निःशस्त्रीकरण नहीं कर सकती। कोई और चीज़ यह कर सकती है। वह है हमारी चेतना का निर्माण, हमारे चित्त का निर्माण या हमारी धार्मिक चेतना का निर्माण। उसके आने पर ही बुद्धि का दोष मिट सकता है, वैसे ही नहीं मिट सकता। कलम का काम लिखना है। आदमी बुद्धि के साथ लिखता है, इसलिए वह कलम भी शस्त्र बन जाती है।

एक ग्रामीण जाट था। पढ़ा-लिखा नहीं था। सेठजी की दूकान पर गया। माल बेचना था। सेठजी बैठे थे। उनके कान पर कलम थी, वह नीचे गिर गई। किसान तत्काल बोला—'सेठजी! आपकी छुरी नीचे गिर

गई।' सेठजी ने चौंककर कहा—'कैसा मूर्ख है ! मैं बनिया हूं। अहिंसक हूं। छुरी को छूता भी नही हूं और तू कहता है कि छुरी नीचे गिर गई। यह कैसे हो सकता है ?' जाट बोला—'सेठजी ! यह पड़ी है।' सेठजी ने कहा—'मूर्ख ! जानता नहीं, यह कलम है।' जाट ने कहा—'सेठजी ! आपके लिए यह कलम हो सकती है, हमारे लिए तो यह छुरी है, क्योंकि हमारे गले पर तो यही चलती है।'

बुद्धि के साथ जुड़कर कलम भी छुरी बन जाती है। बुद्धि का संसर्ग होता है, कुछ से कुछ बन जाता है। लोग कहते हैं कि पारस का स्पर्श पाकर लोहा सोना बन जाता है। पता नही ऐसा होता है या नहीं परन्तु बुद्धि का स्पर्श पाकर तो हर चीज भयानक बन जाती है और सांप की तरह हमारे सामने फुफकारने लग जाती है। बुद्धि के सामने यदि धार्मिक चेतना का निर्माण न हो तो बुद्धि सचमुच भयंकर बन जाती है। वर्तमान की समस्या है और समस्या हमेशा वर्तमान की ही होती है। अतीत की बीत जाती है, उससे हमारा कोई वास्ता नहीं। भविष्य की अनागत होती है, वह हमे सताती नही है। व्यक्ति को हमेशा वर्तमान की समस्या सताती है। वर्तमान ही उबरता है और वर्तमान ही मारता है। हमारे लिए सारे उपायों का केन्द्र-बिन्दु वर्तमान होता है। वर्तमान की समस्या के सन्दर्भ में यह बहुत सत्य बात है कि यदि हमारी धार्मिक चेतना का निर्माण नहीं होता है तो बुद्धि हमारे लिए बहुत खतरनाक बन जाती है। इसलिए धर्म को बढ़ना है। हमारे लिए एक कठिनाई है, और आज के भारत के धर्म की बहुत बड़ी कठिनाई यह है कि हम धर्म करते है, परन्तु समस्याओं को सुलझाने के लिए धर्म नही करते, मात्र प्रलोभन के लिए धर्म करते हैं। भय के कारण धर्म करते है। एक भय घुस गया नरक का। आदमी नरक से बचना चाहता है और इसलिए वह धर्म करता है। एक प्रलोभन घुस गया स्वर्ग का, सुख का। अगले जन्म में सुख पाने के लिए व्यक्ति धर्म करता है। अगर भय और प्रलोभन—ये दोनों मन से निकाल दें तो शायद यहां इतने लोग बैठे हैं, उपासना करने के लिए, पीछे कौन बचेगा, यह मैं नही कह सकता। बहुत

अटपटी बात है।

थोड़े दिन पहले मैंने एक व्यक्ति से पूछा—'कुछ अध्ययन करते हो! धार्मिक साहित्य पढ़ते हो?' उत्तर नकार में मिला। मैंने फिर पूछा—'क्या रुचि नहीं है?' वह बोला—'रुचि तो है, पर पढ़ता नहीं। मैंने पूछा—'न पढ़ने का कोई कारण तो होगा?' उसने कहा—'हमारे बड़े-बूढ़े जो बहुत धर्म करते हैं, बहुत बातें सुनते हैं, उनके आचरणों और व्यवहारों को देखते हैं तो हमें ऐसा नहीं लगता कि उनके आचारण और व्यवहार बहुत अच्छे हो गये हैं।'जब यह नहीं लगता तब हम सोचते है कि धर्म हमें इससे आगे और क्या सिखाएगा? उनके आचरणों में कोई अन्तर नही आया तो फिर क्या हमारे आचारणों में अन्तर ला सकेगा? उनके व्यवहार में जब मधुरता नहीं आयी तो हमारे व्यवहार में मधुरता कैसे ला देगा?

बात सचमुच बहुत टेढ़ी है। किन्तु एक बात आप समझ सकते है, आज के व्यक्ति ने धर्म को इस रूप में स्वीकार नही किया कि धर्म के द्वारा हमारी वैयक्तिक, धर्म के द्वारा हमारी सामाजिक, धर्म के द्वारा हमारी सामूहिक समस्याओं का निरसन हो सकता है; समस्याएं मिट सकती हैं; धर्म के द्वारा हमारा गुस्सा मिट सकता है; धर्म के द्वारा हमारी क्रूरता मिट सकती है; धर्म के द्वारा हमारी लड़ने की मनोवृत्ति मिट सकती है; धर्म के द्वारा दूसरों को नीचा मानने की भावना समाप्त हो सकती है। उसने धर्म को स्वीकार किया—उपासना, पूजा और क्रियाकाण्ड के रूप में। जब समय आया, ब्रह्ममुहूर्त में उठो! माला जपो। सूर्योदय हुआ, मंदिर में चले जाओ! साधुओं के पास चले जाओ। जहां जाना हो, वहां चले जाओ। समय आया, प्रार्थना कर लो। बस, हमारा धर्म समाप्त। यह है हमारे आज के धर्म का एक चित्रण, जो कि हर व्यक्ति के जीवन में ऐसा ही घटित हो रहा है। धर्म के द्वारा हमारे जीवन में जो परिवर्तन होना चाहिए, धर्म के द्वारा हमारी भावनाओं में जो परिवर्तन आना चाहिए और वह धर्म जो हमारी समस्याओं का समाधान बनकर हमारे सामने प्रस्तुत हो, ऐसा धर्म हमने छोड़ दिया। इसीलिए आज के युवक, आजकी नई पीढ़ी में धर्म के प्रति

कोई बहुत बड़ा अनुराग और आस्था नहीं रही है। वह देख रहा है कि धर्म करने वाला व्यक्ति जैसा आचरण और व्यवहार करता है, वैसा आचरण और व्यवहार तो मैं बिना धर्म स्वीकार किए भी कर सकता हूं। तो फिर मुझे धर्म करने की जरूरत क्या है? यदि दवा लिये बिना मैं स्वस्थ रह सकता हूं तो फिर दवा लेने की जरूरत क्या है? कोई जरूरत नहीं है। दवा आदमी इसलिए लेता है कि कोई बीमारी है तो वह मिट जाए। तो अपनी बीमारी मैं बिना धर्म किए मिटा सकता हूं, और जो कि हमारे पुरखे है, बड़े-बूढ़े लोग है, वे लेकर भी यदि बीमारी को नहीं मिटा रहे है तो ऐसे घाटे में कम-से-कम मैं तो न रहूं।

आज हमे इस वात पर विचार करना चाहिए कि समस्याओं को सुलझाने के लिए धर्म का किस रूप में उपयोग करें, यानी धर्म को समस्या सुलझाने का साधन बनाएं, न कि धर्म को स्वयं समस्या बना दें। आज लग रहा है कि धर्म स्वयं समस्या बन रहा है। भार-सा महसूस हो रहा है। समस्या के संदर्भ में धर्म पर पुनर्विचार करे; धर्म के स्वरूप पर विचार करें; धर्म की वर्तमान पद्धति पर विचार करें; धर्म की चालू प्रक्रिया पर विचार करें; धर्म के अभ्यास पर विचार करें और धर्म को समस्या से निकालकर और समस्या के सामने एक ऐसे प्रकाशपुंज के रूप में खड़ा करें, जिससे कि समस्या का जो गहन अंधकार है वह क्षीण हो और वह हमें ज्योति देता रहे, समस्याओं के सामने हमारा मार्ग प्रशस्त करता रहे।

शांति का प्रश्न

शान्ति कहीं आकाश में नहीं होती। जो श्मशान में होती है, उसे भी अच्छा नहीं समझा जाता। श्मशान की शान्ति का कोई विशेष अर्थ नहीं होता। शान्ति समाज में, मनुष्य के हृदय में और मनुष्य के मस्तिष्क में हो तब उसका कुछ मूल्य होता है। शान्ति लोगों के पारस्परिक व्यवहार पर निर्भर रहती है। शान्ति-सम्मेलन, शान्ति आन्दोलन या इस प्रकार के जो उपक्रम चलते हैं, उनका अपना एक मूल्य होता है और वे उपक्रम सदा से चलते रहे हैं। सचाई यह है कि जनता हमेशा शान्ति के पक्ष में होती है। बहुत लोग अशान्ति को नहीं चाहते। अशान्ति को चाहने वाले कुछ लोग होते हैं। जो सत्तारूढ़ लोग होते हैं, वे विस्तारवादी भावना के फलस्वरूप अशान्ति के निमित्त बन जाते हैं। अशान्ति के निमित्त वे लोग भी बनते हैं जो अपने विचारों को दूसरों पर थोपना चाहते हैं। आज की जो सबसे बड़ी बीमारी है, वह है अपने विचारों का प्रसार।

जो प्रजातन्त्र में विश्वास करने वाले हैं, वे यही प्रयत्न करते हैं कि प्रजातन्त्र की पद्धति और व्यवहार सारी दुनिया में फैले। जो कम्युनिज्म में विश्वास करने वाले हैं, उनका भी ऐसा प्रयत्न रहता है। इस प्रकार इज्मों (वादों) के खेमे बन गए हैं।

अशान्ति पैदा करने वाले कुछ लोग हैं और शान्ति की अपेक्षा समूची मानवता को है। शक्ति कुछेक लोगों के हाथ में है। अमेरिका, रूस और कुछेक देशों के पास अणुशक्ति है, हाइड्रोजन बम और नाइट्रोजन बम हैं।

इन बमों की शक्ति का स्वामित्व उन सीमित लोगों के हाथ में है, सारी जनता के हाथ में वह सत्ता नही है। कठिनाई यह है कि जिनके हाथ में शक्ति है, उन्हें शान्ति की बात समझ में नही आती। वियतनाम के युद्ध को देख लीजिए। वहां भी युद्ध का प्रयोग शान्ति के लिए किया जा रहा है। शक्ति-सन्तुलन में मनुष्य का इतना दृढ़ विश्वास हो गया है कि जब तक शक्ति-सन्तुलन नही होता तब तक शांति नहीं हो सकती। युद्धशास्त्री शान्ति की परिभाषा भी यही करते हैं कि शान्ति यानी दो युद्धों के बीच की तैयारी का काल। इस प्रकार शान्ति के विषय में कुछ भ्रान्त धारणाएं बना ली गईं जिससे आज अनेक समस्याएं उभरी हैं। मूल प्रश्न यह है कि जब तक मानवता का विकास नहीं होता शान्ति की बात धुंधली हो जाती है। मैं समझता हू—मानवता और शान्ति दो नहीं हैं। प्राचीन काल में यह प्रश्न आया कि शास्त्रवित् कौन होता है? शास्त्रवित् वही होता है, जिसका मन शान्त होता है। शास्त्रों की रचना शान्ति के लिए हुई है। मानसिक शान्ति और मानसिक सन्तुलन को बहुत महत्त्व दिया गया है। शान्ति के लिए मन का सन्तुलन अत्यन्त अपेक्षित है। मन का सन्तुलन तब होता है जबकि उसमें एकाग्रता का पूर्ण अभ्यास हो। भारत में योग धर्म का प्रचार किया गया, साधना पर बल दिया गया, इसलिए कि जब तक मन अशान्त रहेगा तब तक वह दूसरों को भी अशान्ति देगा। इसलिए हर व्यक्ति को शान्त बनना है और हर एक को योगी बनना है। इसका साधन है—धर्म। धर्म से मन और इन्द्रियां शान्त होती हैं। जिससे इन्द्रियां और मन शान्त नही होते, वह धर्म नहीं है।

आज के विश्व की स्थिति देखिए। जो वैभवशाली हैं, उनके मन में भी शान्ति नहीं है बल्कि उनमें उन्माद अधिक है। इसका कारण क्या है? मानवता के प्रति जो एकत्व की अनुभूति होनी चाहिए, उस दृष्टिकोण का विकास नहीं हुआ।

अणुव्रत ने इस विषय में कुछ विचार किया है। यह तो मैं नहीं कह सकता कि इस दिशा मे कोई बहुत बड़ा प्रयत्न हुआ है, फिर भी यह एक

इन बमों की शक्ति का स्वामित्व उन सीमित लोगों के हाथ में है, सारी जनता के हाथ में वह सत्ता नहीं है। कठिनाई यह है कि जिनके हाथ में शक्ति है, उन्हें शान्ति की बात समझ में नहीं आती। वियतनाम के युद्ध को देख लीजिए। वहां भी युद्ध का प्रयोग शान्ति के लिए किया जा रहा है। शक्ति-सन्तुलन मे मनुष्य का इतना दृढ विश्वास हो गया है कि जब तक शक्ति-सन्तुलन नहीं होता तब तक शांति नहीं हो सकती। युद्धशास्त्री शान्ति की परिभाषा भी यही करते हैं कि शान्ति यानी दो युद्धों के बीच की तैयारी का काल। इस प्रकार शान्ति के विषय में कुछ भ्रान्त धारणाएं बना ली गई जिससे आज अनेक समस्याएं उभरी हैं। मूल प्रश्न यह है कि जब तक मानवता का विकास नहीं होता शान्ति की बात धुंधली हो जाती है। मैं समझता हू—मानवता और शान्ति दो नहीं हैं। प्राचीन काल में यह प्रश्न आया कि शास्त्रवित् कौन होता है? शास्त्रवित् वही होता है, जिसका मन शान्त होता है। शास्त्रों की रचना शान्ति के लिए हुई है। मानसिक शान्ति और मानसिक सन्तुलन को बहुत महत्त्व दिया गया है। शान्ति के लिए मन का सन्तुलन अत्यन्त अपेक्षित है। मन का सन्तुलन तब होता है जबकि उसमें एकाग्रता का पूर्ण अभ्यास हो। भारत में योग धर्म का प्रचार किया गया, साधना पर बल दिया गया, इसलिए कि जब तक मन अशान्त रहेगा तब तक वह दूसरों को भी अशान्ति देगा। इसलिए हर व्यक्ति को शान्त बनना है और हर एक को योगी बनना है। इसका साधन है—धर्म। धर्म से मन और इन्द्रियां शान्त होती हैं। जिससे इन्द्रियां और मन शान्त नहीं होते, वह धर्म नहीं है।

आज के विश्व की स्थिति देखिए। जो वैभवशाली हैं, उनके मन में भी शान्ति नहीं है बल्कि उनमें उन्माद अधिक है। इसका कारण क्या है? मानवता के प्रति जो एकत्व की अनुभूति होनी चाहिए, उस दृष्टिकोण का विकास नहीं हुआ।

अणुव्रत ने इस विषय में कुछ विचार किया है। यह तो मैं नहीं कह सकता कि इस दिशा में कोई बहुत बड़ा प्रयत्न हुआ है, फिर भी यह एक-

तत्त्वों का हाथ था। वे एक विशेष प्रकार के चिन्तन व वातावरण में खड़ी की गयी थीं। आज उनके लिए किसी भी सिद्धांत की दुहाई देने की आवश्यकता नहीं है। आज से सैकड़ों वर्ष पहले दक्षिण के कुछ जैनाचार्यों ने एक बहुत शक्तिशाली स्वर उठाया था। आचार्य जिनसेन, जो कर्नाटक में में हुए है, ने इस बात पर बल दिया है कि मनुष्य-जाति एक है। केवल उसमें आचार और व्यवहार का थोड़ा अंतर है। यदि यह स्वर हृदयंगम होता तो युद्ध नहीं होते। अशान्ति की उत्पत्ति युद्ध के क्षेत्र में नहीं होती। वहां तो उसकी चरम अभिव्यक्ति होती है।

जिस परिवार मे रोज अशान्ति रहती है, क्या वह परिवार कभी शान्ति में योगदान दे सकेगा ? जो व्यक्ति दुकान मे बैठकर दूसरों के साथ क्रूर व्यवहार करता है, क्या वह शांति में योगदान दे सकेगा ? नहीं, कभी नहीं। क्योंकि जो व्यक्ति दूसरों का शोषण करता है, दूसरों के प्रति क्रूर व्यवहार करता है, वह इसी आधार पर करता है कि उसके मन में मनुष्य के प्रति कोई आस्था नही, मनुष्य के प्रति कोई सहानुभूति नहीं और वह मनुष्य को मनुष्य मानने के लिए तैयार नहीं है। उसका सारा योग, उसकी सारी सहानुभूति केवल अपनी स्वार्थ-पूर्ति के साथ जुड़ी रहती है। मैं शान्ति के लिए बड़ी-बड़ी चर्चाएं करना नही चाहता। मैं सोचता हूं कि यदि व्यक्तिगत शान्ति का प्रश्न हमारे समाज में आए और उसका व्यापक प्रयोग हो तो निश्चित ही विश्व-शांति में बहुत बड़ा योग मिल सकता है। मैं यह नही कहना चाहता कि बड़े प्रयत्न नही होने चाहिए। वे भी बहुत आवश्यक हैं और यदि सब देशों के लोग मिल-जुलकर ऐसा महान् प्रयत्न करते हैं तो वह अभिनन्दनीय है।

हमारा सबसे पहला प्रयत्न व्यक्ति से प्रारम्भ होना चाहिए। यद्यपि आज का दृष्टिकोण भिन्न है। कुछ लोग सामाजिकता में अधिक विश्वास करते हैं और कुछ लोग व्यक्ति-विकास में ज्यादा विश्वास करते है। हम दोनों को एकांगी दृष्टि से नहीं देखते। न तो यह कहते है कि केवल व्यक्ति से ही शान्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है और

न इसका खण्डन ही करते है कि सामूहिक शांति का कोई अस्तित्व ही नहीं है। दोनों का अपना-अपना मूल्य है और अपना-अपना स्थान है।

हिंसा के तीन प्रकार है—

१. आरंभजा—कृषि आदि में होने वाली हिंसा।
२. विरोधजा—अपनी सुरक्षा के लिए होने वाली हिंसा।
३. संकल्पजा—संकल्पपूर्वक दूसरों पर आक्रमण करने से होने वाली हिंसा।

सामाजिक व्यक्ति प्रथम दो प्रकार की हिंसा से बच नहीं सकता परन्तु उसे संकल्पजा हिंसा का अवश्य त्याग करना चाहिए। यदि इस भावना का व्यापक प्रसार हो तो अनेक समस्याएं हल हो सकती हैं। सत्ता में रहने वाले और धन की गोद में लोटने वाले सभी व्यक्ति इसका संकल्प करते है तो विश्वशांति में बहुत बड़ा सहारा मिल सकता है।

आज की परिस्थिति में शांति का स्वर बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि आज का मानव इतना दिग्भ्रान्त नही होता तो शांति का प्रश्न इतना बलवान् नहीं होता किन्तु आज का मनुष्य भटक गया है। प्राचीनकाल में यत्र-तत्र छुटपुट लड़ाइयां होती थीं। एक राजा दूसरे राजा पर आक्रमण करता था। परन्तु उसका असर सारे देश पर नही होता था। दक्षिण में होने वाले उपद्रवों का असर उत्तर में रहने वालों पर नहीं होता, क्योंकि यातायात के साधन अल्प थे। दुनिया बहुत बड़ी थी। एक-दूसरे की दूरी बहुत थी। किन्तु आज सारी दुनिया सिमट गयी है। सारा विश्व एक परिवार की तरह हो गया है। विश्व के किसी भी कोने में जो घटना घटित होती है; उसका असर सारे विश्व पर होता है। युद्ध वियतनाम में हो रहा है किन्तु दूर-दूर के देशों पर उसका असर हो रहा है। एक बात भारत में होती है किन्तु उसका असर अमेरिका में हो जाता है। आज हम सब एक-दूसरे के बहुत निकट हो गए हैं। मनुष्य बाहरी आकार से इतना निकट आ गया है कि शायद पहले कभी इतना निकट नहीं रहा। इस निकटता का ही यह परिणाम है कि वह शांति पर बल दे रहा है। दूसरी बात यह है कि आज

मर्यादा को बन्धन समझा जाता है। यही कारण है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् लोगों के विचारों में अकल्पनीय परिवर्तन आ गया है। कल का अनुशासित स्वयं-सेवक आज अनुशासन के अभाव में पद और कुर्सी की दौड़ में राष्ट्र के हित को भी नजरन्दाज कर रहा है। यह प्रवृत्ति समाज व देश के लिए बहुत अहितकर है।

एक बार मगध-नरेश कौणिक ने वैशाली गणतन्त्र पर आक्रमण कर दिया। उस समय वैशाली गणतन्त्र के सूत्रधार वज्जी थे। वज्जी संगठन व अनुशासन की दृष्टि से बेजोड़ थे। उन्होंने कौणिक का डटकर मुकाबला किया और अन्त में मगध-नरेश को हारकर हटना पड़ा। किन्तु कौणिक के मन में इस पराजय का बहुत दुःख हुआ। तब उसके मन्त्री ने कौणिक से अनुरोध किया कि राजन् ! आप सार्वजनिक रूप से मेरे को देश से निकालने की घोषणा करा दें। मैं वैशाली जाऊंगा और वहां से जब वैशाली पर आक्रमण करने की सूचना भेजूं, आप उसी समय वज्जियों पर आक्रमण कर दीजिएगा। राजा ने मन्त्री की बात मान ली। मन्त्री फटेहाल वैशाली के राजभवन के द्वार पर पहुंचा और प्रधानमन्त्री को कहलाया कि मगध का मन्त्री, जिसे मगध-नरेश ने देश से निष्कासित कर दिया है; आपकी सेवा में आया है। मन्त्री ने उसे बुलाया और शत्रु का भेद जानने के लिए उसे अपने यहां रख लिया। मगध का मन्त्री चतुर था ही, थोड़े ही दिनों में उसने सबका विश्वास प्राप्त कर लिया। उसे राजकुमारों की शिक्षा का भार सौंपा गया। जब सब राजकुमारों का भी वह गुरु के रूप में विश्वासपात्र बन गया तब वह एक-एक को अलग लेकर एक-दूसरे के प्रति अविश्वास के भाव भरने लगा। जब उसने सबके दिलों में एक-दूसरे के प्रति अविश्वास पैदा कर दिया तब उसने कौणिक को सूचना भेज दी कि आप अब वैशाली पर आक्रमण कर दें। कौणिक पूरी तैयारी कर चुका था। उसने तत्काल वज्जियों पर आक्रमण कर दिया। मगध की सेना जब वैशाली की सीमाओं में घुसी तो प्रथा के अनुसार वैशाली के प्रधानमन्त्री ने युद्धभेरी बजवा दी। लेकिन उसे

आश्चर्य हुआ जब एक भी राजकुमार युद्ध के लिए प्रस्तुत नहीं हुआ। उसने सबसे बड़े राजकुमार से पूछा—'शत्रु की सेना चढ़ आयी है, आप सब मौन कैसे हैं ?' उत्तर मिला—'जो साहसी और पराक्रमी है, वही जाकर युद्ध करे। मैं कायर क्या युद्ध कर सकूंगा ?' दूसरे राजकुमार ने प्रश्न के उत्तर में कहा—'जो चरित्रवान हैं, वे देश की रक्षा करें, मैं चरित्रहीन देश की रक्षा कैसे कर सकता हूं ?' इसी प्रकार सभी के अजीब उत्तर मिले। कौणिक की सेना वैशाली में प्रविष्ट हो गयी, कोई प्रतिशोध नहीं मिला। वज्जियों का विशाल गणतन्त्र पराधीन हो गया। कारण था—अनुशासन का अभाव।

अनुशासन का मूल है विश्वास। विश्वास ही वह कड़ी है जिसके द्वारा अनुशासित अपने आपको अनुशास्ता के सम्मुख अनुशासित का बोध नहीं करता, अपितु स्वयं को हल्का अनुभव करता है। अनुशासनहीनता के मूल चार कारण हैं—

१. अविश्वास
२. कल्पना
३. व्यवस्था का अभाव, और
४. किसी को प्रमुख न मानने की प्रवृत्ति।

अविश्वास जहां है, वहां मर्यादा या अनुशासन का पालन हो ही नहीं सकता। वज्जियों का उदाहरण हमारे सामने है।

कल्पना के घोड़े जहां दौड़ते हैं, वहां भी अनुशासन टिक नहीं पाता। कल्पना ही कल्पना में व्यक्ति अनुशासक के प्रति तरह-तरह की धारणाएं बना लेता है और अन्त में अनुशासक के प्रति अपनी आस्था खो बैठता है। दैनिक जीवन में भी हम देखते हैं कि केवल कल्पना ही कल्पना में लोग कितना बड़ा अनर्थ कर बैठते हैं।

व्यवस्था का अभाव भी अनुशासनहीनता का प्रमुख कारण है। बिना सुव्यवस्था के अनुशासन टिक नहीं सकता।

किसी को प्रमुख न मानने की प्रवृत्ति का आजकल बहुत

प्रसार है। राष्ट्र की आजादी के साथ-साथ सबके मन में एक ऐसी प्रवृत्ति ने घर कर लिया कि कोई किसी को अपना प्रमुख मानने के लिए तैयार नहीं। और बिना प्रमुख के अनुशासन कैसा ? सेना में कठोर अनुशासन का पालन किया जाता है, किन्तु कराने वाला एक कप्तान या कमाण्डर या सेनापति, जो भी हम कहें, होता है।

मर्यादा-पालन की दृष्टि से तेरापंथ शासन एक अनूठा उदाहरण है। दो सौ वर्ष पूर्व आचार्यश्री भीखणजी द्वारा लिखी गयी मर्यादाएं आज भी पथ-प्रदर्शन करती हैं और संघ उनका अक्षरशः पालन करता है। साढ़े छः सौ से अधिक महाव्रती सदस्य एक आचार्य की आज्ञा में, देश के एक छोर से दूसरे छोर तक अकथनीय कठिनाइयों का सामना करते हुए सहर्ष विचरण करते हैं और जहां कहीं भी वे होते हैं, संघ की मर्यादा का यथोचित पालन करते हैं। आवश्यकता है कि आज व्यक्ति मर्यादा में रहना सीखें, अनुशासित बनें। अनुशासक बनने वाले बहुत मिलेंगे, किन्तु अनुशासित बनने वाले कितने हैं ? मर्यादा बनाने वाले बहुत मिलेंगे, किन्तु निभाने वालों की गिनती अंगुलियों पर की जा सकती है।

जैन आगम : एक अनुचिन्तन

श्रद्धा या सत्य ?

'मैं तुम्हारे पदचिह्नों पर चलूंगा'—यह प्रतिज्ञा-स्वर भारतीय वायुमंडल में प्रतिध्वनित होता रहा है। पुराने जमाने के रेतीले मार्ग में पदचिह्न अंकित होते थे और पुराने लोग उसका अनुसरण करते थे। आज डामर की सड़कें बन चुकी हैं, उन पर पदचिह्न नहीं होते। इसलिए आधुनिक लोगों में अनुसरण का मानस जागृत नहीं है। पदचिह्नों का अनुसरण श्रद्धा के अस्तित्व की सूचना है। क्या जीवन में श्रद्धा की अनिवार्यता है ? श्रद्धा के दो अर्थ होते हैं—

१. अज्ञात के प्रति विश्वास,

२. उत्कट इच्छा।

जिस व्यक्ति में साध्य को पाने की उत्कट इच्छा नहीं होती, वह उसे पाने में सफल नहीं हो सकता। इस दृष्टि से जीवन में श्रद्धा अनिवार्य है।

सत्यजिज्ञासु व सत्यान्वेषी व्यक्ति को प्रथम चरण में ही सब कुछ ज्ञात नहीं हो जाता। उसे सत्यान्वेषण की प्रक्रिया के अंगरूप में एक बार अज्ञात में विश्वास करना ही होता है। यह भी जीवन में श्रद्धा की अनिवार्यता का प्रसंग है। किन्तु उसकी श्रद्धा आग्रह-निष्पन्न श्रद्धा नहीं होती। वह सत्य की प्राप्ति के लिए श्रद्धा करता है, श्रद्धा की सुरक्षा के

लिए सत्य को गौण नहीं करता। श्रद्धा साध्य नहीं है, वह साधन है। वह प्रासाद नही है, सोपान है। सत्य की मंजिल पर पहुंचने के बाद श्रद्धा का उपयोगिता समाप्त हो जाती है। सत्य उपलब्ध होने पर अज्ञात ज्ञात हो जाता है। फिर श्रद्धा की उपयोगिता शेष नही रहती। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लोगों में श्रद्धा से चिपके रहने की जितनी भावना है, उतनी सत्य को पाने की नहीं है। मैं नही समझ पाता कि नौका के प्रति हमारा मोह क्यों होना चाहिए ? वह तट पर पहुंचाने के लिए है। तट आने पर उसमें बैठे रहने का कोई अर्थ नहीं होता।

शास्त्र और श्रद्धा

एक वैज्ञानिक पूर्व-मान्यता के आधार पर काम शुरू करता है, फिर प्रयोग के द्वारा उसकी सचाई का पता लगाता है। इसी प्रकार एक धार्मिक भी शास्त्र में प्रतिपादित सिद्धान्त को श्रद्धा से मान्य करता है, फिर उसकी सचाई को साक्षात् करने की साधना करता है।

शास्त्रीय ज्ञान हमें परोक्ष सत्यों की सूचना देता है, इसलिए उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में हम श्रद्धा करते हैं। किन्तु वह हमारी पहुंच का अन्तिम चरण नहीं है। हमारी पहुंच का अन्तिम चरण वह तब होता है जब हम शास्त्र में प्रतिपादित सिद्धान्तों को अपनी प्रत्यक्षानुभूति से जान लेते हैं। आज स्थिति यह है कि हमारे पैर श्रद्धा के धागे में इतने उलझ गए हैं कि हमें परोक्षानुभूति के घेरे को तोड़कर प्रत्यक्षानुभूति की बात सूझती ही नहीं। हम इस सन्दर्भ को जैन शासन की वर्तमान दशा का सिंहावलोकन किये बिना शृंखलित नहीं रख सकते। जैन शासन के सम्प्रदायों में हजारों साधु-साध्वियां हैं। उनमें विद्वान् अनेक हैं। प्रतिभा-सम्पन्न बहुत थोड़े हैं और प्रत्यक्षानुभूति का प्रयत्न करने वाले संख्या के अनुपात में नगण्य हैं। यही कारण है कि हमारा साधु-वर्ग शाब्दिक ज्ञान से इतना तृप्त हो गया है कि उसे सत्य के साक्षात्कार की अतृप्ति कभी सताती ही नहीं। आज विश्व के हर कोने में अध्यात्म, अतीन्द्रिय ज्ञान

आदि विषयों के सैकड़ों प्रयोग चल रहे हैं। क्या जैन शासन में कहीं कोई व्यवस्थित प्रयोग-प्रणालिका चल रही है ? इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में देना मेरे लिए कठिन है। इस मूर्च्छना के पीछे मुझे शास्त्रीय मोह दिखाई देता है, शास्त्रीय चेतना के दर्शन नहीं होते। शास्त्र के शब्दों की पकड़ में उलझे रहना शास्त्रीय मोह है और उसके शब्दों से दिशा प्राप्त कर स्वयं को सत्य की खोज में खपा देना शास्त्रीय चेतना है। वर्तमान युग-चेतना के सन्दर्भ में क्या जैन शासन का प्रत्येक सदस्य अपने आपको इस कसौटी पर कसने के लिए तैयार होगा कि उसमें शास्त्रीय मोह है या शास्त्रीय चेतना ?

यदि साधु-वर्ग शास्त्रीय चेतना की दिशा में गतिशील होता तो उसके द्वारा अनेक वैज्ञानिक तथ्यों का रहस्योद्घाटन हुआ होता। मुझे जैन शास्त्रों के अध्ययन का जो अवसर मिला है, उसके आधार पर मैं कह सकता हूं कि उनके प्रणेता साधारण व्यक्ति नहीं थे। वे विद्या-सम्पन्न, प्रतिभा-सम्पन्न और प्रत्यक्षानुभूति—तीनों गुणों से सम्पन्न थे। उन्होंने अनेक गूढ़ सत्यों का प्रतिपादन किया है। उनका अध्ययन, मनन और निदिध्यासन करना बहुत महत्त्व का कार्य है। उससे भी महत्त्वपूर्ण कार्य है प्रत्यक्षानुभूति की चेतना के स्तर पर साधना का अनवरत प्रयत्न। यदि यह होता तो जो वैज्ञानिक सत्य उद्घाटित हुए हैं, उनमें से अनेक तथ्यों का उद्घाटन करने वाले जैन वैज्ञानिक होते।

क्या शास्त्र महावीर की वाणी है ?

शास्त्र हमें तब तक स्पष्ट दर्शन नहीं दे सकते, जब तक उनके विषय में हमारी धारणा स्पष्ट नहीं होती। शास्त्र का अर्थ है, ज्ञानी पुरुषों के वचनों का संकलन। जिन लोगों ने अपने ज्ञान से देखा-जाना, उन्होंने दूसरों के हितार्थ उसका प्रतिपादन किया। प्रतिपादन करने वाला सर्वज्ञ हो या असर्वज्ञ, प्रतिपादन कभी पूर्ण नहीं हो सकता। अनन्त सत्य कभी शब्दों में उतर नहीं सकता। काल और भाषा की सीमा असीम सत्य को

अपने में अवतीर्ण नहीं कर सकती, इसलिए शास्त्र से सदा सापेक्ष और सीमित सत्य का ही प्रतिपादन होता है।

बहुत लोग पूछते हैं—क्या वर्तमान के जैन शास्त्र महावीर की वाणी हैं या नहीं ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर यदि मैं श्रद्धावश दूं तो मेरा उत्तर होगा कि 'ये महावीर की वाणी हैं' और यदि अश्रद्धावश दूं तो मेरा उत्तर इससे भिन्न होगा कि 'वे महावीर की वाणी नहीं हैं।' किन्तु यथार्थ का सम्बन्ध न श्रद्धा से होता है और न अश्रद्धा से, उसकी दिशा स्वतन्त्र होती है। यथार्थ की भूमिका पर पहुंचकर मैं एक प्रश्न उपस्थित करना चाहता हूं। जो लोग कहते हैं कि शास्त्र महावीर की वाणी हैं, यह उन्होंने कैसे जाना ? प्रत्यक्षानुभूति का प्रामाण्य उन्हें प्राप्त नहीं है। स्मृति उसी की होती है जो पहले ज्ञात होता है। प्रत्यभिज्ञान (पहचान) भी उसी का होता है जो पहले ज्ञात हो। व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्षदृष्ट नियमों के आधार पर बनता है। उसके बिना तर्क और अनुमान नहीं हो सकते। इस प्रकार परोक्षानुभूति का द्वार भी यह जानने के लिए खुला नहीं है कि वर्तमान शास्त्र महावीर की वाणी है। वर्तमान शास्त्र महावीर की वाणी हैं, इसे जानने का एक-मात्र आधार शास्त्र ही हैं। उन्हीं में यह लिखा है कि महावीर ने इन शास्त्रों का प्रतिपादन किया है। शास्त्रों में जो प्राप्त है उसी को हम भली-भांति समझें तो निष्कर्ष यह प्राप्त होता है—

१. महावीर ने सत्यों का प्रतिपादन किया—जिसे हम अर्थागम कहते हैं।

२. गणधरों ने उनके वचनों की शास्त्र रूप में रचना की—जिसे हम सूत्रागम कहते हैं।

३. गणधरों ने बारह अंगों की रचना की।

४. शेष आगमों (उपांग, मूल, छेद आदि) की रचना स्थविरों ने की है और वे महावीर के निर्वाणोत्तर कई शताब्दियों तक रचना करते रहे हैं।

५. बारहवां अंग—दृष्टिवाद आज विच्छिन्न हो चुका है। शेष

अंग भी अपने स्वरूप में पूर्ण नहीं है। उनमें स्थविरों द्वारा रचित उत्तरवर्ती आगमों के अंश भी संक्रान्त हुए हैं।

इन निष्कर्षों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वर्तमान आगम महावीर की वाणी नहीं हैं और यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे अथ से इति तक महावीर की वाणी ही हैं।

. जो लोग इतिहास के सन्दर्भ में आगमों को नहीं पढ़ते, वे श्रुतानुश्रुति के आधार पर उनके अक्षर-अक्षर को महावीर की वाणी मानते हैं। वर्तमान विज्ञान के द्वारा जब नये तथ्य अनावृत होते हैं और उनका आगमों से समन्वय नही होता तब वे लोग भावनावश या तो प्रत्यक्षसिद्ध वैज्ञानिक सत्यों को असत्य कहने की चेष्टा करते है या आगमों के प्रति सन्देहशील बन जाते है। ये दोनों मार्ग निष्कंटक नहीं है।

इस प्रकार के पाठकों की अपेक्षा इतिहास के सन्दर्भ में आगमों का अध्ययन करने वालों का मार्ग अधिक प्रशस्त होता है। वे उनकी यथार्थता को जानते है, इसलिए वैज्ञानिक गवेषणाओं के सन्दर्भ में उठने वाले नये प्रश्न उनकी आस्था को विचलित नहीं कर पाते।

भूगोल-खगोल

जैन आगमों के भूगोल-खगोल का सिद्धान्त वर्तमान के भूगोल-खगोल के सिद्धान्त से सामंजस्य स्थापित नही कर पाता। कुछ लोगों का तर्क है कि वर्तमान का वैज्ञानिक सिद्धान्त अनेक अंशों में प्रत्यक्षसिद्ध है, इसलिए इसे मिथ्या नही माना जा सकता। इस स्थिति में आगम प्रतिपादित भौगोलिक सिद्धान्त सर्वज्ञ-कथित कैसे हो सकता है? यह प्रश्न अनुचित नही है। इसकी मीमांसा हमें शान्त भाव से करनी होगी।

भौगोलिक विषय सर्वज्ञकथित है, यह इसलिए माना जाता है कि उसका प्रतिपादन आगम-सूत्रों में है। यदि आलोच्य विषय अंगबाह्य आगमों में होता तो हम निःसंकोच यह कह देते कि सर्वज्ञकथित नही है। किन्तु अंगप्रविष्ट आगमों में भी वह विषय प्राप्य है, इसलिए सहसा यह

कैसे कहा जा सकता है कि वह सर्वज्ञकथित नहीं है ? किन्तु इसका दूसरा पहलू और है। वह अधिक गम्भीर विमर्श मांगता है। सर्वज्ञकथित वाणी का संकलन अंग-साहित्य माना जाता है। अंग बारह हैं। उनमें ग्यारह अंगों में आचार-मीमांसा और बारहवें अंग में द्रव्य-मीमांसा है। भूगोल-खगोल का वर्णन ग्यारह अंगों का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। वह दृष्टिवाद का वर्ण्य विषय हो सकता है। उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—चारों दृष्टिकोणों से द्रव्यों का पर्यायान्वित प्रतिपादन किया गया था। जयधवला में जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि को दृष्टिवाद के अन्तर्गत माना गया है।

ग्यारह अंगों में भौगोलिक विषय का समावेश आगमों के संकलन-काल में हुआ, यह मानना असंगत नहीं है। उत्तरवर्ती उपांगों के अनेक अंशों का अंग-सूत्रों में प्रवेश हुआ है। ऐसा क्यों किया गया, यह लम्बी चर्चा का विषय है और इतिहास के आलोक में इसे समझा जा सकता है। किन्तु स्थानांग में कल्पसूत्र में वर्णित उत्तरवर्ती गणों का संक्रमण हुआ है। भगवती में अनुयोग द्वार के नैयायिक-सम्मत प्रमाणों का समावेश हुआ है। यहां मैंने एक-दो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। यदि गहराई में उतरकर विश्लेषण किया जाय तो अंगों के मौलिक और संक्रान्त विषय को पृथक् करना कठिन अवश्य हो सकता है, किन्तु असम्भव नहीं।

अंगसाहित्य में भूगोल-खगोल का प्रतिपादन है जो मौलिक नहीं है, संक्रान्त है। यदि ऐसा मान लिया जाए तो फिर यह कहने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि वह सर्वज्ञ-कथित नहीं है।

भौगोलिक विषय लौकिक और धार्मिक—दोनों धाराओं द्वारा प्रतिपादित होता रहा है। भास्कराचार्य आदि लौकिक ज्योतिर्विदों के भौगोलिक सिद्धान्त वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अधिक निकट हैं। जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनों धर्मों के भौगोलिक सिद्धान्तों में काफी समानता है। किन्तु वैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित भौगोलिक सिद्धान्तों से उनमें अधिक निकटता नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मशास्त्रीय भूगोल का

प्रतिपादन अर्थवाद की छाया में किया गया है। सहस्राब्दी पूर्व भी भारतीय ज्योतिर्विदों द्वारा पृथ्वी गोल और चपटी मानी जाती थी, फिर भी धर्मशास्त्रीय भौगोलिक सिद्धान्त के अनुसार यह सम्मत नहीं था। इससे स्पष्ट है कि धर्मशास्त्रीय भूगोल का आधार लौकिक भूगोल से भिन्न रहा है।

दूसरी बात यह भी है कि धर्मशास्त्रीय भूगोल पर अभी कोई गवेषणा कार्य नहीं हुआ है। आगम-अनुसन्धान कार्य के दौरान हमें अनुभव हुआ है कि अनेक भौगोलिक संज्ञाओं और परिभाषाओं का जो अर्थ प्रचलित है वह त्रुटिपूर्ण है। उनके यथार्थ अर्थान्वेषण के लिए तीव्र अध्यवसाय की अपेक्षा है। सर्वांगीण शोध के पश्चात् ही हम उनके प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निर्णय करने में सक्षम हो सकते हैं।

चन्द्रयात्रा के संदर्भ में

मनुष्य की चन्द्रयात्रा से अनेक नए तथ्यों का उद्घाटन हुआ है। चन्द्र हमारी पृथ्वी जैसा ही लघु पृथ्वी-खंड है। हवा, पानी, वनस्पति और प्राणियों से शून्य मानव की चन्द्रयात्रा ने सभी धर्मशास्त्रों को मात्राभेद से प्रभावित किया है। जैन विद्वानों ने स्याद्वाद की दृष्टि से विमर्श कम किया, इसलिए उन्हें कुछ उलझनों की प्रतीति हो रही है। यदि वे स्याद्वाद की दृष्टि से देखें तो उनके लिए कहीं कोई कठिनाई नहीं है।

कुछ जैन चिन्तकों का अभिमत है कि भगवान् महावीर ने केवल आध्यात्मिक विषय का प्रतिपादन किया था, भौगोलिक सिद्धान्तों का वे क्यों प्रतिपादन करते ? आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए, जिसे अपनी आत्मा को पाना है, भौगोलिक सिद्धान्तों की क्या आवश्यकता है ? आपाततः तर्क अनुचित नहीं लगता। किन्तु गहराई में जाने पर उसकी क्षमता क्षीण हो जाती है। आध्यात्मिकता नवनीत है, पर निसर्ग से ही छाछ पर तिर रहा नवनीत नहीं है। वह विश्व के वस्तु-समुदय के मन्थन से प्राप्त नवनीत है। जहां विश्व के निश्शेष वस्तु-समुदय का मन्थन प्राप्त हो वहां भूगोल का

जागृत था, इसलिए वे सूक्ष्म हिंसा पर भी ध्यान देते थे। अनिवार्य हिंसा को भी वे हिंसा ही मानते थे। कई आपद्कालीन स्थिति में हिंसा को भी हिंसा ही माना। एक बार प्रश्न आया—बन्दर खेती को खा रहे है, क्या उन्हें मार देना चाहिए? गांधीजी ने उत्तर दिया—'यह बात मनुष्य के हित की दृष्टि से आती है, मारना हिंसा है, हिंसा की विवशता हो सकती है पर वह अहिंसा कदापि नहीं है।' यही दृष्टिकोण जैन धर्म का है जो उनको श्रीमद् रायचंद से मिला था।

गांधीजी ने कहा है—'मैं किसी को गुरु नहीं बना सका परन्तु मेरे जीवन में अधिक प्रभाव श्रीमद् रायचंद का रहा है। वे बड़े अनुभवी थे, अध्यात्मयोगी थे।' गांधीजी उनसे सलाह लेते थे। जहां अध्यात्म की भावना जागृत हो जाती है वहां भेद दिखाई नहीं देता। सत्य की गहराई में जाने पर सब को एक ही बात मिलती है। वहा न आग्रह होता है और न पकड़। जो व्यक्ति सत्य की गहराई में जाते हैं उन सब की अनुभूति एक होती है, फिर वह चाहे श्रीमद् रायचन्द हों या कोई अन्य। श्रीमद् रायचंद पहुंचे हुए व्यक्ति थे। उन्होंने गांधीजी को दृष्टि दी। गांधीजी ने अहिंसा का प्रयोग किया। राजनीति के क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग करने वाला इतिहास में दूसरा कोई नहीं मिलता। अंग्रेजी शासन के साथ लड़कर देश को स्वतंत्र बनाना और अंग्रेजों से घृणा न करना बहुत बड़ी अहिंसा है।

मकान-मालिक एक किराएदार को निकालता है तो कितना आक्रोश और घृणा फैलाता है। वहां दूसरी ओर अंग्रेजों को भारत से हटाने के लिए भी प्रेम की बातें करना, महान् व्यक्तित्व का लक्षण है। गांधीजी ने दो बातें सिखाईं—आत्मसंयम और दूसरों के साथ प्रेम करना। लोग विपरीत करते हैं। अपने लिए स्वार्थ और दूसरों के साथ घृणा करते हैं। घृणा दोनों के बीच दीवार खड़ी कर देती है। वह तुम्हें नहीं समझ सकेगी और तुम उसको नहीं समझ सकोगे।

अभय

प्रेम करने वाला दूसरों के हृदय को जोड़ लेता है। वे विरोधियों के साथ भी प्रेम करते थे पर अन्याय को नहीं सहते थे। अन्याय के साथ लड़ने के लिए प्रतिपल तैयार रहते थे। मनुष्य की सबसे बड़ी दुर्बलता है भय। हम जानते हैं यह अच्छा है फिर भी उसे नही कर पाते, भय रहता है कि समाज क्या कहेगा ? गांधीजी दक्षिण में आए । उन्होंने यहां की गरीबी को देखा। मन में चिन्तन चला—हम इतना वस्त्र पहनते हैं, इनके पास तन ढांकने को पूरा वस्त्र नहीं है । तत्काल लंगोटी स्वीकार करली। उन्होंने यह नहीं सोचा कि लोग क्या कहेंगे ? सम्राट् से मिलने के लिए जब विदेश गए तो वही वेशभूषा थी। जब उनसे वेश बदलने को कहा गया तो उन्होंने कहा—'मैं जिस देश का प्रतिनिधि बनकर आया हूं, वहां गरीबी है। करोड़ों लोग इस वेश में रहते हैं, फिर मुझे क्यों नही रहना चाहिए ?' उसी वेश में सम्राट् से मिले। उन्हे जरा भी भय नहीं था कि दूसरे उन्हें क्या समझ रहे है। अधिकांश मनुष्य अपनी प्रतिष्ठा के भय से अपनी वेशभूषा में परिवर्तन कर लेते हैं। जहां भय रहता है वहां विकास नहीं होता। भगवान् महावीर ने अभय पर बल दिया। जो जिनकल्पी साधु होता है वह प्रारम्भ में अभय की साधना करता है। पहले वह रात में अकेले बैठकर भय पर विजय प्राप्त करता है। फिर रात को क्रमशः चौराहे पर, शून्यग्रह में और श्मशान में जाकर ध्यान करता है। भय पर विजय प्राप्त कर वह जिनकल्पी बनता है। एकांत में ध्यान करने का उद्देश्य भय पर विजय प्राप्त करना है। भय बाहर से नहीं, भीतर से आता है और अपनी कल्पना से आता है। भगवान् महावीर ने कहा—'जो अभय को नहीं जानता, वह धर्म को भी नही जानता। अहिंसा और कायरता में विरोध है जैसे पानी और अग्नि में है। जो अहिंसक नहो वह अभय नहीं हो सकते'—इस व्याप्ति पर बल दिया।

परिग्रह भय है, हिंसा है। मेरे पास परिग्रह है तो भय लगेगा। भय से

हिंसा की भावना आएगी। दो संन्यासी जा रहे थे—एक गुरु था, दूसरा शिष्य। शिष्य को कहीं से सोने का एक पाशा मिल गया। उसने उठाकर झोली में डाल लिया। थोड़ी दूर चला, झोली को देखने लगा। बार-बार झोली को संभालता और आगे चलता क्योंकि उसका मन सोने में अटका हुआ था। गति मे शिथिलता आ गई। गुरु के मन में सन्देह जागा। गुरु ने पूछा—'झोली में क्या है ? बार-बार इसे क्यों देखता है ?' उसने उत्तर दिया—'कुछ नहीं है।' फिर दोनों आगे चलने लगे, एक जगह ठहरे। शिष्य किसी कार्यवश दूसरे स्थान पर गया। झोली को वहीं भूल गया। पीछे से गुरु ने झोली मे टटोला। देखा तो सोने का पाशा पड़ा है। गुरु ने सोचा, बीमारी यही है। तत्काल गुरु ने उसको एक ओर फेंक दिया। शिष्य आया। सबसे पहले झोली को सम्भाला। देखा, वह नहीं है। घबरा गया, मुंह उतर गया।

गुरु ने पूछा—क्या हुआ ?

शिष्य—मेरी चीज नही मिल रही है।

गुरु—मैंने उसको फेंक दिया है।

शिष्य—कहां ?

गुरु—कुएं मे। अब वह तुम्हें नही मिलेगी। उसके आने से एक दिन में तेरा स्वभाव बदल गया।

जहां परिग्रह होता है वहां भय आ जाता है। अभय वही होता है जिसके पास संग्रह नही है। अभय वही होता है जो अहिंसक होता है। जिसे प्राणों का भय सताता है, वह अहिंसक नही होता।

महात्मा गांधी असंग्रही थे, इसलिए इतने ही अभय थे। उनको मौत की चुनौती मिली, फिर भी वे अपने लक्ष्य से विचलित नहीं हुए। एक व्यक्ति ने पास आकर कहा—'मैं आपको मारने के लिए आया हूं।' उन्होंने कहा—'मैं तैयार हूं।' जिसके मन में भय नही होता उसका पराक्रम जाग जाता है। अंग्रेजी साम्राज्य इतना बड़ा था कि उनके राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता था। गांधीजी के पास शस्त्र नहीं थे केवल अहिंसा का मनोबल

था। उसके आधार पर उन्होंने अंग्रेजों के साथ लडाई लड़ी।

समता

वह अहिंसक नही है जो दूसरो की अवहेलना करता है। जिसमें प्राणी मात्र के प्रति समानता की दृष्टि नही है वह रूढ़ अहिंसक है। चींटी के प्रति प्रेम दिखाए और बड़ों से घृणा करे, क्या वह अहिंसक है ? अहिंसक वह होता है जो अपने मन को ऋजु बना लेता है और नमस्कार करने वाले और दुःख देने वाले—दोनो पर समदृष्टि रखता है।

सुरेन्द्र कौशिक ने भगवान् महावीर के पैरों में नमस्कार किया और चण्डकौशिक सर्प ने पैरों मे लिपट कर कई बार डंक मारे। पर महावीर समभाव में थे। चण्डकौशिक भयंकर सर्प था। उसकी दृष्टि मे विष था। सूर्य की ओर देख जब वह फुफकार मारता तो दूर तक जहर फेंकता था। उसने भगवान् महावीर को कई बार काटा। तीव्र वेदना हुई, फिर भी उन्होंने समभाव से उसको सहा। साधारण व्यक्ति के लिए इस प्रकार सहना असम्भव है। हमे ज्ञात हो जाए कि अमुक व्यक्ति हमारा अनिष्ट कर रहा है तो उसके प्रति हमारी भावना बदल जाती है। भगवान् महावीर तो उसे अज्ञानी समझकर उसका हृदय बदलना और उसे अहिंसक बनाना चाहते थे। इसीलिए सुरेन्द्र और कौशिक—दोनों के प्रति उनके मन में समान भावना प्रवाहित हो रही थी। जिसके मन में अहिंसा की भावना जाग जाती है उसके लिए यह असंभव नही है। अपना अनिष्ट करने वाले के साथ भी मीठा व्यवहार करना भगवान् महावीर का मूलमन्त्र था, जो गांधीजी के जीवन में मिलता था। गांधीजी ने अहिंसा की साधना में अपने को समर्पित कर दिया था। जो समर्पित नही होता उसके मन में तर्क उठता है कि मैं उसके प्रति हित की बात क्यों सोचूं। जहां समर्पण नहीं होता वहां अनेक प्रश्न उठते हैं।

गुरु ने शिष्य से कहा—'जाओ, सांप को माप कर आओ।' तर्कशील सोचेगा, शिष्य को मारने का उपाय है। परन्तु शिष्य के मन में तर्क नहीं

था। उसने युक्ति से माप कर बता दिया। डेढ़ हाथ लम्बा है। गुरु ने फिर कहा—'फिर जाओ, सांप के दांत गिनकर आओ।' शिष्य गया। सांप के दांत गिनने का प्रयत्न किया तो उसने डंक मार दिया। गुरु ने कहा—'आ जाओ। काम हो गया।' शिष्य को कम्बल ओढ़ाकर सुला दिया। शिष्य के शरीर से कीड़े निकलते गए और वह स्वस्थ हो गया। गुरु जानते थे कि इस रोग की यही चिकित्सा है। शिष्य गुरु के प्रति समर्पित था।

एकत्व भावना

जिसके मन में अहिंसा नहीं होती, वह अनिष्टकर्ता के प्रति घृणा से भर जाता है। जिसके मन में हिंसा होती है उसे बाहर सर्वत्र हिंसा ही हिंसा दीखती है। दो व्यक्ति बात करते हैं तो सन्देह होता है कि मेरे विषय में ही बात करते है। इस मनोवृत्ति का कोई इलाज नहीं है। एकत्व की भावना होने से हिंसा का मार्ग छूट जाता है।

गांधीजी ने जिस सिद्धांत का आलम्बन लिया वह था—हर व्यक्ति में ईश्वरत्व विद्यमान है। जैन धर्म में भी यही है—'तुमंसि णाम सच्चेव, जं हंतव्वंति मन्नसि'— जिसको तू मारता है वह तू ही है, दूसरा कोई नहीं है।

जब यह सिद्धांत आएगा तो व्यक्ति दूसरों को क्यों मारेगा ? जबकि दूसरों को मारना स्वयं मारना है व्यक्ति दूसरों के प्रति अन्याय कर सकता है, पर अपने प्रति अन्याय नहीं करना चाहता। दूसरों को ठग सकता है पर अपने पुत्र को ठगना नहीं चाहता। जहां अहिंसा का विकास होता है, वहां दूसरों को दूसरा नहीं मानता किन्तु उसके साथ एकत्व की भावना रखता है। गांधीजी ने यही किया। वस्त्र को एकत्वपूर्ण बनाने के लिए धागा आवश्यक है वैसे ही एक को दूसरे से जोड़ने के लिए समता की आवश्यकता है। गांधीजी की प्रवृत्ति के पीछे समता की दृष्टि थी। समता का विस्तार अहिंसा का विस्तार था। जैन धर्म का मूल है—अहिंसा, सत्य, अनाग्रह एवं अनेकांतवाद।

सत्य-शोधक

जीवन में स्याद्वाद का जितना प्रयोग गांधीजी ने किया, उतना दूसरों ने कम किया है। उनमें एक ओर अनुशासन के प्रति दृढ़ निष्ठा थी, दूसरी ओर वे छोटे बच्चे की बात भी स्वीकार करते थे।

छोटी-छोटी बात के लिए प्रायश्चित्त करते थे, वह भी सब के सामने। अपने दोषों को दूसरों के सामने प्रकट करने में संकोच नहीं था। वे सोचते थे कि आश्रम में कोई गलती करता है, वह मेरी ही गलती है। जहां मैं प्रमुख हूं, वहां मेरी दुर्बलता के कारण ही गलती होती है। अनेकों बार उन्होंने दूसरों की गलतियों का स्वयं प्रायश्चित्त किया था।

सामान्यतः व्यक्ति अपनी भूल को स्वीकार नहीं करता, बल्कि अड़ जाता है, क्योंकि वहां बड़प्पन और मान-अपमान का प्रश्न खड़ा हो जाता है। भूल को स्वीकार न करना ओछेपन की बात है। ऐसा कौन व्यक्ति पूर्ण है जिससे गलती नहीं होती। अपूर्ण हो लेकिन अपने को पूर्ण माने, यह मूल में भूल है।

एक संन्यासी मरुस्थल में गया। उसे भूख लगी तो उसने तुम्बे के पत्ते को तोड़कर खाया। वह खारा लगा तो फल को खाया। वह भी खारा लगा। फिर उसने जड़ को खाया। वह भी खारी लगी। तब उसने सोचा जब मूल खारी है तो पत्ते और फूल तो खारे होंगे ही।

जब मूल में ही भूल है तो ऊपर से भूलें होंगी ही। अपूर्ण व्यक्ति भूल को स्वीकार नहीं करता लेकिन भूल को सिद्ध करने के लिए आग्रही बन जाता है। सत्य-शोधक अपने को अपूर्ण मानकर चलता है। उसका उदाहरण गांधीजी ने प्रस्तुत किया। लोगों के सामने अपनी भूलें स्पष्टता से स्वीकार कीं। अहिंसा, सत्य और स्याद्वाद—इन तीन दृष्टियों के कारण वे महान् बन गए। हजारों में उनका प्रतिबिम्ब आया है।

व्यक्ति-निर्माता

आचार्यश्री कई बार कहते हैं—'अनेक आए चले गए। पर ऐसा व्यक्ति नहीं आया जिसके हाथ से हजारों व्यक्ति बने हैं।' गांधी के पास रहने वालों में जो भावना दिखाई देती है, वह दूसरों में नहीं है। शंकर भाई बेंकर अहमदाबाद में आए। उन्होंने कहा—'मैं गांधीजी के पास रहने के लिए गया।' गांधीजी ने कहा—'तुम क्या कर सकते हो?'

'मैं आपके कपड़े धोऊंगा।'

'नहीं, तुम नहीं धो सकते।'

'फिर भी मैंने धोना शुरू किया। दस दिन की साबुन एक दिन में खत्म कर दी।'

उन्होंने कहा—'जो इतना अपव्यय करता है, वह काम के योग्य नहीं है।' अधिक पानी गिराने वाले को भी वे अयोग्य मानते थे। उनका सिद्धांत था—जो छोटी-छोटी बातों की उपेक्षा कर देता है, वह बड़ी बात की भी उपेक्षा कर सकता है। छोटा छेद भी बर्तन को खाली कर देता है। अधिकांश गलतियां तो छोटी-छोटी ही होती हैं, बड़ी बुराई तो कम ही होती है।

जीवन में जैन तत्त्व

गांधीजी को जैन धर्म से दृष्टि-बीज मिला था। गांधीजी का जीवन जैन-धर्म की समान रेखा पर है। 'टाइम्स' पत्र ने दुनिया के धर्मों का उल्लेख किया है। जैन धर्म के विषय में भी थोड़ा लिखा है—'जैन धर्म बौद्ध धर्म जैसा ही है। जैन धर्म वही है जो गांधी के विचार थे। गांधी ने राजनीति में प्रयोग किया, वह जैन धर्म ही था।'

इसी भ्रम के कारण गांधीजी की व्याख्या से जैन धर्म की व्याख्या कर दी। गांधीजी को जैन संस्कार श्रीमद् रायचन्द से मिले थे। वे स्वयं को जैन नहीं मानते थे। हम भी उनको जैन नहीं मानते। लेकिन उनके जीवन में जैन-तत्त्व अवश्य थे।

जैनों का कर्तव्य-बोध

कई वर्षों से जैन समाज में सामूहिक रूप से चर्चा चल रही है कि भगवान् महावीर की पचीसवी शताब्दी सब जैन सम्प्रदायों को मिलकर मनानी चाहिए। योजना भी बनी है। बम्बई में एक आयोजन भी किया गया और चारों सम्प्रदायों की समिति का गठन भी हुआ है। कल्पना थी कि भगवान् महावीर की जीवनी और उनका दर्शन विश्व की सभी भाषाओं में होना चाहिए।

कुछ वर्षों पूर्व विदेशी विद्वान् भारतीय धर्मों से आकृष्ट हुए। इनके ग्रन्थों के शोध के लिए उनमें अभिरुचि जगी। मैक्समूलर और उनके साथी इस कार्य मे जुटे थे। ग्रन्थों की एक माला निकाली। वैदिक और बौद्ध-धर्म के अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ। उनसे पश्चिम में अनुसंधान का कार्य चल पड़ा है। राइस डेविड्स पति और पत्नी ने अपना सारा जीवन लगा दिया। जैनों के पास वे गए तो उन्हें शास्त्र नहीं दिये गए। इसीलिए जैन ग्रन्थो पर कार्य नही हो सका। केवल दो-चार सूत्रों पर कार्य हुआ है। 'सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट'—इस ग्रन्थ-माला की पचास पुस्तकों में जैनों की केवल दो पुस्तकें ही है। परिणाम यह हुआ कि जैन साहित्य पचास वर्ष पिछड़ गया। *जहा अहिंसा का प्रसंग आता है वहां महात्मा बुद्ध का नाम आता* है। सचाई यह है कि करुणा महात्मा बुद्ध की देन है और अहिंसा भगवान् महावीर की। इतिहासज्ञ अल्बर्ट मीजर ने वर्णन भी किया है कि अहिंसा भगवान् महावीर की देन है। उनकी आवाज दुनिया तक पहुंची नहीं है।

जैन लोग विचार-प्रसार की दौड़ में पिछड़े रह गए। फ्रांस में 'काल' को देवता के रूप में चित्रित करते हैं जिसके आगे केश है, पीछे कुछ नहीं है। जिसका आशय है, सामने आते ही केश पकड़ लो, पीछे से पकड़ने के लिए कुछ नहीं है। जो वर्तमान को नहीं पकड़ता वह पीछे पश्चात्ताप करता है। वर्तमान को नहीं पकड़ने के कारण जैन लोग पीछे रह गए। पश्चिम के लोगों में जैन दर्शन के प्रति जिज्ञासा प्रारम्भ हुई है पर उनको साहित्य नहीं मिल रहा है।

भगवान् भी बदल गए

भगवान् महावीर को अनुयायी निर्बल मिले हैं। यदि उनके अनुयायी क्षत्रिय रहते तो महावीर दूसरे ही होते। वैश्यों के हाथ में आकर भगवान् भी दूसरा हो जाता है। वैश्यों का भगवान् पैसा है। जहां वैश्य होगा वहां लक्ष्मी की पूजा होगी। भगवान् की पूजा भी लक्ष्मी के लिए होगी। लक्ष्मी मिले तो भगवान् हैं, नहीं तो दूसरे भगवान् की पूजा कर सकते हैं। जो समाज पैसे के बल पर जीना चाहता है वह प्रगतिशील नहीं हो सकता, वह गौरव नहीं प्राप्त कर सकता।

एकांगी दृष्टिकोण

पैसा एक शक्ति है पर सब कुछ वही नहीं है। जहां समाज है वहां शिक्षा भी चाहिए, सत्ता भी चाहिए, पैसा भी चाहिए। सब संयोग मिलने से ही सर्वांगीण विकास होता है। एक बच्चा पैदा होता है। शरीर, हाथ, पैर, सिर आदि सारे अवयव मूल्यवान हैं। ऐसा कौन चाहेगा कि केवल सिर ही बढ़े और दूसरे अवयव न बढ़ें। वही बच्चा पूर्ण माना जाता है जिसके सब अवयव सम अवस्था में बढ़ें। जिस समाज का दृष्टिकोण एकांगी हो जाता है, मानो वह बच्चे के एक अवयव को बढ़ाते हैं। आज जैनों का दृष्टिकोण बदला है, यह शुभ संकेत है। यदि पचास वर्ष पहले बदला होता तो आज जैन धर्म का रूप कुछ और ही मिलता।

मूल कहां है ?

भविष्य में क्या करना है, इस पर चिन्तन करें। आचार्यश्री की कल्पना थी कि भगवान् महावीर की पचीसवी शताब्दी संगठित होकर मनाएं भगवान् महावीर के काल में भी ग्यारह गण थे। परन्तु उनका मूल एक था। आपने कदम्ब का वृक्ष देखा होगा। उसके एक घेरे पर दूसरा घेरा होता है मानो कोई दो मंजिल का मकान हो। अनेक होकर भी वह एक होता है, जो मूल से एक होता है। आज जैन शासन अनेक शाखाओं में बंटा है, उसका मूल कहीं भी प्राप्त नही है। दिगम्बरत्व, मूर्तिपूजकत्व, स्थानकवासित्व और तेरापंथीत्व तो हैं पर जैनत्व नहीं है। जो दूरी आ गयी है वह मिटे और संगठित होकर पचीसवी शताब्दी मनाएं।

जोड़ना कठिन है

अनेक हो जाना सरल है। परन्तु फिर उसे एक बनाना कठिन है। महात्मा बुद्ध ने डाकू से कहा—'जाओ, सामने पड़े वृक्ष की पत्तियां तोड़ लाओ।' वह तोडकर ले आया। बुद्ध ने फिर कहा—'जाओ, इन पत्तियों को वापस जोड़ दो।'

उसने कहा—'भगवन् ! यह काम तो नही हो सकता। मैं तोड सकता हूं लेकिन जोड़ नही सकता।'

आज जैन शासन में भेद हो गया है। उसे जोड़ना दुःसाध्य हो गया है। अपने-अपने सम्प्रदाय बने रहें। कुछ सामान्य हित होते हैं, जिनमे किसी को आपत्ति नहीं होती है। उनमें भी सब एक हो जाएं तो बहुत बड़ा कार्य हो सकता है। मद्रास, मैसूर, राजस्थान अलग-अलग प्रान्त हैं। लेकिन उनमें टेलीफोन, रेल व्यवस्था, डाक आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो केन्द्र से सम्बन्धित हैं, उनका विभक्तीकरण नही होता। वैसे ही सम्प्रदाय भी रहें लेकिन कुछ हितों मे सब एक हो जाएं। वर्तमान जैन समाज को देखकर लगता है, क्या कभी यह भावना सफल होगी ? क्या जैन युवक वर्ग इस

और ध्यान देगा और शताब्दी पर अनुपम मूल्यवान अर्घ्य चढ़ाएगा ?

बम्बई में एक व्यक्ति आचार्यश्री के पास आया और उसने कहा—'मेरी एक कल्पना है कि जैनों को मिलकर सामूहिक प्रतिक्रमण कर प्रायश्चित्त करना चाहिए। जैन शासन के प्रति भूल यह हुई है कि जैन शासन को तोड़ा है, बांटा है। उसका प्रायश्चित्त करना चाहिए।'

मैं आचार्यश्री के आसपास रहने वालों से कहूंगा कि वे अपने विचारों को सुरक्षित रखते हुए वैसा प्रयत्न करें जिससे जैन शासन की एकता बढ़े।

सिद्धान्तों की उपयोगिता

भगवान् महावीर के विचारों का हमें आग्रह है। वह इसलिए है कि आज उनकी उपयोगिता है। उपयोगिता न हो तो आग्रह करना भूल है। उनके विचारों में वे तत्त्व विद्यमान हैं जिनकी संसार को आवश्यकता है। जाने-अनजाने उनके सिद्धांत संसार में विकसित हो रहे हैं।

शाकाहार

विदेशों में शाकाहार का आन्दोलन चल रहा है। प्राकृतिक चिकित्सक कहते हैं—मांस नहीं खाना चाहिए क्योंकि मांस मनुष्य का भोजन नहीं है। मांसाहारी प्राणी की शरीर-रचना भिन्न होती है। मांसाहारी पशुओं का जबड़ा और जीभ दूसरे पशुओं से भिन्न होते हैं। मांसाहारी पशु चाटेगा, पीएगा नहीं। गाय पी सकती है, कुत्ता और सिंह नहीं पी सकते।

जार्ज बर्नार्ड शा को मांस का भोजन परोसा गया। उन्होंने कहा—मेरा पेट कब्रिस्तान नहीं है जो मुर्दों को स्थान दूं।

मांस नहीं खाना चाहिए, इस तत्त्व पर जितना बल जैन साहित्य में मिलता है, उतना अन्य धर्म-साहित्यों में नहीं है।

अहिंसा

हिन्दुस्तान में अहिंसा का आन्दोलन चला, उसका आधार था सत्ता का विकेन्द्रीकरण, उद्योगों का विकेन्द्रीकरण। भगवान् महावीर ने इसके लिए दो शब्द दिए हैं—अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह।

भगवान् महावीर ने व्रतों का विश्लेषण किया—धर्म हमारे जीवन में फलित होता है। लेकिन उसके परिणाम सामाजिक और आर्थिक को छोड़ दूसरे कैसे हो सकते हैं ?

सह-अस्तित्व

सापेक्षवाद का सिद्धान्त कहा से आया ? भगवान् महावीर ने कहा था—कोई भी एक-दूसरे से कटकर नही रह सकता। चेतन और अचेतन भी परस्पर कटकर नहीं रह सकते। फिर मनुष्य मनुष्य से कटकर कैसे रहेगा ? उष्णता और शीतलता भी एक साथ रह सकती है। किसी भी विरोधी धर्म को अलग नही किया जा सकता। दो विरोधी धर्मों का एक स्थान पर रहना ही सत्य है। इसी समन्वय के आधार पर आचार्य हरिभद्र सूरि ने कहा—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमत् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः।।

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

न रागमात्रात् त्वयि पक्षपातः न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु।
यथावदाप्तत्वपरीक्षयात्तु, त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिताः स्मः।।

हम केवल अनुराग से आपकी ओर झुके हुए नही हैं, आपका वचन यथार्थ है इसीलिए हम आपका आश्रयण करते हैं।

यह दृष्टिकोण कहां से आया ? भगवान् महावीर ने ही दिया था।

आज के प्रबुद्ध व्यक्तियों में समन्वय का सिद्धान्त घर कर गया है। विश्व-विद्यालयों में तुलनात्मक अध्ययन कराया जाता है।

आज अनेक विद्वान पी-एच० डी० के लिए जैन दर्शन पर थीसिस लिख रहे हैं। क्योंकि वैदिक और बौद्ध दर्शन पर अनेक थीसिस लिखे जा चुके हैं, उनमें नई सामग्री कम है।

सर्वोदय का आन्दोलन

गांधीजी ने सर्वोदय का आन्दोलन चलाया। सर्वोदय शब्द जैन साहित्य में मिलता है। 'सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।' —हे भगवन्! यह तेरा ही तीर्थ है, जिसमें सबका उदय होता है, सब आपत्तियों का अन्त होता है और उसका अपना अन्त नहीं होता है। ऐसी कई चीजें हैं जो आपत्तियों में से मुक्ति दिलाती है, लेकिन उनकी भी समाप्ति होती है। परन्तु सर्वोदय ऐसी चीज है जो आपको आपत्तियों से मुक्ति दिलाती है लेकिन उसकी अपनी समाप्ति कभी नहीं होती। यह सुन्दर शब्द गांधीजी को जैन शास्त्रों में मिला है।

भगवान् महावीर के विचार आज भी सदस्क हैं, नए हैं। क्योंकि वे शाश्वत विचार थे। शाश्वत हमेशा नया रहता है। कपड़े पुराने हो जाते हैं परन्तु आत्मा और आकाश कभी पुराना नहीं होता। ज्ञान की परम्परा कभी पुरानी नहीं होती।

भगवान् महावीर के विचार आज के विश्व के लिए उपयोगी हैं, इसलिए हमारा कर्तव्य है कि हम उसका विस्तार करें। २५०० वर्षों के बाद यह पहला अवसर आ रहा है कि हम व्यापक रूप से महावीर जयंती मनाने जा रहे हैं। हर व्यक्ति सोचे—मुझे क्या अर्घ्य चढ़ाना है?

प्रत्येक जैन कहलाने वाला अपने व्यक्तिगत दायित्व को सोचे। किसी के पास ज्ञान की शक्ति है, किसी के पास आचरण की। किसी के पास कुछ तो किसी के पास कुछ।

जिसके पास ज्ञान है वह विचारों के द्वारा अर्घ्य चढ़ाए। जिसमें

आचरण की क्षमता है वह आचरण के द्वारा अर्घ्य चढाए। वह अपने आचरण से जीवन के विशिष्ट मूल्यों की स्थापना करे। बारह व्रत गृहस्थ जीवन की आचार-संहिता है। उसको जीवन में स्थान दें। जिस व्यक्ति में जो शक्ति है वह उसी का उपयोग करे। प्रत्येक के जीवन में विसर्जन और त्याग की भावना जगे।

कर्तव्य-बोध

सामायिक, पौषध, उपवास आदि सभी करते हैं। परन्तु सोचना यह है कि जैन शासन के लिए हमने क्या किया है? वही व्यक्ति महान् बनता है जो दूसरों के लिए खपता है। जिस तत्त्व को समझा है उसे दूसरों तक पहुंचाए। एक भी व्यक्ति को सुलभबोधि बनाना बहुत बड़ा धर्म है। यदि हम भगवान् की वाणी को प्रसारशील नहीं बनाते हैं तो उनके सच्चे अनुयायी कहलाने के अधिकारी कैसे होंगे? प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्य का बोध करे।

जैन श्रावक का कर्तव्य-बोध

मैं उपदेश देने में विश्वास नहीं करता, सत्य को प्रकट करने में विश्वास करता हूं। वह दिया नहीं जा सकता, थोपा नहीं जा सकता, समझा जा सकता है, देखा जा सकता है। इसका अर्थ है कि अपनी क्षमता को जगाए बिना न सत्य की व्याख्या की जा सकती और न उसे समझा जा सकता है। भगवान् महावीर की समूची धर्मदेशना का सार है—अपने ही प्रयत्न से अपनी क्षमता का जागरण।

भगवान् महावीर की पचीसवीं निर्वाण शताब्दी का अवसर है। पूछा जाता है कि इस समय जैन श्रावकों का क्या कर्तव्य है? भगवान् महावीर ने जीवन के स्थायी मूल्यों की व्याख्या की है। उन्होंने कहा—मनुष्य जिसे अपना कह सके, वह उसका चैतन्य ही है। शेष सब संयोग है। संयोग का निश्चित वियोग होता है। फिर भी मोहवश इस सत्य को नहीं समझा जा रहा है।

पहला कर्तव्य है इस सत्य पर मनन करना। सुनने का कर्तव्य बहुत बार निभाया जा चुका है। उक्त वाणी को अनेक लोगों ने अनेक बार सुना है। सुनना पहला सोपान है, अंतिम नहीं है। अंतिम सोपान है—आचरण। बीच के सोपान हैं—मनन और अनुचिंतन।

आहार-शुद्धि

जैन समाज ने कुछ विशेषताएं अर्जित की है। उनका पहला चरण है

भोजन की शुद्धि। मद्य, मास और मादक वस्तुओं से बचने वाला समाज सहज कुछ विशेषताएं अर्जित कर लेता है। जो समाज भोजन की शुद्धि का ध्यान नही देता, वह जाने-अनजाने सात्विक चिंतन से दूर हो जाता है। मासाहार मनुष्य में अप्राकृतिक काम-उत्तेजना उत्पन्न करता है। यह शारीरिक और मानसिक सहिष्णुता को कम करता है। धमनियों के लचीलेपन को कम करता है। इससे प्राणी के शारीरिक विष और रोग के सक्रमण की संभावना भी रहती है। पशु-विशेषज्ञों के अनुसार पशुओं में तामसिक वृत्ति होती है। योग के आचार्यों ने बताया है कि ध्यान के लिए उस स्थान का चुनाव करना चाहिए, जहा पशु न हों। तामसिक-वृत्ति-प्रधान पशुओं का मांस खाने वाला उनके तामसिक संस्कारों से कैसे बच सकता है? इन सब कारणो को तथा और भी गहन कारणों को ध्यान मे रखकर भगवान् महावीर ने मांसाहार को नारकीय जीवन का हेतु बताया था। विचार का अनुसरण धीमे-धीमे होता है। भगवान् के युग में केवल व्रती श्रावको ने ही मासाहार छोड़ा था। किन्तु उत्तरवर्ती काल में समूचे जैन समाज ने ही मांसाहार और मद्यपान छोड़ दिया। शाकाहार उसकी अपनी विशेपता हो गयी। फलतः जैन समाज शांतिप्रिय, अहिंसा में निष्ठा रखने वाला, अपेक्षाकृत प्रामाणिक और विश्वास का निर्वाह करने वाला हो गया। वर्तमान युग के संक्रमणशील विचारों ने उसे प्रभावित किया है। उसकी वह विशेपता विचित्र मात्रा में खंडित होती-सी प्रतीत हो रही है। यह प्रतिक्रमण या अतीत-सिंहावलोकन का अवसर है। इसका लाभ उठाकर वह अपनी विशेषता को फिर उसी रूप में प्रतिष्ठापित करे, जिसने आस-पास के समाजों को भी अपनी सुवास से सुवासित किया था।

अपरिग्रह

भगवान् महावीर ने शाश्वत सत्य की व्याख्या की थी। शाश्वत वह होता है जो त्रिकालाबाधित हो। जिसका संबंध केवल अतीत, वर्तमान या

भविष्य से होता है, वह सामयिक सत्य हो सकता है, शाश्वत सत्य नहीं हो सकता। अहिंसा शाश्वत सत्य है, अपरिग्रह शाश्वत सत्य है। इसकी उपयोगिता किसी देश-काल से जुड़ी हुई नही है। महावीर ने यह नहीं कहा कि समाज में गरीबी हो तब सम्पन्न वर्ग को अपरिग्रही होना चाहिए। उन्होंने कहा—समूचा समाज सम्पन्न हो उस समय भी मनुष्य को परिग्रह की सीमा करनी चाहिए। असीमित परिग्रह समाज की व्यवस्था को ही विषम नही बनाता, मनुष्य की आंतरिक वृत्तियो को भी विषय बना देता है। महावीर ने सामाजिक विषमता की उतनी चिन्ता नहीं की। उनकी चिन्ता का केन्द्र था मनुष्य की आन्तरिक वृत्ति का वैषम्य। मूल बीमारी यही है। यह होती है तभी सामाजिक व्यवस्था विषम बनती है। महावीर सबसे पहले रोग का निदान खोजते थे। उन्होंने देखा कि जैसे-जैसे परिग्रह की आसक्ति बढ़ती है वैसे-वैसे व्यक्ति की शक्ति, स्वस्थता, पवित्रता और निरपराधी मनोवृत्ति खंडित होती है। फलत: समाज अपनी अव्यवस्था से ही उत्पीड़ित हो जाता है।

अपरिग्रह का सिद्धान्त चेतना का स्पर्श करना है। उसका आधार 'व्यक्तिगत संपत्ति और व्यक्तिगत मुनाफा न हो' यह नहीं है। उसका आधार है पदार्थ के प्रति मूर्च्छा न हो, ममत्व न हो। आवश्यकता-भर संपत्ति और आवश्यकता-भर लाभ जीवन चलाने के लिए आवश्यक है। आवश्यक संपत्ति और अनावश्यक लाभ जीवन चलाने के लिए नहीं होता, मूर्च्छा के कारण होता है।

आज मनुष्य के सामने दो प्रश्न हैं—वह अपरिग्रही बने या समाजवादी चेतना का स्पर्श करे या व्यवस्था को बदले? मुझसे कोई इन प्रश्नों का उत्तर चाहे तो मैं यही दूंगा कि वह चेतना का स्पर्श अवश्य करे। व्यवस्था सामयिक होती है, इसलिए वह उसे अपेक्षित हो तो बदलने के लिए और अपेक्षित न हो तो चालू रखने के लिए स्वतन्त्र है। चेतना का स्पर्श होने पर व्यवस्था में अवश्य परिवर्तन आता है पर व्यवस्था के परिवर्तित होने पर चेतना का स्पर्श होना अनिवार्य नहीं है। इस अवसर पर महावीर

के चैतन्य को समझने वाले चेतना का स्पर्श कर अपरिग्रही बनें। संपत्ति की संचित राशि से फूटने वाला प्रकाश केवल अपने लिए न हो, वह समाज के लिए भी हो।

समन्वय

मनुष्य अनेक है। अनेकता ने स्वतन्त्रता को जन्म दिया, स्वतन्त्रता ने संघर्ष को और संघर्ष ने समन्वय को। भगवान् महावीर इस समन्वय के महान् द्रष्टा और सूत्रधार थे। इस समन्वय-सूत्र ने अनेकता को समाप्त नहीं किया, किन्तु उसके साथ जुड़ी हुई एकता को प्रदर्शित कर दिया। उसका अर्थ है कि अनेकता-विहीन एकता और एकता-विहीन अनेकता कहीं प्राप्त नहीं होती। जो व्यक्ति केवल अनेकता को देखता है वह निरपेक्ष स्वतन्त्रता को देखता है। जो निरपेक्ष स्वतन्त्रता को देखता है, वह संघर्ष का निर्माण करता है। संघर्ष मनुष्य को त्रास देता है। इसलिए मनुष्य उसे समाप्त करना चाहता है पर उसे एकता और अनेकता के समन्वय के विना समाप्त नहीं किया जा सकता। महावीर ने नहीं कहा कि अनेकता का कोई मूल्य नहीं है और उन्होंने नहीं कहा कि एकता का कोई मूल्य नहीं है। उन्होंने कहा—दोनों का मूल्य दोनों की सापेक्षता में है, निरपेक्षता में किसी का कोई मूल्य नहीं है। एकता-सापेक्ष अनेकता संघर्ष को जन्म नहीं देती। इसी प्रकार अनेकता-सापेक्ष एकता उपयोगिता को विनष्ट नहीं करती।

मनुष्य-मनुष्य के बीच संघर्ष है। जाति, भाषा, संप्रदाय, प्रादेशिकता आदि के आधार पर वह चलता है। जहां भी कोई भेद की रेखा खिंचती है वहां संघर्ष का आरम्भ हो जाता है। निमित्त मिलते ही भीतर सोया हुआ राग-द्वेष का सर्प फुफकार उठता है।

समन्वय की पृष्ठभूमि में वीतरागता का दर्शन है। राग और द्वेष के उपशम, चित्त की निर्मलता, अहिंसा और मैत्री का मूल्य समझ लेने पर ही समन्वय का सिद्धान्त समझ में आता है।

भगवान् महावीर वीतराग थे। उन्होंने वीतराग की भूमिका से ही समन्वय के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसी सिद्धान्त के आधार पर सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलंक, हरिभद्र, हेमचन्द्र आदि महामनीषी आचार्यों ने सब दर्शनों के सत्यांशों का मुक्त भाव से समर्थन किया। क्या एक जैन संघ के अनुयायी दूसरे जैन संघ की विशेषताओं को स्वीकार करते है? उनका उचित समादर करते हैं? यदि करते हैं तो उन्होंने समन्वय की खिड़की से महावीर को देखने का प्रयत्न किया है। यदि वैसा नहीं करते हैं तो वे इस अवसर पर महावीर की आराधना से पहले समन्वय की आराधना करें। समन्वय की आराधना करनेवाला जाने-अनजाने महावीर की आराधना कर लेता है। समन्वय की आराधना किए बिना महावीर की आराधना करने का प्रयत्न करनेवाला वास्तविक अर्थ में महावीर की आराधना नहीं कर पाता। युग समन्वय चाहता है। इसका अर्थ है कि युग में महावीर की भावना का प्रतिबिम्ब है। महावीर का अनुयायी भी उसमें प्रतिबिम्बित हो।

कर्तव्य के तीन आयाम प्रस्तुत हैं। युग का दर्शन महावीर के दर्शन की पुनरावृत्ति कर रहा है। सामायिक करनेवाला समताधर्मी वर्ग इस अवसर पर अवश्य ही समत्व के नए आयाम खोलेगा।

पचीसवीं निर्वाण शताब्दी के बाद

वर्तमान का सर्वाधिक मूल्य इसलिए है कि कल्याणकारी भविष्य के बीज उसके अंचल मे ही बोए जाते है। अतीत की केवल स्मृति ही हो सकती है, किन्तु उसे बदला नहीं जा सकता। भविष्य अनागत होता है इसलिए उसे रूपायित करना वर्तमान के हाथ है। हमारा अच्छा वर्तमान अच्छे भविष्य का निर्माण करता है। जैन संघ ने अतीत से कुछ पाठ पढ़ा है इसलिए वह वर्तमान के प्रति आज सजग है। जो संघ सुदूर अतीत में एक था और एक होने के कारण शक्तिशाली था वह काल के विभिन्न चरणों में विभक्त होता गया और इतना विभक्त हो गया कि उसके पास अपनी एकता अनुभव करने का सशक्त माध्यम भी नहीं रहा। इस शोचनीय दशा का चक्र शताब्दियों तक चलता रहा।

जिस संघ ने अपनी विशिष्टता के कारण विशाल साधु-संस्था को जन्म दिया था, जिस साधु-संस्था ने जन-जन को समता, समन्वय, सहिष्णुता, सापेक्षता और स्याद्वाद का महान् पाठ पढ़ाया था, वह साधु-संस्था पारस्परिक मतभेदों को सुलझाने में अक्षम तथा अपनी संघीय शक्ति को संगठित करने में सफल न हो सके, इसे नियति का क्रूर व्यंग्य ही माना जाएगा।

मुझे यह लिखते हुए हर्ष हो रहा है कि भगवान् महावीर की पचीसवीं निर्वाण शताब्दी का वर्ष नियति की उस क्रूर लिपि को मिटाने में सफल हुआ। जैन संघ ने अपने गौरव की दिशा में प्रतिक्रमण किया है। मैं यह

नहीं कहता कि यह सब कुछ इसी वर्ष का चमत्कार है किन्तु यह कहने में कोई कठिनाई अनुभव नहीं होती कि प्रस्तुत वर्ष ने संघीय शक्ति और एकता को घनीभूत होने का अवसर दिया है। श्वेताम्बर और दिगम्बर परंपरा में कोई भी एक आगम ग्रंथ सर्वमान्य नहीं है। तत्त्वार्थसूत्र दोनों परंपराओ मे मान्य होने पर भी पाठ-भेदों से मुक्त नही है। इस स्थिति में ऐसे किसी भी ग्रंथ का नामोल्लेख नही किया जा सकता था जिसे समूचे जैन संघ की मान्यता प्राप्त हो। कुछ वर्षो से सभी जैन सम्प्रदाय समन्वय की दिशा में प्रगति का प्रयत्न कर रहे थे। प्रस्तुत वर्ष में उस प्रयत्न की परिणति हुई और आज हम यह कहने की स्थिति में है कि 'समणसुत्तं' जैन संघ का सर्वमान्य प्रतिनिधि ग्रंथ है। आचार्य विनोबा भावे के प्रयत्न का मूल्यांकन करते हुए भी यह कहना असंगत नहीं होगा कि यदि जैन संघ के चारों सम्प्रदायों में समन्वय के बीज अंकुरित नही होते तो प्रस्तुत ग्रंथ को सबकी मान्यता प्राप्त नही होती। यह हुई है और इसे मैं इस वर्ष की महत्तम उपलब्धि मानता हूं। एक प्रतीक और एक ध्वज का होना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है किन्तु उससे भी महत्त्वपूर्ण है एक ग्रंथ का होना। समन्वय-मंच का निर्माण भी कम उपलब्धि नहीं है। कुछ अपेक्षाएं पूरी नही हो सकी। भगवान् महावीर की सर्वसम्मत जीवनी का स्वप्न अधूरा ही रहा। अनेक प्रयत्नों के उपरांत भी उसे साकार नही किया जा सका। साधु-संघ की एक न्यूनतम आचार-संहिता बने, इसकी अपेक्षा थी, पर वह पूरी नहीं हो सकी। श्रावक समाज के लिए जैन शासन के विकास का एक न्यूनतम कार्यक्रम भी नही बन सका। ये भविष्य के गर्भ में हैं। हमने भगवान् महावीर की पचीसवी निर्वाण शताब्दी का जैसा मूल्यांकन किया वैसा ही बना रहा तो आशा करनी चाहिए कि हम भविष्य में और अधिक संगठित हो सकेंगे तथा समन्वय साध सकेंगे।

मैं संगठन का मूल्य कम करना नहीं चाहता और उसे अतिरिक्त मूल्य देना भी मुझे पसंद नहीं है किन्तु उसका जितना मूल्य है उसका अंकन किये बिना हम उसके साथ न्याय नही कर सकते। काल की लम्बी अवधि में

अनेक धर्म-संघ विलीन हो गए, उसका कारण परंपरा की समाप्ति और परंपरा की समाप्ति का कारण संगठन की समाप्ति है। जैन संघ का यह सौभाग्य रहा कि उसकी साधु-संस्था संगठित रही और उसने धर्म-रूपी उपवन को हरा-भरा रखा। यह कम आश्चर्य की बात नहीं कि आज भी हज़ारों साधु-साध्वियां हैं। अनेक शिक्षित युवक और युवतियां बड़ी निष्ठा के साथ साधु-संस्था में प्रविष्ट होते हैं। जन-साधारण में उनके त्याग-तप की गरिमा आज भी कम नहीं है। फिर भी हम विकास के द्वार को संकीर्ण रखना नहीं चाहते। हम चाहते हैं कि वह विशाल हो और इतना विशाल हो कि जिसमे से समूची मानव जाति गुजर सके। यह तभी संभव है जब सगठन की पृष्ठभूमि मे ध्यान-साधना का विशिष्ट बल हो। मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि हमने महावीर के निर्वाण की पचीसवीं शताब्दी जैसे मनाना चाहिए था वैसे नहीं मनाई। इस निर्वाण के पचीसवें शतक मे लोक-कल्याण के अनेक कार्य हुए, अनेक स्तूपों और स्मारकों का निर्माण हुआ, भव्यतम आयोजन हुए, विपुल मात्रा में साहित्य प्रकाशित हुआ, लौकिक और आध्यात्मिक दोनो क्षेत्रों मे महत्त्वपूर्ण कार्य हुए, पर वह नहीं हुआ जो महावीर को सबसे अधिक इष्ट था। महावीर अपनी साधना की विशिष्टता के आधार पर भगवान् बने थे। उसकी विशिष्टता यह है कि उसमें न केवल उपवास का महत्त्व है, न केवल स्वाध्याय का और न केवल ध्यान का। इन तीनों का समन्वित महत्त्व है। इस अवसर पर इस तथ्य को जनमानस मे प्रतिष्ठित नहीं किया जा सका, यही वह कमी है जिसका उल्लेख किए बिना वर्तमान उपलब्धियों की समीक्षा अधूरी ही रहती है। उपवास की परंपरा चालू है, स्वाध्याय की बहुत कम और ध्यान की कम से भी कम। महावीर को इष्ट यह था कि आत्मोदय के लिए ध्यान सबसे अधिक हो तथा स्वाध्याय और उपवास उतने हों जितने ध्यान के लिए अपेक्षित हों। इस वर्ष ध्यान की परम्परा को पुनर्जीवित करने के लिए कोई भी सघन प्रयत्न नहीं हुआ। यह वह केन्द्र-बिन्दु है जिस पर हम सबका ध्यान केन्द्रित होना चाहिए। मैं इस विषय पर इसलिए ध्यान आकर्षित

करना चाहता हूं कि तेजस्विता और शक्ति का मूल स्रोत आत्म जागरूकता है। महाव्रत और व्रत मूलगुण हैं। जैन परम्परा ने उन्हें समुचित स्थान दिया है। फलतः जैन मुनियों की तपस्या और कष्ट-सहिष्णुता के प्रति आज भी जन मानस प्रणत है। मैं नहीं जानता ज्ञानाराधना के बिना चरित्राराधना साधु-संस्था में प्राण-संचार करती है, उसे चिरजीवी बनाती है। हमारे पूर्वाचार्यों ने ज्ञान की हर शाखा को विकसित किया था, फलस्वरूप हमारा साहित्य अनेक विधाओं में बहुत समृद्ध हुआ। वर्तमान में वह स्थिति नहीं है। इसका हेतु यह है कि प्रकृष्ट ज्ञानाराधना के लिए जो एकाग्रता, एकान्त और लोक-संग्रह-निरपेक्षता चाहिए वह आज उपलब्ध नहीं है। चरित्राराधना के अभिनव उन्मेष ज्ञानाराधना की प्राण-शक्ति पर निर्भर है और ज्ञानाराधना की शक्ति का जीवन-केंद्र ध्यानाराधना है। ध्यान की आराधना से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह पुस्तकीय अध्ययन से नहीं होता। जीवन में महाव्रतों की अन्तरंग व्याप्ति और सूक्ष्म सत्यों का स्पर्श करने वाली दृष्टि ध्यान से ही संभव है। इसलिए आत्मकेन्द्र होने की प्रक्रिया पर विचार करना युगीन अपेक्षा ही नहीं किन्तु तेजस्विता की अनिवार्य शर्त है। साम्प्रदायिक पकड़, धारणाओं का आग्रह और मान्यताओं का पक्षपात आत्मा की आन्तरिक अनुभूति के बिना विलीन नहीं हो सकते। आने वाले दशक में हम धर्म संघों को ध्यान की दिशा में मोड़ने का प्रयत्न करें। इसका अर्थ यह नहीं है कि संगठन नहीं रहेंगे। वे रहेंगे और उनका रहना नितांत अपेक्षित है। अंतर होगा तो यह होगा कि संगठनों में वे तत्त्व नहीं होंगे जो उसे परमार्थ के धरातल से नीचे उतार लाते हैं। इस कल्पना को आकार देने के लिए समूचे जैन संघ के ऐसे ध्यान-केंद्र हों जो ध्यान विद्या को वैज्ञानिक पद्धति से परीक्षित कर प्रयोग की भूमिका तक ले आए और उनके निष्कर्षों को जन-जन तक पहुंचाए।

जैन संघों की सैद्धान्तिक सूक्ष्मता ने उन्हें व्यापक स्तर पर संगठित नहीं होने दिया। कुछ संघ आज भी समन्वय और संगठित शक्ति में उतना विश्वास नहीं करते जितना कि करना चाहिए। आने वाले दशक में हमारा

यह धर्म होना चाहिए कि हम उन संघों की सहानुभूति प्राप्त करें और प्रेम से उनके हृदय को जीतें। सैद्धान्तिक मतभेदों के रहते हुए भी सह-अस्तित्व, समन्वय और एक मंच स्थापित हो सकता है, अनेकांत की इस धारा को विराट बनाएं। इससे भगवान् महावीर की पचीसवीं निर्वाण शताब्दी की निष्पत्तियां प्रखर होंगी, अनेकांत का दृष्टिकोण सार्थक होगा और जैन संघ जन-कल्याण के लिए अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकेगा।

जैन विश्वभारती : एक अनुचिन्तन

आप किसी बगीचे में जाते हैं। पौधों को देखते हैं। सुन्दर पुष्प खिल रहे हैं। वे सुरभित है, सुवासित हैं। उनकी सुगन्ध दूर-दूर तक फैल रही है। आपका मन प्रसन्न होता है। कितना अच्छा सौरभ ! कैसा परिमल ! इतनी महक मन को मुग्ध करने वाली ! किन्तु आप इस बात को न भूलें कि वे फूल जो सुन्दर हैं और सुवासित हैं, उनके नीचे भी एक मूल है। फूल का अपना जीवन नहीं है। फूल की जो सौरभ है, वह पौधे की जड़ों की देन है। अगर पौधे की जड़ें मजबूत है, पौधे का मूल टिका हुआ है और वह रस दे रहा है तो फूल खिल जाते हैं। पौधे की जड़ें अगर सूख जाती हैं, जड़ें कमजोर हो जाती हैं, मूल हिल जाता है तो फूल का कोई पता नहीं चलता। फूल की सुन्दरता के लिए उस मिट्टी से सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है। जिस मिट्टी ने पौधे को रस दिया और फूल को सौरभ दिया उस मिट्टी से विच्छिन्न होकर न हम सौन्दर्य देख सकते हैं और न सुवासना को प्राप्त कर सकते हैं। मिट्टी के साथ सम्पर्क, जड़ों के साथ सम्पर्क, दूर-दूर तक गहराई मे फैलने वाले तन्तुओ के साथ सम्पर्क जब स्थापित होता है तब फूल खिला हुआ सुन्दर लगता है और सुवासना देता है।

हमारे जीवन की भी यही कहानी है। हमारे जीवन की भी यही स्थिति है। हम फूल को देखते हैं और उसे पसन्द भी करते है। फूल की तरह खिले हुए जीवन को हर आदमी पसन्द करता है किन्तु जरूरी होता है कि हम मूल पर अधिक ध्यान दें। यह बड़ी कठिनाई है। दो चीजें होती हैं—एक

फूल और एक मूल। बहुत सारे लोग अग्र की बात देखते हैं। जो भुट्टा लगता है उसे देखते हैं, बालियों को देखते हैं; उन्हीं पर ध्यान केन्द्रित करते हैं किन्तु मूल पर बहुत कम ध्यान देते हैं। परिणाम यह आता है कि फूल भी खिलने बन्द हो जाते हैं और सुवासना भी हाथ नहीं आती।

एक बहुत बड़े राजनीतिज्ञ ने अपने जीवन के संस्मरणों में लिखा है—मेरी मां बूढ़ी हो गयी। बूढ़ी तो थी ही, बीमार भी हो गयी। मैंने कहा, 'मां! तुम्हारी क्या सेवा कर सकता हूं?' मां को फूलों की वाड़ी बहुत प्रिय थी। उसने कहा—'बेटा! मैं फूलों की सार-संभाल अब नहीं कर सकती। तुम मेरे उद्यान में जाओ, पुष्प-वाटिका मे जाओ और फूलों की सार-संभाल करो, जब तक कि मैं ठीक न हो जाऊं।' मैंने मां की आज्ञा शिरोधार्य की और मैं चला गया। मैंने जाकर देखा कि बहुत सुन्दर फूल खिल रहे हैं। मैंने पानी सींचना शुरू किया तो सोचा, मां तो अनपढ़ है, मैं पढ़ा-लिखा हूं। मुझे काम अक्ल से लेना चाहिए। वह पानी बहुत गिराती है। इतना पानी गिराने की जरूरत क्या है? मुझे समझदारी से काम लेना चाहिए। मुझे इतना पानी नहीं गिराना चाहिए।

मैंने फूलों को सींचना शुरू कर दिया। पांच-सात दिनों तक यह क्रम चलता रहा। मां अब स्वस्थ हो गयी। अब वह बगीचे मे आयी। देखती है तो फूल मुरझा रहे हैं? मां ने पूछा—'बेटा! क्या तूने पौधों को सींचा नहीं?' मैंने कहा—'मा! मैंने बहुत समझदारी से सींचा है। तुम्हारी तरह मैंने फालतू पानी नहीं बहाया।' मां ने पूछा—'कैसे सींचा?' मैंने कहा 'तुम सींचती हो नीचे और मैंने सींचा है ऊपर। तुम पानी को निकम्मा गंवाती हो मिट्टी मे डालकर और मैंने सारा का सारा पानी फूलों पर उंड़ेला है।' मां ने कहा—'प्रथम नम्बर के मूर्ख हो तुम। पढ़े-लिखे मूर्ख हो।' 'मा! यह कैसे?' मैंने तो सोचा कि समझदारी से काम लिया है, मां मुझे शाबाशी देगी, साधुवाद देगी और तुम कहती हो कि पढ़े-लिखे मूर्ख हो। यह कैसे? मां ने कहा—'बेटा, फूलों को नहीं सींचा जाता। सींचा जाता है मूल को। जो आदमी मूल को सींचता है, उसके फूल खिलते हैं

और जो फूल को सींचता है उसके फूल मुरझा जाते है।'

उसने लिखा है—'मैंने अपने जीवन में अपनी मां से ऐसा पाठ पढ़ा कि जो मेरे जीवन का प्रेरणादायी सूत्र बन गया, मन्त्र बन गया और उसके आधार पर आज तक अपने जीवन की नीति और राजनीति में सफल होता जा रहा हूं।' वह विचारक, वह राजनीतिज्ञ और वह चिन्तक है आज का प्रसिद्ध व्यक्तित्व और इतना जटिल व्यक्तित्व कि जिसके बारे में लोग कुछ समझ नहीं पाते। वह है माओत्से तुंग जिसने अपनी मौलिक नीतियों के द्वारा विश्व में कुछ ऐसी बातें स्थापित की है कि आज भी दुनिया आश्चर्यचकित है उसके बारे में और उसके व्यक्तित्व को समझने मे बड़ी कठिनाई महसूस कर रही है।

सचमुच यह मूल की बात है कि जब हम मूल को सींचना बन्द कर देते हैं और हमारा ध्यान केवल फूलों पर केन्द्रित हो जाता है तो न फूल लगते हैं और न मूल ही हाथ लगता है।

मैं समझता हूं कि 'जैन विश्वभारती' की परिकल्पना के पीछे भी यही दृष्टिकोण रहा है। आज जैन शासन को हम लोग फूल की भांति सुरभित, सौंदर्ययुक्त और सुवासित देखना चाहते हैं। किन्तु यह नहीं चाहते कि उसकी मिट्टी के साथ सम्पर्क स्थापित करें। यह व्यावहारिक भूल होगी। यह हमारा क्या विवेक होगा? हम मूल की बात को छोड़कर केवल ऊपर की बात को देखना चाहते हैं, ऊपर को सीचना चाहते है। आप हमेशा इस बात को याद रखे कि केवल ऊपर की बात करने वाले थोड़े समय के लिए सफल होते हुए दिखायी दे सकते हैं पर अन्ततः वे सफल नहीं हो सकते और वे सौन्दर्य तथा सुवासना को कभी प्राप्त नहीं कर सकते।

भगवान् महावीर की दृष्टि थी—'अग्गं मूलं।' यानी मूल और अग्र—दोनो पर तुम ध्यान केन्द्रित करो। दोनों को पकड़ो। केवल एक को नहीं पकड़ना है। मूल को भी पकड़ना है और अग्र को भी पकड़ना है। सिर को भी पकड़ना है और पैर को भी पकड़ना है। अगर पैर नही है तो हमारी

गति नही है और यदि सिर नही है तो हमारा चिन्तन नही है। यदि बालें ऊपर नही लगती हैं तो गेहूं के दाने नही मिल सकते और यदि मूल ही नहीं है तो गेहूं उपज ही नहीं पाता। हमें दोनों चाहिए, दोनों की ज़रुरत है।

आज जैन धर्म के लिए भी ये दोनों बातें जरूरी है। जैन धर्म भारतवर्ष का एक महान् धर्म है और इस अर्थ में महान् धर्म है कि जैन धर्म ने कुछ बातें, कुछ सिद्धांत और कुछ तत्त्व ऐसे अद्‌भुत दिए हैं, आज भी उन सिद्धांतों की बहुत बड़ी अपेक्षा है। एक सिद्धान्त होता है सामयिक जो समय पर काम करता है और कुछ समय के बाद उसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है। एक सिद्धान्त होता है शाश्वत और त्रैकालिक। जैन धर्म ने ऐसे सिद्धान्त दिए है, भगवान् महावीर ने ऐसे तत्त्व हमारे सामने उपस्थित किए है जो कि शाश्वत हैं और त्रैकालिक हैं। त्रैकालिक का मतलब है—जिसकी उपयोगिता किसी काल में समाप्त नही होती। आज का सारा संसार सापेक्षता की ओर बढ़ रहा हैं। एक ज़माना था, बहुत आदमी निरपेक्ष रहते थे। आज सापेक्षता की ओर जा रहे हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की अपेक्षा को ध्यान में रखकर चल रहा हैं। आज संसार मे संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे संगठन बन गए है जो इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं कि दूसरों की अपेक्षा को बराबर ध्यान में रखा जाए। आज विज्ञान के क्षेत्र में सापेक्षवाद का सिद्धान्त स्थापित हो गया है। डॉ० आइन्स्टीन ने बहुत बड़ी-बड़ी गुत्थियां विज्ञान की सुलझाई हैं सापेक्षवाद के द्वारा और सापेक्षवाद के द्वारा न जाने कितने नए-नए तथ्यों की व्याख्या की, रहस्यों का उद्‌घाटन किया।

भगवान् महावीर ने दर्शन के इतिहास में, चिंतन के इतिहास में, विज्ञान के इतिहास मे सबसे पहले सापेक्षवाद के सिद्धान्त की स्थापना की और उसका प्रतिपादन किया। आज जनतन्त्र का युग ह, व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का महत्त्व है। आज बोलने की आज़ादी, लिखने की आज़ादी और चिन्तन करने की आज़ादी हैं। स्वतन्त्रता का युग है। भगवान् महावीर ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की बात कहते हुए कहा—'हम किसी ईश्वर के आधीन नहीं हो सकते। हमारे भाग्य का नियंता दूसरा कोई नहीं हो

संकता। कोई व्यक्ति हमारे पर नियन्त्रण स्थापित नहीं कर सकता। हम स्वयं अपने भाग्य के विधाता हैं।' व्यक्ति-स्वातंत्र्य आज के जनतन्त्र का एक प्रमुख सिद्धान्त है। इसकी जितनी सुन्दर व्याख्या जैन दर्शन ने की और भगवान् महावीर ने की वैसी अन्यत्न नहीं मिलेगी। न जाने कितने सिद्धान्त, जो आज हमारे व्यवहार में आ रहे है, चाहे आप अहिंसा को लें, चाहे मैत्री को लें, चाहे सापेक्षता को लें, चाहे सह-अस्तित्व को, चाहे स्वतंत्रता को—इनका मूल आपको भगवान् महावीर की वाणी में अवश्य मिलेगा।

निःशस्त्रीकरण की बात आज बहुत चल रही है। जो लोग शायद बहुत ज्यादा शस्त्र बना रहे हैं, वे भी चर्चा निःशस्त्रीकरण की करते चले जा रहे हैं। आज से पचीस सौ वर्ष पहले भगवान् महावीर ने एक शब्द दिया था—'सत्थ परिन्ना—शस्त्र परिज्ञा।' इसका मतलब है—निःशस्त्रीकरण। आज समाजवाद और साम्यवाद की बात चल रही है। भगवान् महावीर ने 'इच्छा-परिणाम' का एक व्रत दिया। उनकी यह अलौकिक उपलब्धि है। कितने उदाहरण आपके सामने रखूं। ऐसे अनेक सिद्धान्त है, जिनकी उपयोगिता आज भी बराबर हमारे सामने हैं और आज भी वे नए और सद्यस्क प्रतीत हो रहे हैं।

अपने राष्ट्रपति-काल में डॉ० राधाकृष्णन् ने कहा था—'महावीर के विचारों का और उनकी क्रियान्विति का आज सबसे सुन्दर अवसर हमारे सामने है। आज हमारे राष्ट्र की राजनीति महावीर के अनुकूल चल रही है।' यह उन्होंने बड़े गौरव के साथ कहा था।

आप लोग जैन हैं और जैन धर्म की विशेषताएं सुनकर आपको प्रसन्नता होगी, गौरव भी होगा। क्योंकि जिस धर्म का अनुसरण आप लोग कर रहे हैं, उस धर्म के सिद्धान्त बहुत मौलिक और बहुत सत्य हैं। आज कोई भी विद्वान् जैन धर्म को माने या न माने परन्तु इस बात को स्वीकार करेगा कि जैन धर्म के सिद्धान्त बहुत वैज्ञानिक है। आचार्यश्री लखनऊ में थे। वहा कामरेड यशपाल आचार्यश्री से मिले और बातचीत के प्रारंभ में ही कहा—'आचार्यजी ! मैं जैन दर्शन को पढ़ना चाहता हूं।'

आचार्यश्री ने पूछा—'किसलिए ?' उन्होंने कहा—'मेरा विश्वास है कि जैन दर्शन इतना वैज्ञानिक दर्शन है कि आज के युग में उसका बहुत बड़ा मूल्य है। इसलिए पढ़ना चाहता हूं।'

आप लोगों को भी इस बात पर प्रसन्नता होगी। किन्तु एक बात आपसे पूछूं ? आप प्रसन्न होते हैं दूसरों से सुनकर। दूसरों के द्वारा जैन दर्शन की प्रशंसा सुनकर। दूसरों के द्वारा जैन धर्म का बखान सुनकर, आप प्रसन्न होते हैं। ठीक वही बात है कि फूलों को देखकर प्रसन्न होना चाहिए। पर उसमें आपका क्या योग है ? आपने कब प्रयत्न किया फूलों के मूल को सींचने का ? केवल फूलों को सींचने की बात आपको भाती है पर उसके मूल में आपका क्या योग है कि जिससे हज़ारों-हज़ारों फूल खिलते रहें और खिलते ही चले जाएं। मैंने आपसे एक प्रश्न पूछा और चाहता हूं हर व्यक्ति इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार करे कि मेरा क्या योग है ? मैंने मूल को सींचने का प्रयत्न किया है या नहीं ? मैंने क्या योग दिया है ? अगर इस प्रश्न पर सब लोग सोचेंगे और सब विचार करेंगे तो जैन विश्व-भारती की परिकल्पना अपने आप ही समझ में आ जाएगी।

जैन विश्वभारती की परिकल्पना का निमित्त तो यह बना कि भगवान् महावीर की पचीसवीं निर्वाण शताब्दी मनाई जा रही है। भगवान् को पचीस सौ वर्ष निर्वाण हुए पूरे हो रहे हैं। उसके उपलक्ष में कुछ किया जाना चाहिए। उस अवसर पर बड़े-बड़े आयोजन होंगे और यह अस्वाभाविक भी नहीं है। होते हैं। समय आने पर ऐसा होता है, किन्तु आयोजन का अर्थ होता है—आज आयोजन हुआ और कल समाप्त। आप व्यापारी है, आप इतनी मूर्खता का कार्य नहीं कर सकते। कोई भी व्यापारी ऐसा धंधा नहीं करता कि आज तो कमाया और शाम तक सब समाप्त कर दें। शायद व्यापारी नहीं हो सकता, कोई मद्रासी हो सकता है, जो आज कमाया और शाम को खाया। कल की चिन्ता नहीं है। कल ब्याज से रुपया लाओ और खाओ। कुछ न हो तो धोती को गिरवी रख दो, कमीज को रख दो, घड़ी को रख दो। शायद एक विशेषता है कि पत्नी को नहीं रखते

और सब कुछ रख देते है। किन्तु कोई भी व्यवसायी ऐसा नहीं करता। वह बचाने के लिए सोचता है।

इसलिए मैं कहता हूं कि आयोजनों से एक स्मृति होती है परन्तु फलित हमारे सामने नही रहता। इस चिंतन की भूमिका पर जब चले तब सोचा गया कि कुछ ऐसा काम होना चाहिए जो स्थायी हो और शताब्दियों तक यह बात सामने आती रहे कि भगवान् की पचीसवीं शताब्दी आयी थी और उसके उपलक्ष में यह कार्य हुआ। एक विराट् कार्यक्रम हुआ और उसकी स्मृतिस्वरूप जैन विश्वभारती हमारे सामने प्रस्तुत है।

भगवान् महावीर ने हमारे धर्म के सार के रूप में तीन सूत्र दिए—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र। सम्यक् ज्ञान होना चाहिए, सम्यक् दर्शन होना चाहिए और सम्यक् आचरण होना चाहिए। आज के छात्र को, आज की छात्रा को स्कूलों में ज्ञान मिलता है। पर उसे सम्यक् कहने में मुझे कठिनाई होती है। उसे क्या सम्यक् कहा जाए? अगर ज्ञान सम्यक् होता तो यह तोड़-फोड़ नही हो सकती। ज्ञान सम्यक् हो तो अध्यापक को नहीं पीटा जा सकता। ज्ञान सम्यक् हो तो उपकुलपति की पूजा नहीं की जा सकती और ज्ञान सम्यक् हो तो उपकुलपति की हत्या नही की जा सकती। आपने सुना होगा कि यादवपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति की हत्या कर दी गयी। आपने सुना होगा कि जोधपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति को किस प्रकार पीटा गया, किस प्रकार घेराव किया गया और न जाने कितने अध्यापकों तथा प्रिंसिपलों के साथ कैसा बर्ताव किया जाता है। मैं किन-किनका नाम गिनाऊं? यदि ज्ञान सम्यक् हो तो ऐसा नहीं हो सकता। ज्ञान और उपद्रव का क्या मेल? ज्ञान नहीं है और है तो सम्यक् नही है और जो सम्यक् नही है, वह जैन परिभाषा में अज्ञान है।

आज मुझे लगता है कि अज्ञान का पोषण हो रहा है। स्कूल और महाविद्यालय जाने-अनजाने अज्ञान का पोषण कर रहे है। आज बहुत जरूरी है कि सम्यक् ज्ञान हमारे विद्यार्थी को प्राप्त हो, सम्यक् दृष्टिकोण

प्राप्त हो, जिससे कि वह यथार्थ को देख सके और ठीक समझ सके। समझने मे बड़ी कठिनाई होती है। हम दृष्टिकोण नही पकड़ पाते। बीच में इतने तर्क आ जाते हैं कि बात कहीं की कही रह जाती है।

बगीचे में आदमी गया। बहुत लम्बे-लम्बे देवदारु के पेड़ खड़े थे माली से पूछा—'भाई! पेड़ बहुत लम्बे हैं। कितने लम्बे पेड़!' माली बहुत तार्किक था। उसने कहा—'बाबूजी! बढ़ने के सिवाय इनके और काम ही क्या है? निकम्मा आदमी कुछ तो करे।'

बात कहीं की कही तर्क में उलझ गयी। ऐसा होता है। दृष्टिकोण भिन्न प्रकार का बन जाता है। ऐसे दृष्टिकोण का निर्माण होता है कि बात छूट जाती है, मूल छूट जाता है। आज शायद ऐसा हो रहा है। सारा का सारा दृष्टिकोण ऐसा बन गया, ऐसी मान्यताएं हो गयी, ऐसी धारणाएं बन गयीं। आदमी ने मान लिया कि सचाई से काम नही चल सकता, सचाई से जीवन नहीं चल सकता। हिंसा के बिना जीवन नही चल सकता। हिंसा के बिना समत्व नही लाया जा सकता। भला हिंसा और समता का सम्बन्ध ही क्या है? हिंसा से तो विषमता आएगी ही, पर आज यह दृष्टिकोण बन गया है कि हिंसा के बिना शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। यह सब सम्यक् दृष्टिकोण के अभाव में हो रहा है। आज दृष्टिकोण के सम्यक्करण की बहुत अपेक्षा है और जैन धर्म तो इस बात पर बहुत बल देता है कि हमारा दृष्टिकोण समीचीन होना चाहिए। सम्यक्, सही और यथार्थ होना चाहिए।

तीसरी बात है—आचरण की। जिसमें ज्ञान सम्यक् नहीं, जिसमें दृष्टिकोण सम्यक् नहीं, उससे हम सम्यक् आचरण की अपेक्षा करें, इससे बढ़कर हमारी मूर्खता हो नहीं सकती। सम्यक् आचरण और कुछ नहीं है, सम्यक् ज्ञान की क्रियान्विति मात्र है। उसका प्रतिबिम्ब मात्र है। जिस व्यक्ति का सम्यक् ज्ञान पुष्ट हो गया, सम्यक् दृष्टिकोण पुष्ट हो गया, वह क्रियान्विति के बिना रह नही सकता और उसमें उसका प्रतिबिम्ब हुए बिना रह नही सकता। यह प्रतिबिम्ब मात्र ही सम्यक् आचरण है। बिम्ब

के बिना प्रतिबिम्ब कैसे हो सकता है ?

जैन विश्वभारती के सामने ये तीन बातें हैं। एक प्रवृत्ति है शोध की, दूसरी प्रवृत्ति है शिक्षा की और तीसरी प्रवृत्ति है साधना की। शोधपीठ, शिक्षापीठ और साधनापीठ। आप तीनों की तुलना कर सकते हैं। शोध यानी ज्ञान का विकास, शिक्षा यानी दृष्टिकोण का निर्माण और साधना यानी चरित्र का निर्माण। तीनों का सम्यक् विकास।

पहले आता है शोध। वह हमारे ज्ञान को बढ़ाता है। आज सब धर्मों की कठिनाई क्या है ? चाहे जैन धर्म हो, चाहे वैष्णव धर्म हो, चाहे दूसरा-तीसरा कोई धर्म हो। धर्म के दरवाजे हमने बन्द कर दिए। मकान बनाते हैं तो आप खिड़कियां रखते हैं। किसलिए ? अगर खिड़की हो तो प्रकाश आए, हवा आए और शुद्ध वातावरण रहे। खिड़कियां रखते हैं, दरवाजे रखते हैं। पर आपने धर्म का मकान तो ऐसा चिन दिया कि कहीं खिड़की नहीं, कहीं दरवाज़ा नहीं, कहीं से भीतर नहीं जा सकते। भीतर रह गए तो बाहर नहीं आ सकते।

बड़ी अजीब स्थिति है। अगर धर्म के मकान में खिड़की होती तो नयी बात को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होती। पर आज तो धार्मिक को नयी बात स्वीकार करने में जितनी कठिनाई है, दुनिया में किसी को नहीं। नयी बात आने पर उनके सिर में जितना दर्द होता है, शायद किसी को नहीं होता। चन्द्रमा की यात्रा की अमेरिका वालों ने, रूस वालों ने और सबसे ज्यादा सिरदर्द हुआ धार्मिकों के—अब क्या होगा ? लोग चन्द्रमा पर पहुंच गए। अब वह भगवान् कैसे रहा ? अब उसे देखकर भोजन करने का संकल्प कैसे पूरा करेंगे ? न जाने कितनी-कितनी चिंताएं धार्मिक क्षेत्र में व्याप्त हो गयी। चन्द्रमा पर कोई गया और चिन्ता किसी को हो गयी। बिलोना किसी के घर हो रहा है और आंतें किसी की जल रही हैं।

मुझे लगता है कि आज धार्मिकों की बड़ी विचित्र स्थिति हो रही है। जहां सत्य का उद्‌घाटन होता है, उसे भी शायद वे पसन्द नहीं करते।

आज हमारे बहुत सारे जैन भाई भी कहते हैं कि चन्द्रमा पर नहीं पहुंचे, बीच में किसी पहाड़ पर पहुंच गए। बड़ी अजीब हालत है। इस प्रकार सोचने वाले संकीर्ण दिमाग के लोग, जिन्होंने अपने दिमाग की सारी खिड़कियां बन्द कर रखी हैं, जिन्होंने हवा के लिए और प्रकाश के लिए,एक भी छिद्र रखना पसन्द नही किया, उन्ही लोगों के द्वारा धर्म आवाद होगा तो फिर सत्य का तो गला ही घुट जाएगा, सत्य की हत्या ही हो जाएगी।

आज सबसे बड़ी आवश्यकता है धर्म के ऐसे प्रासाद का निर्माण करना, जिसमें कोई भीत न हो, कोई आवरण न हो। और जरूरी भी नहीं है। बम्बई जैसे शहरों मे देखिए। बड़े-बड़े मकान केवल खंभों के आधार पर खड़े हैं। धर्म एक ऐसा रास्ता है, जहां खिड़की क्या, किसी आवरण की आवश्यकता ही नही है। जिसमें है केवल सत्य का स्वीकार। सत्य के लिए सारा का सारा खुला रहता है। आज उसकी आवश्यकता है। और ऐसा होगा तो फिर कोई भी नयी बात आए, नया तथ्य आए, नयी चीज आए, हमारे लिए सिरदर्द नहीं बनेगी। सिर के लिए बोझ नहीं बनेगी। किन्तु आज इसका ठीक उल्टा हो रहा है। इसीलिए जैन विश्वभारती मे पहली बात होगी शोध। यानी निरन्तर शोध होनी चाहिए, खोज होनी चाहिए।

जिस दिन धर्म के क्षेत्र मे खोज का द्वार बन्द हुआ, धर्म में रूढ़िवादिता आ गयी, जड़ता आ गयी और मूर्खता को पनपने का मौका मिलता गया। आज न जाने कितने धार्मिक लोग ऐसे बैठे हैं जो केवल रटे-रटाए शब्दों की व्याख्या कर देते हैं, उसके सिवाय उन्हें कोई ज्ञान नही। चाहे किसी टेपरिकार्डर से सुन लो और चाहे उनके मुख से संस्कृत या और किसी भाषा के श्लोक सुन लो। दोनों में मुझे कोई अन्तर दिखाई नहीं देता।

शोध-संस्थान में क्या होगा? धर्म, दर्शन, भाषा, ज्योतिष, गणित आदि-आदि प्राच्य विद्याओं की जितनी शाखाएं है, उन शाखाओं का अन्वेषण, गवेषण और अनुसंधान होगा। नई-नई बातें हमारे सामने आएंगी, जो कि आज तक नहीं आयीं। उसके साथ जुड़ा हुआ है प्रायोगिक

दर्शन। उसमें दर्शन केवल एक सिद्धान्त की चीज नहीं है। हमारे प्रयोग की वस्तु है। कार्ल मार्क्स ने कहा, धर्म केवल सिद्धान्त देता है, जीवन में परिवर्तन नहीं लाता। किन्तु मैं मानता हूं कि भारतीय दर्शन के लिए यह आरोप स्वीकार्य नही है, मान्य नही है। हमारे यहां उस धर्म को धर्म नही माना गया, उस दर्शन को दर्शन नहीं माना गया जिसकी निष्पत्ति आचार मे न हो।

महान् योगी भद्रबाहु से पूछा गया—'ज्ञान का सार, क्या है?' 'उन्होंने कहा—'नाणस्स सारं आयारो'—ज्ञान का सार है आचार। वृक्ष लगाया। उसका सार क्या है, फल। जिसमें फल न लगे और आप उस वृक्ष को सीचते ही चले जाएं, मैं समझता हूं कि इससे बढ़कर और कोई मूर्खता नही होगी। हर आदमी पहले फल को ध्यान में रखकर वृक्ष को सीचता है। अनाज को ध्यान में रखकर खेती को सीचता है, फसल को सीचता है। अनाज न लगे, फल न लगे, उसे कोई नहीं सीचता। उस ज्ञान को भी हम नहीं सीच सकते, जिस ज्ञान का कोई फल आचार में न लगे। ज्ञान का फल है आचार। ज्ञान और आचार, ये दोनों मिलकर हमारे धर्म और दर्शन को पूर्ण बनाते हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि प्रायोगिक दर्शन में ज्ञान की क्रियान्विति का सारा प्रयोग होगा। योग विद्या भारत की बहुत बड़ी विद्या रही है। योग के माध्यम से यहां न जाने कितना किया जा रहा है। अभी एक भाई आया। उसने कहा कि उसने डॉक्टर से कहा—'मेरी चिकित्सा करो, दवा दो।' 'डॉक्टर ने कहा—'क्या करूं? तुम कहो तो दवा दूं। पर मेरी सलाह यह है कि तुम दवा मत लो। आसन करो, व्यायाम करो।'हम ने स्वयं सुना कि बम्बई के डॉक्टर ढोलकिया, जो कि हड्डी के विशेषज्ञ हैं, बहुत बड़े डॉक्टर हैं, उन्होने कहा कि घुटनों में दर्द है, इंजेक्शन ले सकते हो, पर स्थायी लाभ नहीं होगा। स्थायी लाभ होगा आसनों से और व्यायाम से। अभी-अभी कई डॉक्टरों ने ऐसी चिकित्सा की पद्धतियां निकाली हैं, जिनमें मुख्यतः प्राणायाम, आसन आदि का प्रयोग होता है।

हमारे शरीर में न जाने कितना सार भरा पड़ा है। हम तो उसका सार यही समझते हैं कि शरीर को देना सार है, शरीर से लेना सार नहीं है। शरीर को खिलाना-पिलाना, पोसना, अच्छे कपड़े पहनाना इसको सार समझते हैं, परन्तु शरीर से कुछ लेना सार नहीं समझते; जब कि उसमें बहुत सार भरा पड़ा है। योग के द्वारा, योग के आचार्यों ने न जाने कितनी बातों का आविष्कार किया था। आज ये बहुत सारी बातें हमारी विस्मृति में चली गयीं। उन बातों को पुनर्जीवित करना, हमारी मंत्र विद्या, हमारी तंत्र विद्या, हमारी योग विद्या, जिनके द्वारा शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक लाभ होते थे, उनके बारे में खोज करना और उनका विकास करना, यह सारा प्रायोगिक दर्शन पीठ का कार्य होगा। यह सारा शोध-संस्थान का कार्य है, जिसे संक्षेप में मैंने आपके सामने रखा।

दूसरा है शिक्षा का। लौकिक शिक्षा को भी नहीं छोड़ा जा सकता, किन्तु उसे इस प्रकार के वातावरण में देना होगा जिसमें कि सही दृष्टिकोण का निर्माण हो, जीवन के दृष्टिकोण का निर्माण हो और साथ-साथ जीवन का भी निर्माण हो।

तीसरा है साधना का। यानी व्यक्तिगत जीवन में चरित्र का, ध्यान का, आसन का, प्राणायाम का और मानसिक शक्ति का विकास करना। शान्त जीवन जीने का अभ्यास करना। पारिवारिक जीवन में कलह न हो और स्वर्गीय जीवन जिया जा सके न कि नारकीय जीवन जिया जाए। इस प्रकार सारे व्यावहारिक पहलुओं का अभ्यास और उनकी साधना का प्रशिक्षण, वह होगा साधना का कार्य। और साधना-केन्द्र शान्त और सुखी जीवन जीने की कला का प्रशिक्षण देगा।

साधना के साथ एक तीसरी श्रेणी की भी परिकल्पना है, जिसका नाम है 'उपासक श्रेणी'। आज ऐसे लोगों की आवश्यकता है जो गृहस्थ नहीं हैं। आप सोचेंगे कि ऐसे लोग तो पहले से ही है। साधु सामने बैठे हैं, जो गृहस्थ नहीं हैं। किन्तु आज ऐसे लोगों की आवश्यकता है जो साधुओं जैसी चर्या न निभा सकें। कारण कि जो लोग गृहस्थ हैं, उनके पारिवारिक

बन्धन हैं और वे अपने परिवार में फंसे हुए है। भावनावश बहुत सारे लोग सोचते हैं कि हम कुछ काम करें, परन्तु जब घर में जाते हैं, आज यह है, कल वह है, परसों यह है। एक-एक बात याद आती रहती है कि निकल नहीं पाते। बड़ी कठिनाई है। साधुओं को भी कठिनाई है, क्योंकि उनके चर्या के कुछ ऐसे नियम हैं कि हर आदमी उस दिशा में सोच नहीं सकता। सबसे पहले लोग डरते हैं कि लोच कराना पड़ता है। पैदल चलना पड़ता है। नंगे पैर चलना पड़ता है। कंधों पर भार ढोना पड़ता है और भिक्षा लानी पड़ती है। कितनी बड़ी कठिन चर्या है। दोनों ओर कठिनाई है। इसमें एक तीसरी श्रेणी होनी चाहिए। यानी दोनों से भिन्न। न तो गृहस्थ और न साधु। परिवार से सम्बन्ध नहीं। पारिवारिक बन्धन नहीं। घर की उलझनें नहीं। इस माने में तो वह गृहस्थ नहीं। किन्तु साधु की चर्या के नियम भी नहीं। लोच कराना नहीं, भिक्षा मांगना नहीं आदि-आदि साधु की चर्या के नियम उस पर लागू नहीं। उसमें साधु का संयम और गृहस्थ की चर्या कुछ मानों में ही। दोनों के बीच एक तीसरी श्रेणी का निर्माण होता है, उपासक श्रेणी का। उपासक चाहे तो जीवन भर इस श्रेणी में आ सकता है और किसी में इतनी शक्ति यदि न हो तो कम-से-कम एक वर्ष तक या जितना वह चाहे। यह है तीसरी श्रेणी की परिकल्पना।

हिन्दुस्तान में तथा उससे बाहर जैन धर्म के प्रचार के लिए, धर्म के प्रचार के लिए, मानवता और नैतिकता के प्रचार के लिए और निःस्वार्थ भाव के समाज के हित-साधन के लिए ऐसे लोगों की जरूरत है। इसी वर्ष उसका प्रारम्भ हो रहा है। प्रायोगिक रूप में पहला सत्र कुछ महीनों बाद शायद आपके सामने आने वाला है। यह उपासक श्रेणी की योजना भी साधना-केन्द्र के साथ जुड़ी हुई है।

ये तीनों बातें जुड़कर जैन विश्वभारती की कल्पना होती है। जैन विश्वभारती जीवन की प्रक्रिया है। किन्तु आप जानते हैं कि केन्द्र होता है तो परिधि अपने आप बन जाती है। एक खंभा है तो उसकी छाया भी होगी। भगवान् महावीर ने तीर्थ का प्रवर्तन किया तो तीर्थ बन गए और

तीर्थ के भी तीर्थ बन गए। यानी साधु-साध्वी तीर्थ बने और उनके भी तीर्थ बन गए। पावापुरी बन गया, सम्मेदशिखर बन गया। तीर्थ के भी तीर्थ बन जाते है। यह तो होता है। स्वाभाविक बात है।

मैं जो कह रहा हूं वह यह है कि हम सबको इसमें योग देना है। योग क्या देना है ? ज्ञान, दर्शन और चारित्र की मिट्टी को अपने जीवन में और दूसरों के जीवन मे हम फलित कर सकें, इसमें योग देना है। पर साथ में यह भी आप जानते हैं, जैसे मैंने कहा कि तीर्थ का भी तीर्थ बन जाता है, हमें अपना काम करना है, और आपको अपना काम करना है। हम आपका पूरा काम नही करेंगे और आप हमारा पूरा काम नहीं करेंगे। दोनों मिलते हैं। शरीर और आत्मा दोनों मिलते है, तब मैं बोल रहा हूं। अगर शरीर अलग पड़ा होता, आत्मा अलग होती तो न आप सुनते और न मैं आपके सामने बोलता। दोनों मिलते हैं तब कुछ होता ह। गृहस्थों के भी कुछ कर्तव्य होते है। सामाजिक प्राणियों के भी कुछ कर्तव्य होते है। हम कल्पना को आकार कैसे दें, विचार को आकार कैसे दें, यह समाज का काम होता है। मूर्तरूप देना, यह समाज का काम होता है। दोनों बातें मैंने आपके सामने रखी। एक अमूर्त भावना और एक मूर्त भावना। यह मूर्तीकरण की बात भी कम नही है। आप जानते है कि मनुष्य हर चीज को मूर्त रूप देना चाहता है। ज्ञान था अमूर्त। मनुष्य ने क्या किया, पुस्तकें बना दीं। समय था अमूर्त। मनुष्य ने क्या किया, घडियां बना दी। भगवान् था अमूर्त। मनुष्य ने क्या किया, मूर्तियां बना दी। आदमी मूर्तीकरण के बिना संतोष नहीं मानता। अमूर्त भावना को प्रस्तुत करना भगवान् का काम होता है और उसे आकार देना भक्त का काम होता है। कहते है, भगवान् ने आकाश को अमूर्त बनाया, ज्ञान को अमूर्त बनाया, परन्तु भक्तों ने तो उन्हें मूर्त बना ही दिया। आकाश अमूर्त था, मकान बना दिया। आकाश मूर्त हो गया। आप स्वयं सोच लें कि आपका क्या कर्त्तव्य है और हमारा क्या कर्त्तव्य है ?

आचार्यश्री अमूर्त बात देते जा रहे हैं और उनके भक्त लोग उसे मूर्त

करते चले जा रहे हैं। दोनों मिलकर जैन धर्म के विकास के लिए इतना बड़ा अनुष्ठान और संस्थान होगा कि शताब्दियों तक जैन धर्म के गौरव की गाथा गायी जाएगी और शायद देश-विदेश के लोग, सारी दुनिया के लोग इस महान् संस्थान और इस महान् संस्थान में चलने वाले ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना से लाभान्वित हो सकेंगे। इसलिए इसमें हर व्यक्ति का पुण्य और पवित्र कर्तव्य होता है कि वह अपने जीवन की जो अमूल्य थाती है, उसका अवश्य ही इसमें नियोजन करे।

दीक्षा : क्या और क्यों ?

जब मैं घर में होता हूं तब घर खाली हो जाता है। जब मैं घर से बाहर आता हूं तब वह भर जाता है। घर में रहकर उसे खाली कर देना ही दीक्षा है।

जब मैं पाने का प्रयत्न करता हूं तब दुःख उभर आता है। जब मैं खोने लगता हूं तब सुख का सिंधु तरंगित हो उठता है। 'पाना कुछ नहीं है, केवल खोना है'—इस विवेक का जागरण ही दीक्षा है।

जब मैं दूसरे को मेरा बनाता हूं तब समस्याएं उभर आती हैं। जब मैं दूसरे का होता हूं तब ग्रन्थियां खुल जाती हैं। ममकार की ग्रन्थि का खुल जाना ही दीक्षा है।

'अनीत्वा पङ्कतां धूलिं, जलं नैवावतिष्ठते।'

धूलि को पंकिल किए बिना जल टिक नहीं सकता। मन आसक्ति से पंकिल होता है तभी उसमें वासना का जल टिकता है। राग-द्वेष को समाप्त करने के लिए चेतनानुभव या शुद्ध उपयोग की जो साधना है वही दीक्षा है।

दीक्षा को मैंने चिकित्सा के रूप में देखा है। मनुष्य रुग्ण है और दीर्घकाल से रुग्ण है। वह स्वस्थ होना चाहता है तब दीक्षा स्वीकार करता है। उस स्वीकार की दो विधियां हैं—

१. डॉक्टर के प्रति समर्पण,

२. स्वयं अपनी चिकित्सा।

रोगी अपने रोग-निवारण के लिए डॉक्टर के प्रति समर्पित होता है। दीक्षित होने वाला गुरु के प्रति समर्पित होता है। यह मार्ग सीधा है पर खतरों से मुक्त है, यह मैं नहीं कह सकता।

कोई रोगी अपने आप अपनी चिकित्सा करता है। यह मार्ग कुछ टेढ़ा है। इसमें खतरे भी उससे अधिक हैं। 'अधिक खतरे, अधिक उपलब्धि'— इस सत्य को हम न भूलें। साथ-साथ इस वास्तविकता को भी विस्मृत न करें कि अधिक खतरों को झेलने के लिए अधिक क्षमता और अधिक अनुभव चाहिए। दुर्बल आदमी अधिक खतरों को झेलता है तो उनका पार नहीं पा सकता।

जैन परम्परा ने प्रत्येक बुद्ध और स्वयंबुद्ध के अस्तित्व को मान्य किया है। पर सामान्य मार्ग बुद्धबोधित का है। साधारण मनुष्य गुरु के द्वारा प्रतिबोध प्राप्त कर दीक्षित होता है। इस दीक्षा से दीक्षित होना कोई बुरी बात नहीं है, अच्छी बात है। पर दीक्षा की भूमिका को प्रयोगभूमि न बनाना अच्छी बात नहीं है।

प्रयोग-काल में भूलें भी हो सकती हैं। सचाई यह है कि हमें भूलों का अनुभव प्रयोगकाल में ही होता है। धारणा से बंधी हुई भूमिका में भूलें बहुत होती हैं, उनका अनुभव कम होता है। प्रयोग की भूमिका में भूल का यथार्थ अनुभव होता है। पहला मार्ग भूलों को सहलाने का मार्ग है। दूसरा भूलों की समाप्ति का मार्ग है। किन्तु मनुष्य प्रकृति से ही रोग को दबाना पसन्द करता है। उसका उन्मूलन उसे कम पसन्द है। मैं प्रयोग को रोग के उन्मूलन की प्रक्रिया मानता हूं। मुझे इसी प्रक्रिया में मुनि-दीक्षा की सार्थकता दिखायी देती है।

तेरापंथ की तीन विशेषताएं

विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में एक विचार-क्रांति घटित हुई। फलस्वरूप आचार्य भिक्षु की प्रतिभा ने तेरापंथ का जन्म दिया। उस समय पूज्य रघनाथजी स्थानकवासी परम्परा के सुप्रसिद्ध आचार्य थे। संत भीखणजी उनके पास दीक्षित हुए। कुछ विचार-भेद के कारण वे उस परम्परा से मुक्त हो गए। उनकी अन्तर्मुखी वृत्ति, अनासक्ति, विरक्ति, तपस्या और चतुर्मुखी प्रतिभा से जनता आकर्षित हुई। तेरापंथ का उद्भव हो गया।

जैन धर्म की दो मुख्य धाराएं—श्वेताम्बर और दिगम्बर पहले से प्रचलित थी। श्वेताम्बर शाखा में संवेगी और स्थानकवासी, ये दो प्रशाखाएं थीं। तेरापंथ के उद्भव के बाद तीन प्रशाखाएं हो गयीं। शाखा-प्रशाखा का होना विकास का स्वाभाविक क्रम है। मेरी दृष्टि में शतशाखी वृक्ष विशाल और रमणीय होता है। तेरापंथ ने जैन परम्परा की विशालता और रमणीयता में वृद्धि की है। आचार्य भिक्षु ने जिस संगठन की स्थापना की, उसकी अपनी कुछ मौलिक विशेषताएं हैं। उसकी तीन मुख्य आधार-शिलाएं है—

(१) निष्कर्म, (२) हृदय-परिवर्तन, और (३) सापेक्षता।

निष्कर्म

शरीर-धारण के लिए कर्म की अनिवार्यता है। शुद्ध चेतना के जागरण

के लिए निष्कर्म की अनिवार्यता है। कर्म और निष्कर्म का संतुलन ही धर्म का मर्म है। कोरा कर्म होता है वहां स्पर्धा और संघर्ष के स्फुलिंग उछलते हैं। कोरा निष्कर्म होता है, वहां संघ नहीं होता, परंपरा नहीं होती। परंपरा, संघ और साधना—तीनों की समन्विति के लिए कर्म और निष्कर्म दोनों की समन्विति अपेक्षित है। आचार्य भिक्षु ने स्पर्धा और संघर्ष के वातावरण को देख निष्कर्म को प्रधानता दी। इसीलिए उनके अध्यात्मवादी या निवृत्तिपरक विचारों को समझने में कुछ कठिनाइयां हुई थी। आचार्य भिक्षु ने आचार्य कुंदकुंद की आध्यात्मिक परम्परा को नए संदर्भ में उज्जीवित किया।

स्थूल व्यवहार के स्तर पर चलने वाले लोग उसकी गहराई तक नहीं पहुच सके। उन्हें वह धारा व्यवहार का उन्मूलन करने वाली लगी। इसलिए उसका विरोध भी हुआ। किन्तु सचाई यह है कि आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ के माध्यम से अध्यात्म की तर्कशुद्ध पद्धति प्रस्तुत की। सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० सतकौड़ी मुकर्जी ने एक प्रसंग में कहा—'आचार्य भिक्षु मारवाड़ में जन्मे। यदि वे जर्मनी में जन्मे होते तो उनका दर्शन कांट से कम महत्त्व का नहीं होता।'

आचार्य भिक्षु ने निष्कर्म को केवल सैद्धांतिक रूप में ही प्रतिष्ठित नहीं किया, उसे व्यवस्था के स्तर पर भी प्रतिष्ठा दी। कर्म की बहुलता कामना की बहुलता से जुड़ी रहती है। निष्काम और निष्कर्म अलग-अलग नहीं होते। निष्कर्म होगा वहां निष्काम होगा और निष्काम होगा वहां निष्कर्म होगा। पद के लिए उम्मीदवार नहीं बनूंगा—यह व्यवस्था सूत्र निष्कर्म और निष्काम दोनों की फलश्रुति है। पद कार्य के लिए है, सेवा के लिए है, प्रतिष्ठा के लिए नहीं है—इस सिद्धांत के आधार पर तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीजयाचार्य ने पद के समर्पण की व्यवस्था की। 'अग्रणी साधु-साध्वी चातुर्मास के बाद आचार्य के पास आए, तब पद का समर्पण कर दे।' इस व्यवस्था के अनुसार लगभग सवा सौ अग्रणी साधु-साध्वियां आचार्य के पास उपस्थित होते ही इस व्यवस्था को दोहराते हैं—'मैं, मेरे

सहगामी साधु (या साध्वी) तथा पुस्तकें आपके चरणों में प्रस्तुत हैं, आप जहां रखेंगे, वहीं हम रहेंगे।' यह समर्पण या ममकार विसर्जन की अन्तः प्रेरणा तेरापंथ को नयी शक्ति और नयी स्फूर्ति प्रदान करती है।

हृदय-परिवर्तन

आचार्य भिक्षु ने यह स्वीकार किया कि साध्य और साधन दोनों की शुद्धि हुए बिना धर्म नही हो सकता। इस सिद्धात की व्याख्या में हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत विकसित हुआ। हृदय-परिवर्तन के लिए विराट् प्रेम का होना जरूरी है। जिसके हृदय में क्रूरता छिपी रहती है वह हृदय-परिवर्तन करने में सफल नही होता। गोकुलदास नानजी भाई गांधी ने लिखा है कि आचार्य भिक्षु का साध्य-साधन की शुद्धि और हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत-बीज श्रीमद् रायचन्द्र के पास पहुंचा और श्रीमद् के माध्यम से वह महात्मा गांधी तक पहुंचा। मेरी दृष्टि में साधन-शुद्धि पर आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी ने जितना विशद चिन्तन किया है, उतना अन्य चिन्तकों ने नहीं किया।

.आचार्य भिक्षु ने संघ का विधि-पत्र लिख साधुओं की स्वीकृति के लिए उनके सामने प्रस्तुत कर दिया। उन्होंने कहा—'जिन्हें इन मर्यादाओं में विश्वास हो, वे इस विधि-पत्र को अपनी स्वीकृति दें और जिन्हें विश्वास न हो वे संकोचवश इसे स्वीकार न करें।' 'यह हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत सर्वत्र मान्यता प्राप्त कर चुका है। वैचारिक परिवर्तन राजनीतिक परिवर्तन से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

सापेक्षता

जैनधर्म में सामुदायिक साधना की पद्धति बहुत पहले मान्य है। इसीलिए जैन परम्परा में संघ का बहुत महत्त्व रहा है। आचार्य भिक्षु ने इस महत्त्व का मूल्यांकन किया और सापेक्षता के आधार पर संघ की व्यवस्था की। तेरापंथ की साधुसंस्था ने सेवा के क्षेत्र में अनेक कीर्तिमान स्थापित किए।

हमने सत्य के पक्ष में आध्यात्मिक और संगठन के पक्ष में व्यावहारिक जीवन जीना स्वीकार किया है, इसलिए हमारे संघ दोनों क्षेत्रों में समन्वित गति की है। तेरापंथ का विकास राजस्थान के लिए गौरव और जैन परंपरा के लिए महत्त्वानुभूति का विषय है। कोई भी तटस्थ इतिहासकार इस वास्तविकता पर स्वीकृति दिए बिना नहीं रह सकता।

आचार्य तुलसी : ज्योतिर्मय साधक

मुनि होना जीवन की एक बहुत बड़ी घटना है। और कुछ होने में आदमी संचित करता है, मुनि होने वाला विसर्जन करता है—शरीर का विसर्जन, इच्छा का विसर्जन, संकल्प का विसर्जन और अहं का विसर्जन। शिष्यत्व अहं का विसर्जन है, इसीलिए शिष्य गुरु को चुनता है। तुलसी एक दिन मुनि बने, शिष्य बने। महामना कालू को अपना गुरु चुना। अहं से इतने खाली हुए कि गुरु ने उन्हें भर दिया। इतना भरा कि बाईस वर्ष की छोटी-सी अवस्था में स्वयं गुरु बन गए। तेरापंथ की परम्परा में गुरु ही किसी को गुरु बनाता है, अतः कहा जा सकता है कि गुरु प्रदत्त होता है, किन्तु गुरुत्व प्रदत्त नहीं हो सकता। आचार्य तुलसी ने अपने गुरुत्व को विकसित किया और इतना किया कि जिससे यह अनुभव नहीं हुआ कि गुरु प्रदत्त है। उन्होंने विद्या का वितरण किया—अपने शिष्यों में, गुरु-भाइयों में, और आस-पास के समूचे वातावरण में। कुछ ही वर्षों में तेरापंथ का मनीषी वर्ग ज्ञान के शिखर को छूने लगा। ज्ञान तभी कृतार्थ होता है जब उसकी निष्पत्ति आचार में होती है। ग्यारह वर्ष तक ज्ञान की अजस्र धारा प्रवाहित कर फिर आचार की प्रतिष्ठा की। क्रियाकांड से आवृत धर्म को अनावृत किया। नैतिकता का स्वर मुखर हो गया। लगा, जैसे कोई मसीहा आया है—सचाई, ईमानदारी और प्रामाणिकता के पराग को बिखेरने के लिए। उसके कण इतने विकीर्ण हो गए हैं कि आज नैतिकता-शून्य धर्म की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। कोई श्रेय दे या न दे, किन्तु इतिहासकार यह श्रेय देने में कृपण

नहीं होगा कि नैतिकता-विहीन धर्म की धारणा को आचार्यश्री तुलसी ने बदला है। मैं नहीं मानता कि कोई भी आदमी सबका हृदय बदल दे और सबको ईमानदार बना दे। किन्तु जो आदमी जनता को इसकी अनुभूति करा दे कि वह धर्म व्यक्ति और समाज का भला नहीं कर सकता जिसकी पहली निष्पत्ति नैतिकता का विकास न हो, वही वास्तव में धर्म का नेता होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आचार्य तुलसी ने इस युग में धर्म का नेतृत्व किया है। साथ-साथ समन्वय का नेतृत्व किया है। धर्म के मंच पर संगठन और एकता को प्राणवान् बनाया है। और भी बहुत कुछ है किन्तु जीवन का यह एक ही पहलू ऐसा है कि जिसमें बहुत कुछ समा जाता है। यह मुनित्व की निष्पत्ति है, यह गुरुत्व की निष्पत्ति है और यह धर्म के नेतृत्व की निष्पत्ति है।

आचार्य तुलसी केवल मुनि नहीं हैं जो अपने में लीन रहें। वे केवल गुरु नहीं हैं जो अपने संप्रदाय का नेतृत्व करें। वे धर्म की उस महान् परम्परा के नेता हैं जिसमें समूची मानवजाति और प्राणी-जगत् का हित सन्निहित है। उनका कार्य है—सबके लिए प्रकाश की रश्मियों को प्रसारित करना।

उनकी ज्योतिर्मय साधना का पचासवां वर्ष (वि० सं० १९८२-२०३२) पूरा हो रहा है, इसका सबको हर्ष है और गौरव है। सब चाहते हैं कि इस ज्योतिर्मय साधना के अग्रिम वर्ष और अधिक ज्योति को विकीर्ण करें। अध्यात्म और विज्ञान में ऐसा समन्वय करें जिससे बुद्धि धर्म के प्रति प्रणत और धर्म बुद्धि की गरिमा को बढ़ाए।

आचार्य तुलसी : यथार्थ की व्याख्या

आज के लोग कहते हैं कि यह कलिकाल है। अच्छा जमाना नहीं है। जमाना बहुत बुरा है। हर आदमी से हम यही सुनते हैं। किन्तु आपने इस युग का निर्माण किया है। यदि यह सचाई है तो मैं कहूंगा कि यह जमाना अच्छा है, बहुत अच्छा है।

पुराना युग अवतारों और भगवानों का युग था। आज का मानवता का युग है। किन्तु आज भी अनेक धर्मनेता भगवान् बनने की धुन में अपने आपको खोए जा रहे हैं। वे भगवान् बनने के लिए इतने लालायित हैं कि येन-केन प्रकारेण वे अपने आपको भगवान् कहलाना चाहते हैं। किन्तु आचार्यश्री से कोई पूछता है—'आप कौन हैं?' तो ये कहते है—'मैं सबसे पहले मानव हूं।' इसका अर्थ हुआ कि वे मानव ही बने रहना चाहते हैं। इसीलिए मैंने लिखा है—

तुम्हे भगवान् बनना पसन्द नही है,
भगवानों को इन्सान रहना पसंद नहीं है।
तुमने इन्सान रहना पसंद किया,
हमने इन्सान को ही सम्मान देना पसंद किया,
तुम हमें पसन्द हो,
हम तुम्हें पसन्द हैं,
इसीलिए यह युग तुम्हारे लिए भी अच्छा है,
हमारे लिए भी अच्छा है।

आचार्यश्री ने जब से तेरापंथ की बागडोर संभाली है तब से उनका मन निष्प्राण परंपराओं के प्रति विद्रोह करता रहा है। मैंने प्रारंभ से इस विद्रोही चिंतन को देखा है।

तीस वर्ष पहले की बात है। आचार्यश्री के मन में जातिवाद के प्रति एक चिन्तन उठा। उनका चिन्तन था—'मानव-मानव एक हैं। मानव की विभिन्न जातिया उसके लिए अभिशाप सिद्ध हुई हैं।'

मैंने इस विचार को पकड़ा। एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी। उसमें 'जातिवाद' के विषय में एक अध्याय था। आचार्यश्री ने उसे देखा और कहा—'अभी रहने दो। समाज इसको पचा सकेगा या नहीं, कुछ समय तक प्रतीक्षा करनी चाहिए।' फिर दो क्षण बाद फरमाया—'हमें जब इन तथ्यों की स्थापना करनी ही है तो फिर भय किसका। ऊहापोह होगा, होने दो। इस किताब को लोगों के सम्मुख रख दो। यह विशुद्ध मानवता का प्रश्न है।' यह था उनका साहस।

आज मैं देखता हूं कि मानवता की गाथा गाने वाले आज के इस युग में आचार्यश्री का नाम पहला रखा जाएगा, या पहले के आस-पास रखा जाएगा। इसलिए मैं मानता हूं कि आज मानवतावाद का युग है।

आचार्यश्री को अपनी नौका दो तटों के बीच से खेनी पड़ रही है। एक ओर महान् तार्किकों को साथ लिये चलना पड़ रहा है तो दूसरी ओर सामान्य अनपढ़ लोगों को भी साथ लिये चलना पड़ रहा है। एक ओर है मार्क्सवाद और दूसरी ओर है अनपढ़ लोगों की धार्मिक आस्था। इन दोनों तटों के बीच वे अपनी नौका निपुणता से खे रहे हैं। एक ओर परंपराओं को निभाते जाना है तो दूसरी ओर क्रान्ति की सड़क का भी निर्माण करना है। दोनों ओर बगावत है, इसीलिए मैंने लिखा—

'तुम कभी रेतीले रास्ते पर चलते हो।
जब धूल पैरों को पकड़ने लगती है तब
सड़क जमा लेते हो।
तुम दोनों पैरों से चलते हो,

इसलिए यह युग
तुम्हारे लिए भी अच्छा है
हमारे लिए भी अच्छा है।
तुम पठार के रास्ते पर चलते हो,
नुकीले पत्थर जब पैरों को छीलने लग जाते हैं
तब मखमली जूते पहन लेते हो।
तुम दो घोड़ों पर एक साथ चलते हो।
इसलिए यह युग
तुम्हारे लिए भी अच्छा है
हमारे लिए भी अच्छा है।

आचार्यश्री ने धर्म का यथार्थवादी रूप प्रस्तुत कर मानव जाति का हित किया है। पौराणिक बात सबको पसंद आती है। इसीलिए हमारे प्राचीन आचार्यों ने धर्म की पौराणिक बातों को कहकर जनता को आकृष्ट किए रखा किन्तु आज युग बदल चुका है। आज यथार्थवाद को प्रश्रय मिल रहा है।

आज ही मैंने पाकिस्तान के राष्ट्रपति भुट्टो का भाषण पढ़ा। मुझे लगा कि उन्होंने सचाई के साथ अपने हाकी खिलाड़ियों की भूल स्वीकारते हुए जर्मनी से क्षमायाचना की और सारी स्थिति का यथार्थ विश्लेषण किया। उसे पढ़कर लगा कि आज के धार्मिक भी इतने साहस के साथ सचाई को प्रकट नहीं कर सकते। कतरा जाते हैं वे।

आज का मनुष्य धर्म के यथार्थवादी रूप को स्वीकार कर सकता है, समझ सकता है, क्रियान्वित कर सकता है। जब तक धर्म का आभास मात्र बना रहता है तब तक यथार्थ सामने नहीं आता।

मैंने आचार्यश्री को सत्यद्रष्टा और सत्य के प्रबल समर्थक के रूप में देखा और स्वीकार किया है। बहुत बार आचार्यश्री ऐसी बात कह जाते हैं कि लोग असमंजस में पड़ जाते हैं। लोग ही क्या, साधु भी असमंजस में पड़ जाते हैं। वे कहने लग जाते हैं कि आचार्यश्री ने क्या कह दिया। किन्तु मैं

समझता हूं कि यह उनका साहस, उनकी आत्मिक सचाई और अपने हृदय की अनुभूति को न दबाने की मनोवृत्ति का परिणाम है। वे सचाई को रोकते नहीं, उसे जनता के सामने प्रकट कर देते हैं।

वर्तमान की परिस्थितियों में जहां सचमुच धर्म को बहुत बड़ी चुनौतियां मिल रही हैं, लोग क्रान्ति की बात करते हैं किन्तु मैं कहना चाहता हूं कि कोई भी क्रान्ति, कोई भी परिवर्तन जिसके नीचे नैतिकता का धरातल मजबूत नहीं होता वह सफल नहीं हो सकती, टिक नहीं सकती। आज जो क्रान्ति आ रही है, वह नैतिकता-विहीन क्रान्ति आ रही है।

आचार्यश्री ने जो नैतिकता का सूत्र प्रारंभ किया, आंदोलन शुरू किया, इसका मूल्य तभी हमारी समझ में आ रहा है।

राजा भोज के सामने बहुत अच्छे कपड़े पहने, साज-सज्जा किए हुए एक व्यक्ति आया। राजा भोज खड़ा हुआ। उसका स्वागत किया। थोड़ी देर बाद फटा-टूटा जूता, फटा पुराना कपड़ा पहने एक व्यक्ति आया। राजा भोज उठा नहीं, स्वागत नहीं किया। सामने तक भी नहीं गया। बातचीत होने लगी। पहले उस व्यक्ति से बातचीत हुई जो बढ़िया कपड़े पहने हुए था। पन्द्रह मिनट बात के बाद वह चला गया। राजा ने कुछ नहीं कहा। आया तब खड़ा हुआ, गया तब राजा ऐंठकर बैठा रहा। आया तब सामने गया, हाथ मिलाया। गया तब कुछ नहीं किया।

अब बारी आयी दूसरे व्यक्ति की। बातचीत शुरू हुई। घंटा भर बाद जब वह जाने लगा तब राजा खड़ा हुआ। वह आगे बढ़ा, राजा पीछे-पीछे चलने लगा। राजा द्वार तक पहुंचाने के लिए आया। उस व्यक्ति ने पूछा—'महाराज, यह क्या ? पहले उस व्यक्ति का आपने स्वागत किया। जब वह गया तब आपने उसकी उपेक्षा की और मुझे दरवाजे तक छोड़ने को आए। यह क्या ?' राजा ने कहा—'आता है तब स्वागत वस्त्रों का होता है, जाता है तब स्वागत गुणों का होता है।'

मैं समझता हूं, यह आंदोलन आया तब लोगों ने बहुत स्वागत नहीं किया क्योंकि उसके कपड़े बहुत बढ़िया नहीं थे। आवरण उसका बढ़िया

नहीं था तो लोगों ने स्वागत नहीं किया। किन्तु निष्पत्ति-काल में देखेंगे कि वह कितना सफल हुआ है। चाहे हिन्दुस्तान की कोई सामाजिक क्रान्ति हो या आर्थिक, उसके नीचे हमेशा नैतिक क्रान्ति को महत्त्व देना होगा। नैतिक क्रांति को छोड़कर कोई क्रान्ति सफल हो नहीं सकती। तो आज नैतिक क्रान्ति के सूत्रधार के रूप में आचार्यश्री तुलसी हमारे सामने हैं और हम एक नैतिक क्रान्ति के सूत्रधार का अभिनंदन कर रहे हैं और हम यह शुभमंगल कामना करते हैं कि उनकी नैतिक क्रान्ति की लौ ज्यादा से ज्यादा प्रज्वलित हो और भारतीय समाज को ज्यादा से ज्यादा प्रकाश दे।

युगप्रधान की पूर्वभूमिका

वि० सं० १९८७ का इतिवृत्त है। मुनि तुलसी थे सोलह वर्ष के नवयुवा अध्यापक और मैं था ग्यारह वर्ष का किशोर विद्यार्थी। मैंने देखा—१९९३ में मुनि तुलसी आचार्य तुलसी बन गए—आपके कोमल हाथों की कोमल उंगलियों ने तेरापंथ धर्मसंघ का शासन-सूत्र संभाल लिया। इस घटना के पीछे आपके अतीत का कर्तृत्व भावी कर्तृत्व के लिए स्फटिक मणि का काम कर रहा था।

२००५ में आचार्य तुलसी अणुव्रत-अनुशास्ता बने। तेरापंथ का आचार्यत्व गुरु-कृपा से प्राप्त था। किन्तु अणुव्रत-अनुशास्ता का पद अपने कर्तृत्व से अर्जित किया। इस कर्तृत्व के पीछे दो प्रबल प्रेरणाएं कार्य कर रही थीं—सर्वजनहित और असाम्प्रदायिक धर्म का उदय। इन दोनों क्षेत्रों में आचार्यश्री ने जो कार्य किया, वही आपके युगप्रधान होने की भूमिका का निर्माण करता रहा।

आचार्यश्री विद्या और आचरण दोनों की समन्विति के संगायक हैं। आपने साधु-संघ में विद्या की अनेक शाखाएं खोलीं। अध्ययन के समकक्ष अनुसंधान भी चला।

भगवान् महावीर की वाणी प्राकृत भाषा में गुम्फित है। वह आगम की संज्ञा से अभिहित है। समय-समय पर आचार्यों ने आगम की वाचनाएं कीं। इन शताब्दियों में आगम पर सर्वांगीण वाचना नहीं हुई। आचार्य तुलसी ने उसका प्रारम्भ किया और वे वाचना-प्रमुख हो गए।

विश्व का हर कण शक्ति का अक्षय भण्डार और असीम स्रोत है। विश्व का दीप वह बनता है, जो इस सत्य को अभिव्यक्ति देता है और दूसरों में अनुभूति की क्षमता जागृत करता है।

हर युग हजारों संभावनाओं को लिये हुए हमारे सामने प्रस्तुत होता है। युग का नेतृत्व वह करता है, जो उन संभावनाओं को वर्तमान का परिधान दे पाता है ।

वर्तमान युग संघर्षों का युग है। आज का प्रबुद्ध मनुष्य प्राचीन मूल्यों के प्रति आस्थावान होकर नए मूल्यों की स्थापना के लिए कृतसंकल्प है। युग का प्रधान वही हो सकता है, जो इस संकल्प की पूर्ति में योग दे सकता है।

वर्तमान युग की माग है शाश्वत और अशाश्वत का सामंजस्य। कुछ लोग शाश्वत के प्रति एकांगी आग्रह रखते हैं। वे अपने एकांगी आग्रह के कारण पुराण या रूढ़िवादी बन गए हैं। कुछ लोगों में परिवर्तन के प्रति एकागी आग्रह पनप चुका है। वे जीवन के स्थायी मूल्यों की खोज में बुरी तरह असफल हो रहे है। वर्तमान असंतोष का बहुत बड़ा हेतु है जीवन के स्थायी मूल्यों के प्रति अनास्था। आचार्यश्री तुलसी ने युग को रूढ़िवाद और अनास्था—इन दोनों समस्याओं से उबारने का प्रयत्न किया है।

व्यक्ति और व्यक्ति का द्वन्द्व वर्तमान युग की सबसे बड़ी समस्या है। कुछ लोग स्वतन्त्रता के नाम पर व्यक्ति को अतिरिक्त मूल्य देते हैं तो कुछ लोग व्यवस्था के नाम पर समाज को अतिरिक्त मूल्य देते हैं। इन दोनों छोरों मे व्यक्ति और समाज के बीच स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित नही हो रहे है। व्यक्ति आज स्वार्थों के पूंजी-कृत स्वरूप का प्रतिनिधित्व कर रहा है। उसके सामने विसर्जन का सूत्र प्रस्तुत कर आचार्यश्री ने व्यक्ति को व्यापकता प्रदान की है, उसके सामाजिक स्वरूप को नया आयाम दिया है।

समाज अपनी संगठित शक्ति के बल पर नियंत्रण का प्रतिनिधित्व कर रहा है। हम सब यह जानते है और अनुभव करते हैं कि हृदय-परिवर्तन

के बिना व्यवस्था प्राणवान नहीं बनती। जो हृदय की स्वतन्त्रता से स्वीकृत नहीं होती, वह कुंठा उत्पन्न करती है। आचार्यश्री ने हृदय-परिवर्तन के प्रयोगपीठ को प्रतिष्ठा देकर समाज को व्यक्ति-विमुख होने से बचाया है।

आज का समाज वर्ग-चेतना की अनुभूति से संत्रस्त है। सम्पन्न वर्ग विपन्न वर्ग के और विपन्न वर्ग सम्पन्न वर्ग के अस्तित्व को नकारने को व्यग्र दिखाई दे रहा है। बुद्धि-कौशल और श्रम-कौशल के बीच सामंजस्य स्थापित करने वाला सेतु निर्मित नहीं हो रहा है। महात्मा गांधी ने इस दिशा में ट्रस्टीशिप का सूत्र दिया था। वह वर्ग-संघर्ष की समाप्ति का बहुमूल्य प्रयोग है, पर खेद है कि भारतीय जनता ने उसे क्रियान्वित नहीं किया। आचार्यश्री तुलसी ने भारतीय जनता के सामने विसर्जन का सूत्र प्रस्तुत किया है। यह ट्रस्टीशिप का अग्रिम चरण है। मैं नहीं कह सकता, जनता इसे कितना मूल्य देगी। किन्तु सचमुच यह आर्थिक साम्य का सबल अहिंसक साधन है।

इन गतिशील दृष्टिकोणों, विचारों और क्रियाकलापों ने आचार्य तुलसी को आज युगप्रधान के गरिमामय पद पर आसीन किया है। उनमें उस पद की अर्हता बनाए रखने की असंदिग्ध क्षमता है।

मानवीय धरातल

अभी मेरे पास एक पुस्तक थी। मैं उसकी भूमिका देख रहा था। मन में विचार आया कि शायद जो भक्त लोग होते हैं, वे इतनी प्रशंसा करते हैं कि भगवान् को बहुत महंगी पडती है। एक भक्त ने अपने आचार्य की इतनी प्रशंसा की है, उन शब्दों को पढकर मैं हैरान हो गया। क्या प्रशंसा की इतनी स्थूल बात कहने से वह व्यक्ति बहुत बड़ा बन जाएगा ? आज के यथार्थवादी युग में जहां मनुष्य यथार्थ की तुला पर हर वस्तु को देखना चाहता है वहां प्रशंसा के इतने लम्बे-चौडे गीत गाना, इतने पुल बांधना क्या समझदारी है, मैं नहीं समझ पाया। परन्तु दुनिया में सब कुछ चलता है। एक आचार्य ने लिखा है—

'नन्नस्स वयणा चोरे, नन्नस्स वयणा मुनी।
अप्पा अप्प विजाणाति, जे वा उत्तमनाणिणो ॥'

—किसी के कहने से कोई चोर नहीं होता और किसी के कहने से कोई मुनि नहीं होता। अपनी आत्मा अपने को जानती है। आत्मा अपने को जानती है कि मैं चोर हूं या मुनि हूं। दूसरे के कहने से कुछ नहीं होता।

दूसरों की अयथार्थ बातें पढ़कर मेरे यथार्थवादी मानस पर जरा चोट-सी लगती है, आघात-सा लगता है कि हम व्यर्थ में ही शब्द की शक्ति का क्यों अपव्यय करें और क्यों शब्दों का दुरुपयोग करें, ऐसी बातें लिखकर और पढ़कर। अर्थवादी युग बीत चुका है। आज से पांच सौ वर्ष पहले बीत चुका है। यानी आज बीसवीं-इक्कीसवीं शताब्दी में निश्चित ही

बीत चुका है। फिर मैं अयथार्थ बातें कहकर यथार्थ का गला घोंटना नहीं चाहता।

मैं खड़ा हूं आचार्यश्री की प्रशंसा करने के लिए, स्तुति करने के लिए नहीं। क्योंकि इस सम्बन्ध में मेरा जो दृष्टिकोण है मैंने उसे साफ-साफ कह दिया है। तो किसलिए खड़ा हूं ? लोग तो शायद यही चाहेंगे कि आज आचार्यश्री की दीक्षा का दिन है। आचार्य की प्रशंसा करें, स्तुति करें और उनके गुण के गीत गाएं, किन्तु मैंने अपनी अयोग्यता पहले ही प्रकट कर दी कि मैं ऐसा नहीं कर सकता। तो फिर किसलिए खड़ा हूं ? यह प्रश्न हो सकता है और इस प्रश्न का उत्तर भी मेरे पास है।

मैं इसलिए खड़ा हूं कि आचार्यश्री जो हैं, वह रूप थोड़ा-सा प्रकट कर दूं। न आवरण डालना है, न लिबास पहनाना है, न और कुछ करना है। न ढांकना है और न उजागर करना है। मैं उन्हें उनके रूप में और उनके नग्न रूप में प्रस्तुत कर दूं, यथार्थ रूप में प्रकट कर दूं।

आचार्यश्री तुलसी आज हिन्दुस्तान में और विशेषकर धार्मिक क्षेत्र में बहुचर्चित व्यक्ति हैं। बहुचर्चित व्यक्ति धर्म के क्षेत्र में कुछ होते हैं और दो कोणों से होते हैं। अभी आप लोगों ने समाचारपत्रों में पढ़ा होगा कि कुछ धर्माचार्य दिल्ली मे बहुचर्चित हो रहे हैं। बहुचर्चित होने का एक वह भी कोण है। बहुचर्चाएं पत्रों में आ रही हैं, नाम न लूं तो भी आप लोग समझ जाएंगे।

आज लोग पढ़ रहे है कि धर्म के क्षेत्र में अवतार और भगवानों की बाढ़-सी आ गयी है। जो जनसाधारण थे, अब आचार्य बनने की दौड़ रहे हैं और जो आचार्य थे वे भगवान् बनने की दौड़ रहे है। धार्मिक व्यक्ति में ही इतनी लालसा मैंने देखी, गृहस्थ तो बेचारे इतना सोच भी नहीं सकते। भगवान् या आचार्य बनने की बात सोच ही नहीं सकते। परन्तु धार्मिक बनने के बाद यह लालसा इतनी जाग जाती है कि धार्मिक हुआ और आचार्य या भगवान् नहीं कहलाया तो जीवन का अर्थ ही क्या ? धार्मिक बनकर मुनि या आचार्य या भगवान् नहीं बना तो सारा का सारा

जीवन ही निकम्मा चला गया। अवतार नहीं बना तो जीवन व्यर्थ चला गया। धार्मिक लोग प्रशंसा के इतने भूखे, बड़प्पन के इतने भूखे, अहंपोषण के लिए इतने लालायित है कि उनके बारे में क्या कहा जाए? सचमुच लगता है कि आज दुनिया में सबसे बड़ा जो अधर्म का प्रवाह वह रहा है, वह सारा हमारे धार्मिक अवतारों या भगवानों के द्वारा बह रहा है। आज ये हमारे अवतार और भगवान् भारतीय समाज से समाप्त हो जाएं तो मैं समझता हूं भारत का कोई नुकसान होने वाला नहीं है और धार्मिक जगत् का एक इंच मात्र भी कुछ विघटन होने वाला नहीं है।

क्या कहूं, लोग तो कहते है कि अंधकार को अंधकार करता है, दीप अंधकार नहीं करता। किन्तु आज तो ऐसा लगता है कि दीप तो क्या सूर्य भी अंधेरा कर रहा है। धार्मिक दुनिया से जो बातें आज आ रही हैं वे अधर्म की दुनिया से नहीं आ रही हैं। इस वातावरण में सचमुच आज हमें यथार्थ की आंख से हर बात को देखने की जरूरत है।

मैं तो नहीं चाहता कि आचार्यश्री तुलसी भगवान् बनें। और अब तो चाहता ही नहीं हूं। उनकी जो चाह है, वे उधर ही लौटें। आचार्यश्री ने दक्षिण की सम्पूर्ण यात्रा में एक ही बात को अपनाया, वह यह है कि कोई पूछता आप कौन हैं, आचार्यश्री कहते—'मैं मनुष्य हूं। सबसे पहले मनुष्य हूं, फिर बाद में धार्मिक हूं, फिर जैन हूं और फिर जैनाचार्य हूं।' मैं भी यही चाहता हूं कि आचार्यश्री, जो पहला बिन्दु है कि मनुष्य हूं, उस पर ही लौट जायें, न उनको भगवान् बनना है, न उनको अवतार बनना है, न और कुछ बनना है, मनुष्य होने में ही उनकी महानता प्रकट होगी जो कि आज तक हुई है, हो रही है।

मैंने देखा कि आचार्यश्री तुलसी जो महान् बने हैं, वह अपने मानवीय पक्ष के कारण बने हैं। आचार्यश्री तुलसी को लोगों ने समझा है, उनके मानवीय धरातल को समझा है। आचार्यश्री तुलसी जो कर रहे हैं उसका मूल्यांकन हुआ है तो यह मानवीय धरातल पर हुआ है। अगर भगवान् बन जाते तो वे हमारे लिए अतीत बन जाते। वह मेरु पर्वत, वह कल्पवृक्ष,

वह चिन्तामणि रत्न और वह कामधेनु हमारे कोई काम की नहीं जो कि हमारे पास नहीं है। वे केवल हमारी कल्पना की वस्तुएं हैं, हमारे सपने की वस्तुएं हैं। हमें तो वह गाय चाहिए कि जो दूध दे और हम उसे पी लें। हमें तो वे वृक्ष चाहिए जिनके फल तोड़ें और खा लें। मेरु पर्वत की कोई जरूरत नहीं, कामधेनु की कोई जरूरत नहीं और चिन्तामणिरत्न की कोई जरूरत नहीं है।

आचार्यश्री ने अपनी महानता प्रमाणित की है, दो कोणों से। एक कोण है संकल्प का और दूसरा कोण है पुरुषार्थ का। मैंने देखा, आचार्यश्री की अट्ठावन वर्ष की अवस्था हो रही है। बचपन बीत चुका। वह भी मैंने थोड़ा-थोड़ा देखा है। यौवन है किन्तु वह भी अब प्रौढ़ता की देहलीज पर जा रहा है। परन्तु संकल्प और पुरुषार्थ—ये दोनों अभी भी बचपन की अवस्था में हैं और यौवन की ओर जा रहे हैं। इतना दृढ़ संकल्प मैंने बहुत कम व्यक्तियों मे देखा।

आप जानते हैं कि हमारी सफलता का सबसे बड़ा आधार होता है—संकल्प, संकल्प-शक्ति का विकास। जिस व्यक्ति का संकल्प सही दिशा में प्रवाहित नहीं होता वह व्यक्ति नीचे चला जाता है।

मैं एक प्रसंग आपके सामने प्रस्तुत करूं। श्रीकृष्ण और पांडव द्रौपदी की खोज में गए। राजा पद्मनाभ द्रौपदी का अपहरण कर ले गया था। दूत भेजा। पद्मनाभ युद्ध करने के लिए सामने आ गया। श्रीकृष्ण ने पांडवों से पूछा—'बोलो, तुम लड़ोगे या मैं लड़ूं?' पांडवों ने कहा—'देखते रहें, हम लड़ते हैं।'

इधर से पांडव गए और उधर से पद्मनाभ आ गया। पांडवों ने कहा—'अम्हे वा पउमनाभे वा राया।' 'पद्मनाभ! या हम होंगे इस दुनिया में या तुम होंगे या तुम नहीं रहोगे या हम नहीं रहेंगे।' लड़ाई शुरू हो गयी। पांडव बहुत शक्तिशाली थे परन्तु पद्मनाभ इतनी तीव्रता के साथ लड़ा कि पांडव भाग खड़े हुए। दौड़कर श्रीकृष्ण के पास पहुंचे। श्रीकृष्ण ने सोचा—यह क्या हुआ? पांडव भाग खड़े हुए? पलायन कर

गए ? श्रीकृष्ण ने पांडवों से पूछा—'क्यों आये ?' पांडवों ने कहा—'महाराज ! बहुत बुरी तरह से मार पड़ी। भाग आए।'

श्रीकृष्ण योगिराज थे। अन्तर्भेदी दृष्टि थी उनकी। उन्होंने पूछा—'तुमने पद्मनाभ से क्या कहा था ?'

पांडव बोले—'महाराज ! हमने कहा—अम्हे वा पउमनाभे वा राया। या हम होंगे या पद्मनाभ राजा होगा।'

श्रीकृष्ण ने तत्काल कहा—'तुम्हारी हार शक्ति के अभाव के कारण नहीं हुई, तुम्हारी हार तुम्हारे संकल्प की दुर्बलता के कारण हुई है। तुमने ऐसा क्यों कहा कि या हम होंगे या तुम होंगे ? यहीं पर तुम्हारी कमजोरी हुई है। चलो, बैठ जाओ।'

श्रीकृष्ण गए। जाते ही बोले—'अहं नो पउमनाभे राया'—'मैं रहूंगा, पद्मनाभ मेरे सामने नहीं टिक सकता, नहीं टिक सकता और नहीं टिक सकता।' लड़ाई हुई। दो मिनट में ही पद्मनाभ पीछे खिसकने लगा और श्रीकृष्ण उसके पीछे दौड़ने लगे।

यह क्या था ? यह था संकल्प का बल। यह थी संकल्प की शक्ति। दृढ संकल्प के अभाव में जिस पद्मनाभ ने पांडवों को भगा दिया था, धनुर्धारी अर्जुन को भगा दिया था, महाभारत के परम विजेता अर्जुन को खदेड़ दिया था, वही दृढ़ संकल्प-शक्ति के सामने पलायन कर गया।

यह था संकल्प का बल। यह थी संकल्प की शक्ति। जिस व्यक्ति का संकल्प ठीक दिशा में प्रवाहित होता है, वह व्यक्ति महान् हो जाता है। मैंने आचार्यश्री का संकल्प इतना दृढ़ देखा कि वे जिस बात को पकड़ लेते हैं, सोच-समझकर निर्णयपूर्वक पकड़ लेते हैं, उस पर पूरी तरह दृढ़ रहते हैं। दूसरे बहुत कम लोग दृढ़ रह पाते हैं। जो व्यक्ति संकल्प का धनी होता है, वह विजयी होता है, अपने जीवन में सफल होता है तथा वह कुछ कर गुजरता है।

दूसरा है पुरुषार्थ। आचार्यश्री परम पुरुषार्थवादी हैं। हम कई बार आचार्यश्री से निवेदन करते हैं कि परिश्रम आप कुछ कम कर दीजिए।

परन्तु आचार्यश्री शायद यह बात जानते ही नहीं। हम लोग निवेदन करते हैं कि साधु-साध्वियों को दूसरे साधु भी पढ़ा सकते हैं। आप अपना समय क्यों लगाते हैं, परन्तु आचार्यश्री तो आगे बढ़ते जा रहे है। छोटी-छोटी बात में भी आगे बढ़ते जा रहे हैं। जिस व्यक्ति का पुरुषार्थ प्रबल होता है, उसे कौन रोक सकता है? वह व्यक्ति कुछ न कुछ कर ही जाता है।

पुरुषार्थ के बारे में भी मैं एक छोटे से उदाहरण द्वारा आप लोगों को समझाऊंगा। श्रीकृष्ण जब द्रौपदी को खोजने जा रहे थे तो लवण-समुद्र बीच में आ गया। देवता की आराधना की। सुस्थिर नाम का देवता आया और आकर बोला—'कहिए, क्या आदेश है? भणंतु देवानुप्पिया! किं करेमि? आप बतायें कि मैं क्या करूं?'

श्रीकृष्ण ने कहा—'पद्मनाभ द्रौपदी को ले गया है। मुझे उसके पास जाना है। लवणसमुद्र में जाने को रास्ता दे दो।' उसने कहा—'आप क्यों कष्ट करते हैं? मैं अभी जाकर द्रौपदी को उठा लाता हूं।' श्रीकृष्ण ने कहा—'नहीं, मैं इतना अहसान सहना नहीं चाहता। तुम मुझे केवल रास्ता दे दो, मैं लाऊंगा और केवल अपने बाहुबल से लाऊंगा।'

आज तो अगर कोई देवता आकर कहे कि मैं रसोई बना दूं तो शायद बहनें चूल्हा भी नहीं जलाएंगी? कौन कष्ट करे? अगर कोई आकर कहे कि व्यापार करने की जरूरत नहीं है, स्वतः ही धन आ जाएगा, बरस जाएगा तो कोई भी आदमी बंगाल और आसाम जाना नहीं चाहेगा, काम करना नहीं चाहेगा। हर आदमी चाहेगा कि आराम से मिले, मुफ्त में मिले, चाहे वह हजम हो या न हो। इस प्रकार की जहां मनोवृत्ति होती है, वहां आदमी अकर्मण्य हो जाता है, आदमी जीते हुए भी मर जाता है।

आचार्यश्री ने जो भी किया, अपने पुरुषार्थ के बल पर किया है। आज उनकी महानता किसी के द्वारा थोपी हुई महानता नहीं है, बपौती में मिली हुई महानता नहीं है। उन्होंने हजारों-हजारों मील की यात्रा अपने

पैरों से की है, नंगे पैरों से की है, सर्दी सही है, गर्मी सही है, अपमान सहा है, सम्मान सहा है। सब कुछ सहा है। सब कुछ सहन कर अपने पुरुषार्थ को जगाया है।

जो व्यक्ति अपने पुरुषार्थ की रोटी खाता है, वह अपने संकल्प के आधार पर जीता और चलता है। आचार्यश्री की इस महानता को मैं मानवीय धरातल पर ही स्वीकारता हूं और मैं चाहता हूं कि आचार्यश्री अपने इस दीक्षा के पवित्र दिन पर फिर उस संकल्प को दुहराएंगे कि हम मानवीय आधार पर ही महानता को प्राप्त करेंगे, न कि भगवान् और अवतार बनकर।

महान् स्वप्नद्रष्टा

आलोकशून्या अपि संति केचित्,
आलोकभीता अपि संति केचित्।
आलोकमूढा अपि संति केचित्
आलोकदक्षो भगवन्! भवेयम्॥

'कुछ लोग आलोकशून्य है, चक्षुष्मान् नही है। जिन्हें आंख प्राप्त नहीं, वे कैसे देख सकते हैं ? कुछ लोगों के आंख तो है, पर वे आलोक से घबराते हैं, आंख मूंदकर चलते हैं। कुछ लोगों में प्रकाश के प्रति मोह की भावना जागृत नही होती, उन्हें अन्धकार ही पसन्द है। आलोक की शून्यता, आलोक से भय और आलोक से मूढ़ता—ये तीनों मेरे में न हों, मैं आलोकदक्ष बनूं। इसका अर्थ होगा कि मैं प्रकाश को प्रकाश के रूप में देखूं, प्रकाश का अपने जीवन में उपयोग करूं।'

भगवान् महावीर ने आचारांग में कहा है—'पुरिसा परमचक्खू ! विपरक्कमा'

—'निर्मल ज्योति वाले पुरुष ! तू पराक्रम कर।'

यह हमारे जीवन की सफलता का सूत्र है। जीना एक बात है और सफल जीवन जीना दूसरी बात। जिसको श्वास मिला है वह हर प्राणी जीता है। कीड़ा-मकोड़ा, पशु-पक्षी भी जीता है। जीने का लक्षण श्वास है। मनुष्य को सोचना चाहिए कि मेरा जीवन सफल कैसे हो ? जीवन में प्रगति

कैसे करूं ? जिस व्यक्ति में उन्नति या प्रगति करने की भावना नहीं होती वह नामधारी मनुष्य है । सफलता वह आदमी पा सकता है जो बड़े स्वप्न ले । वे लोग ही आगे बढ़े हैं जिन्होंने जीवन की किसी भी दिशा में स्वप्न लिये है। गहरी नीद में स्वप्न नही आते । जो नीद टूटती है उसमें स्वप्न आते हैं। वायुविकार और मस्तिष्क की कमजोरी से भी स्वप्न आते हैं। मैं इन स्वप्नो की बात नहीं कर रहा हूं। मैं दो महान् आत्माओं के स्वप्न की चर्चा करना चाहता हूं । प्रारम्भ में भिक्षु स्वामी ने बहुत बड़ा स्वप्न लिया। सात साधुओ को लेकर ऐसी मर्यादा बनाई जो ७०० साधुओं के लिए भी उपयोगी है। उन्होंने जो व्यवस्था दी वह आज भी उपयोगी है।

फिर स्वप्न लिया कालूगणी ने । उनको आभास हुआ कि गाय के पीछे छोटे-छोटे बछड़े घूम रहे है। उनकी कल्पना साकार हुई। वे बछड़े काम के निकले । उनमें एक मैं भी हूं । छोटे गाव मे जन्मा, थोड़ा पढ़ा-लिखा था। गांव का होने के कारण ऋजु भी था । न परीक्षा दी, न प्रगति-पत्र मिला। दीक्षित हो गया। उनके मन में स्वप्न था—छोटे-छोटे साधुओं को तैयार करना है। पढ़ाना शुरू किया। वह आज की प्रगति के बीज बोने का समय था। कालूगणी के स्वप्न ने आकार लिया। किसी भी महापुरुष का स्वप्न खाली नही जाता। कोई दस वर्ष पहले पूरा होता है, कोई दस वर्ष बाद। वे एक-एक व्यक्ति को तैयार करने में ध्यान रखते थे। सब साधु यह समझते कि कालूगणी ने मेरे पर ज्यादा मेहनत की और मेरे पर अधिक कृपा रही। वे बाल-साधुओं को ललकारते भी थे और पुचकारते भी। उनकी भावना थी, आदमी को तैयार करना है। मुनि तुलसी से गणरत्न महोदधि कंठस्थ कराया। साधुओं ने पूछा—'इसकी उपयोगिता क्या है ?' आप फरमाते—'तुम नहीं जानते।' कालूगणी ने एक दिन मुझसे पूछा—'धातुकोष सीखा या नहीं ?' मैंने कहा—'नही।' उन्होंने कहा—'तो अभी शुरू करो और (प्राकृत का) आठवां अध्याय भी शुरू करो।' उस समय उपयोगिता कम नजर आ रही थी। उस समय प्राकृत का अध्ययन नही होता तो आज आगम का कार्य हाथ में नही लेते। आज हम किस स्थिति में आ गए। उस समय

अध्ययन नहीं होता तो आज इस स्थिति में नहीं मिलते। 'प्रमाणनयतत्त्व-लोकालंकार' का चुनाव कालूगणी ने ही किया। बीज बोने के समय कैसे आशा करें कि फल मिल जाए? उनके मन में कल्पनाएं थी, आज वे सारी सफल हुई हैं।

एक बड़ा स्वप्न लिया आचार्य तुलसी ने। छापर चातुर्मास में कहते—दूर देशों में जाना है। लोग सम्पर्क में आएंगे। पहले तैयारी होनी चाहिए। बैरिस्टर डालमचन्दजी सेठिया मेरे पास आए और कहा—'धर्माचार्य बड़ी-बड़ी कल्पना करते हैं। जीवन में होने वाली बात न कर कहां की सोचते हैं। जैनों में तेरापंथ का नाम भी नहीं है।'

आचार्यश्री ने जो स्वप्न लिये, वे दस वर्ष बाद साकार होने लगे हैं। किसने कल्पना की थी हमारे ग्रन्थ विद्वानों के हाथों में जाएंगे, उन पर पी० एच० डी० होगी! लोगों से सम्पर्क होगा! आज भिक्षु साहित्य पर तीन महानिबन्ध लिखे जा चुके हैं। उनके लेखक हैं आई० सी० शर्मा, छगनलालजी शास्त्री, बृजनारायणजी पुरोहित। अपने साधुओं के द्वारा लिखे गए ग्रन्थ भी बहुत हैं। कहां था हमारा सम्पर्क, और कहां था हमारा साहित्य? इस स्थिति का निर्माण क्यों हुआ? एक स्वप्न के कारण।

संस्कृत का अभ्यास

आर्यसमाजी बुद्धदेव विद्यालंकार दिल्ली से आचार्यश्री के पास श्रीडूंगरगढ़ में आए थे। वे संस्कृत में बोले। उस समय वे अच्छा बोले। आचार्यश्री भीतर पधारे। वेदना के स्वर में बोले—'इस प्रकार भाषण देने वाला एक भी साधु नहीं है। क्या कभी हमारे साधु भी इस प्रकार संस्कृत में बोल सकेंगे?'

हमें बहुत अखरा। हम दो-चार साधुओं ने उसी दिन से अभ्यास शुरू कर दिया। श्रीडूंगरगढ़ गांव के बाहर आकर एकांत में बोलते, स्वयं वक्ता थे और स्वयं ही श्रोता। एक संकल्प लिया था। महीनों तक अभ्यास चला। चातुर्मास के उतरते-उतरते निवेदन किया—'अब हम अच्छी तरह बोल

सकते हैं।'

एक सप्ताह तक केवल संस्कृत में ही बोलने का कार्यक्रम चला। आडसर में आचार्यश्री ने कहा—एक मास तक सब साधु बोलेंगे। एक भी अशुद्धि न आएगी तो पुरस्कार मिलेगा।' बीस साधु हमेशा बोलते। यह क्रम सरदारशहर महोत्सव तक चला। फिर आचार्यश्री के मन की वेदना समाप्त हो गयी। ऐसा क्यों हुआ ? स्वप्न के कारण। फिर तो आशु कविता का क्रम चला। पूना शहर नए और पुराने पंडितों का गढ माना जाता है। वहां वाग्वर्धिनी सभा मे आचार्यश्री का प्रवचन हुआ। फिर मुझे आशु कविता के लिए कहा गया। विषय दिया था—

समयज्ञापकं यंत्रं, नव्यानां करभूषणम् ।
स्रग्धराछंदमालम्ब्य, वर्ण्यतां मुनिपुंगव! ॥

मैंने आशु कविता की। फिर तो पूना के विद्वानों की मांग आने लगी। पहले एक स्थिति यह थी कि—कार्यकर्ता जब पूना गए तो जैन भाइयों ने कहा—'आप जैन लोगों में ही प्रोग्राम रखिए। सार्वजनिक प्रोग्राम में जैन लोग टिक नही पाएंगे तो अच्छा नही होगा। यहां पंडितों का जोर है। आप थोड़े दिन ठहरकर अपने भाइयों में ही प्रोग्राम रख लीजिए।'

आचार्यश्री ने कहा—'यह मेरी प्रकृति के प्रतिकूल है, चारदीवारी में बैठना मुझे नही आता।'

आचार्यश्री नौ दिन पूना ठहरे, तीस प्रोग्राम हुए। उन विद्वानों के बीच हुए जिनसे जैन भाई घबराते थे। यह क्यों हुआ ? आचार्यश्री के स्वप्न के कारण ही।

बम्बई में भी एक कॉलेज मे प्रोग्राम था। संस्कृत का कार्यक्रम था। पहले जब हम गए तो वे वेशभूषा देखकर हंसने लगे। जब भाषण सुना तो वे प्रभावित हुए और एक प्रोफेसर मेरे पास आया और पूछा—'आपने किस विश्वविद्यालय में अध्ययन किया है ?'

मैंने कहा—तुलसी विश्वविद्यालय मे।

प्रोफेसर—हिन्दुस्तान में या बाहर ?

मैंने कहा—आचार्यश्री के साथ चलता-फिरता विश्वविद्यालय है।

बनारस के पंडितों के बीच भी प्रोग्राम हुआ। उन लोगों को भी आश्चर्य हुआ।

जीवन की सफलता के लिए स्वप्न लेना चाहिए। धार्मिक लोग निराश हो जाते हैं, क्योंकि उनके मन में निवृत्तिकी धारणा जम गयी है। जीवन के विकास में सन्तोष क्यों कर लेते हैं ? हमारा आदर्श है—अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत आनंद और अनंत शक्ति। क्या हम शक्तिहीन होकर कोने में बैठ जाएं ? क्या हम ज्ञानहीन होकर कोने में बैठ जाएं ? यह आदर्श के प्रतिकूल है। हमारे पैर निरन्तर आगे बढ़ने चाहिए। दुर्बल होकर जीना इस दुनिया में कोई जीना नहीं है। डार्विन ने कहा है—'इस दुनिया में वही जीने का अधिकारी है जो शक्तिशाली है।' विवेकानंद ने कहा है—'प्रयत्न करो, असफल होने पर फिर प्रयत्न करो। हजार बार प्रयत्न करने पर सफलता न मिले तो भी एक हजार एकवीं बार फिर करो।'

यहां होता क्या है ? काम प्रारंभ किया, एक बार असफल होने पर उसे छोड़ देते हैं। यह चिंतन का दोष है। हर व्यक्ति सफलता की ओर झांकता है, असफलता कोई नहीं चाहता। जीवन की सफलता का महान् सूत्र है—पुरुषार्थ करना, निष्क्रिय होकर न बैठना। पहले ज्ञान और दृष्टि साफ करें, फिर पुरुषार्थ करें। कोरा काम करें और दृष्टि साफ न हो तो सफलता नहीं मिलती। दृष्टि साफ हो, पर काम न हो तो भी सफलता नहीं मिलती।

तुम्हारा शोषण वरदान बन जाता है

एक सन्त के पास एक व्यक्ति आया। उसने पूछा—'समय क्या है?' सन्त ने गम्भीर होकर उत्तर दिया—जब तक तुमने नहीं पूछा था तब तक मैं जानता था कि समय क्या है? अब तुमने पूछ लिया कि समय क्या है? मैं नहीं जानता कि समय क्या है?

ठीक ऐसा ही प्रसंग मेरे सामने आ रहा है। लोग पूछते हैं कि आचार्य तुलसी क्या है? कौन हैं? नही पूछते हैं तब तक तो मैं जानता हूं कि आचार्य तुलसी क्या हैं? और जब पूछ लेते हैं कि तुलसी कौन है, मैं गहरे में चला जाता हू और नही जान पाता कि तुलसी कौन है? पर व्यवहार की दुनिया इसे मानती नहीं है। कुछ आगे और जानना चाहती है।

तुम महान् हो
तुम्हारा अनुदान भगवान् बन जाता है
तुम महान् हो
तुम्हारा शोषण वरदान बन जाता है।

लोग कहते हैं कि शोषण मत करो। किन्तु आचार्यश्री तुलसी जैसा शोषण करने वाला शायद ही दूसरा कोई व्यक्ति हो। लोगों का शोषण होता है किन्तु फिर भी लोग समझते है कि वरदान लेने जा रहे हैं। समूचे मन को तो खो देते हो, वरदान कहां मिलेगा? पंजाब, कलकत्ता, दिल्ली, बम्बई आदि स्थानों से सैकड़ों आदमी आये हैं। बहुत दूर-दूर से आये, है क्योंकि उनका

मन आचार्यश्री ने छीन लिया है। आचार्यश्री मन का शोषण कर लेते हैं और भोले-भाले लोग समझते हैं कि वरदान लेने आये है।

बहुत से लोग कहते है कि यह अमुक है, अमुक है। पर मैं कहता हूं कि मेरा पूरा निर्माण आचार्यश्री ने किया है। आचार्यश्री ने उस दिन एक पूरी सूची मेरे बारे मे प्रस्तुत कर दी कि ये चलना नहीं जानते थे, खाना नही जानते थे और बोलना भी नही जानते थे।

यह बिलकुल ठीक बात है। अगर किसी के निर्माण की बात बतानी हो तो जो स्वय थोड़ा निर्मित हो उसकी गाथा नही गायी जाती। जो निरा बुद्धू होता है, उसकी गायी जाती है और मैं लगभग वैसा ही था जैसा कि आचार्यश्री ने कहा।

मैं इसीलिए कह रहा हू कि तुम्हारा अनुदान भगवान् समझा जाता है और तुम्हारा शोषण वरदान समझा जाता है। मैं आज भी अपने को कुछ नही मानता। अनुदान है तुम्हारा, आरोपित हो गया मुझ में। और लोग मुझे न जाने क्या-क्या मानने लग गये। यही तो तुम्हारी महानता है।

तुम महान् हो
तुम्हारा सत्य आरम्भ में झूठ समझा जाता है
तुम महान् हो
तुम्हारा आलोक प्रारम्भ मे स्वप्न समझा जाता है
तुम महान् हो
तुम्हारा धर्म कर्म समझा जाता है
तुम्हारी सहज वाणी को मर्म समझा जाता है।

दुनिया में जितने महान् सत्य हुए है, वे प्रारम्भ में झूठ समझे गये हैं। आचार्यश्री तुलसी के बारे में भी यही बात लागू होती है। आज कोई भी बात आप कहेंगे, सब लोग झूठ समझ लेंगे। दूर के लोग ही नहीं, नजदीक के लोग भी ऐसा समझ लेते हैं। तुम इसलिए महान् हो कि आरम्भ में तुम्हारी हर बात झूठी समझी जाती है, मिथ्या समझी जाती है और यही

बात दस वर्ष के बाद सत्य समझी जाती है। मैंने बंगलौर में एक भाई से पूछा—अरे ! तुम कैसे आ गये आज ? तुम तो घोर आलोचकों में से हो ? उस भाई ने कहा—दस वर्ष पहले मैं घोर आलोचक था, किन्तु मैं आज देख रहा हूं कि आचार्यश्री तुलसी जो बातें पंद्रह वर्ष पूर्व कहते थे, आज वे घटित हो रही हैं। अब मुझे लगता है कि आचार्यश्री कोई हस्ती तो जरूर हैं। मैं इसे भी आचार्यश्री की महानता मानता हूं।

दूसरी बात यह है कि आचार्यश्री का आलोक उनके सामने स्पष्ट होता है किन्तु दूसरे समझते हैं कि वे स्वप्न ले रहे हैं। डालमदचन्जी सेठिया समाज के एक विद्वान व्यक्ति थे, बैरिस्टर थे। छापर में आचार्यश्री ने धर्म के बारे में, धर्म-क्रान्ति के बारे में कुछ बातें रखीं। सेठियाजी मेरे पास आकर बोले कि धर्म-गुरुओं का यह स्वभाव होता है कि वे स्वप्न बहुत लेते हैं। कल्पनाएं बहुत करते हैं। तो मैं देखता हूं कि आचार्यश्री का आलोक स्वप्न समझा जाता है। आचार्यश्री महान् हैं क्योंकि इनका धर्म कर्म समझा जाता है और सहज वाणी को भी मर्म समझा जाता है। आचार्यश्री की कसौटी यह है कि बहुत बार इनकी साधारण-सी बात को भी मार्मिक समझ लिया जाता है। श्रावक ही नहीं, साधु-साध्वियां भी कहते हैं कि आचार्यश्री ने अमुक बात कही है, इसलिए इसके पीछे कोई राज होना चाहिए, कोई रहस्य होना चाहिए। आचार्यश्री धर्म की बात कहते हैं और लोग कहते हैं कि आचार्यश्री अब धर्म की बात को छोड़कर कर्म की ओर जा रहे हैं। लोग कहते हैं कि आचार्यश्री का समाज-सुधार से क्या मतलब ? मानवता से क्या मतलब ? नैतिकता से क्या मतलब ? लोगों ने मान रखा है कि धर्म का क्षेत्र अलग है, नैतिकता और मानवता का अलग है। लोगों ने दो विभाग कर रखे हैं, लेकिन आचार्यश्री ने दो नहीं किये हैं।

तो मैंने ये कुछ विरोधी बातें आचार्यवर के जीवन में पायी हैं। मैं देखता हूं कि जिसमें विरोधों का अम्बार नहीं होता, वह आदमी महान् नहीं होता। महान् वह होता है जिसके जीवन में विसंगतियां और विरोध होता है। आचार्यश्री ने मानवता के लिए बहुत कार्य किया है। युग की नब्ज को

पहचाना है। युग को दिशा-दर्शन दिया है। युग को एक दवा दी है। इसी आकर्षण से लोग दौड़े आ रहे हैं। धर्म के क्षेत्र में हमारी यह मान्यता हो गयी थी कि धर्म करो, परलोक सुधर जायेगा। परलोक के नाम से धर्म करने वालों की भीड़ इतनी बढ़ गयी कि धर्म के नाम पर अधर्म होने लग गया। लोग असमंजस में पड़ गये। धर्म से दूर भागने लग गये। आचार्यश्री ने इस नब्ज को पहचाना और एक दवा दी। वह दवा यह है कि परलोक की चर्चा छोड़ दें, परलोक की चिंता छोड़ दें। यह ऐसा सूत्र था मानो कोई नास्तिक कह रहा हो। पर मैं मानता हूं कि आचार्यश्री तुलसी में जितनी आस्तिकता है उससे नास्तिकता भी कुछ कम नहीं है। मैं यह भी मानता हूं कि जो घोर नास्तिक नहीं होता, वह आस्तिक भी नहीं हो सकता। आचार्यश्री ने दवा दी कि वर्तमान को सुधारो, वर्तमान को आनन्दमय बनाओ और उसके लिए धर्म का आध्यात्मिक रूप हमारे सामने प्रस्तुत किया। आज मैं देखता हूं कि हजारों-हजारों बुद्धिजीवी अपने मन की शान्ति व वर्तमान में मन की पवित्रता के लिए आचार्यश्री तुलसी के चरणों में आते हैं और शान्ति का अनुभव करते हैं।

आचार्यश्री तुलसी के जीवन का इतिहास तेरापंथ का इतिहास या जैन समाज का इतिहास नहीं है, यह मानवता का इतिहास है, यह प्रामाणिकता, सच्चाई व भारतीय संस्कृति का इतिहास है। यह इतिहास और अधिक व्यापक होता चला जाए तथा आचार्यवर निरंतर आगे बढ़ते जाएं, यही कामना है।

पूर्णता के साधक : आचार्य तुलसी

आचार्यश्री का आज साठवां जन्म-दिवस है, इससे आप लोग परिचित हो गए है। मैं पुनरुक्ति नही करना चाहूंगा। मैं तो कुछ दूसरी बातें आपके सामने रखूंगा। आचार्यश्री तुलसी ने अतीत को देखा है और अतीत को अपूर्णता के सन्दर्भ में देखा है। बहुत सारे लोग ऐसे होते हैं जो अतीत को बहुत सुनहला मानते हैं और पूर्ण मानते हैं। आचार्यश्री तुलसी ने अतीत को देखा। अतीत के साथ जुड़ी हुई जो कमिया हैं, उनको देखा। कमियों को देखा किन्तु रुके नहीं, साथ-साथ मे उन कमियों को पूरा करने का प्रयत्न भी किया। यह अतीत की कमियों को पूरा करने का प्रयत्न ही आचार्य तुलसी के जीवन की महानतम देन है। आचार्य तुलसी ने देखा कि धर्म तो है किन्तु धर्म के साथ नैतिकता नहीं है। नैतिकता-विहीन धर्म आज चल रहा है। बडी अजीब बात है कि धर्म तो चले किन्तु नैतिकता को उससे काट दिया जाए। कहा जाता है कि हाथी तो निकल जाता है किन्तु पूंछ अटक जाती है। हाथी पूरा का पूरा समा जाता है किन्तु पूंछ के लिए अवकाश नहीं। आज तक भी मैं नही समझ पाया कि नैतिकता-विहीन कोई धर्म हो सकता है क्या? जिस धर्म की निष्पत्ति नैतिकता न हो, वह अगर धर्म हो सकता है तो उस धर्म से बढ़कर दुनिया मे और कोई धोखा नहीं हो सकता। दुनिया के साथ अगर कोई सबसे बड़ा विश्वासघात है तो वह धर्म है, जिसके साथ नैतिकता नही है, जिसका प्रतिबिम्ब और परिणाम नैतिकता नही है। आचार्यश्री तुलसी ने इस बात को पकड़ा और

खूव तेजी के साथ पकड़ा। इसीलिए आज यह हो गया कि आचार्यश्री तुलसी माने नैतिकता और नैतिकता माने आचार्य तुलसी।

मैंने देखा कि धर्म तो है किन्तु उसके साथ-साथ में कुछ और भी है। वड़े आश्चर्य की वात है कि जिस धर्म ने क्षमा की वात कही, जिस धर्म ने आत्मा की समानता की वात कही, जिस धर्म ने यह वताया कि एक ब्रह्म ही सवका रूप है, ये हमारे सिद्धान्त शास्त्रों में लिखे-पढ़े लोग दुहराते जाते हैं, रटते जाते हैं किन्तु जहां व्यवहार का प्रश्न है, वहां सव कुछ भुला वैठते है। जव व्यवहार की वात आती है तो एक दरी पर भी वैठने के लिए तैयार नही होते। इस दरी पर अगर तुम पानी पीते हो तो मैं उठकर चला जाता हूं, यह वात उपस्थित हो जाती है। यह कितना वड़ा मजाक है धर्म के साथ ! मैं समझता हूं कि इससे बढ़कर धर्म का कोई मखौल हो नही सकता। किन्तु यह मखौल चल रहा है। आचार्यश्री तुलसी ने इसका अनुभव किया और उन्होंने जो भगवान् महावीर का पुराना स्वर था–मनुष्य जाति एक है—उसके लिए काम शुरू किया।

आचार्यश्री तुलसी की लोग प्रशंसा करते है। परन्तु मैं मानता हूं कि पलड़ा भारी शायद प्रशंसा का नही है। जितनी प्रशंसा मिलती है, उससे ज्यादा आलोचना होती है। कहा जाता है कि गुरु की आलोचना नहीं करनी चाहिए। किन्तु मैंने देखा कि आचार्यश्री तुलसी की आलोचना तो उनके शिष्य भी करते है और वे शिष्य करते है जो इधर तो आकर इनके चरणों में सिर रखते हैं और वाहर जाकर कहते है—देखो ! आचार्यश्री को क्या हो गया है ? अव तो वे भंगियों और महाजनों को एक करना चाहते हैं। यह क्या हो रहा है ? इतनी आलोचना शायद मैंने किसी धर्माचार्य की नहीं सुनी। यह भी नही कहते कि आचार्यश्री बुराई करते हैं। वे कहते है आचार्यश्री बहुत अच्छे हैं, संयम पालते है, अहिंसा पालते है, अपरिग्रह का व्रत पालते हैं, सव कुछ ठीक है किन्तु कुछ काम ऐसे करते हैं, न जाने समाज को कहां ले जाएंगे ? मैं देखता हूं कि ये वही लोग हैं जो वाहर जाकर आपकी आलोचना करते हैं। इसलिए इनके सामने मैं आपकी प्रशंसा

करूंगा तो मेरी भी आलोचना शुरू हो जाएगी। इसलिए अच्छा है कि इनके सामने मैं प्रशंसा न करूं।

आचार्यश्री का जीवन विविधताओं का है। बहुत सारी बातें कितनी अजीब-सी लगती हैं। यह आलोचना की भूमिका स्वयं आचार्यश्री तुलसी ने तैयार की है। ये स्वयं उन बातों की पृष्ठभूमि अपने हाथों से बना रहे हैं। क्योंकि भक्त लोगों को सीधा कोई मोक्ष या भगवान् से मिलाने वाला हो तो उसकी पूजा होगी, प्रशंसा होगी, आलोचनाएं नहीं होंगी। किन्तु आचार्यश्री तुलसी यह नहीं कहते कि खूब आनन्द करते चले जाओ, माल-मलीदे उड़ाते चलो और मोक्ष भी मिल जाएगा, भगवान् भी मिल जाएंगे। आचार्यश्री तुलसी ऐसा नहीं कहते। आचार्यश्री तुलसी हर जगह 'क्यों' और 'कैसे' का प्रश्न उपस्थित कर देते हैं। मैंने आज तक देखा और बहुत निकटता से देखा कि आचार्यश्री 'कैसे' पर कितना विचार करते हैं। वे कहते हैं, धर्म को आगे बढ़ाया जा सकता है पर 'कैसे?' नैतिकता की प्रभावना की जा सकती है पर 'कैसे'? आचार्यश्री ने 'कैसे' को कभी नहीं भुलाया। आप उन व्यक्तियों में से नहीं हैं जो सिद्धान्त की बात कहें और अमल दूसरों पर छोड़ दें।

मुझे एक कहानी याद आ रही है। एक चूहा बिल्ली से बहुत डरता था। उसने सोचा—क्या करूं? उसका एक मित्र था उल्लू। उल्लू उसका पुराना मित्र था। वह अपने मित्र के पास जाकर बोला—बिल्ली से बहुत डर लगता है, क्या करूं? उसने कहा—तुम बिल्ली बन जाओ। चूहा बोला—बहुत अच्छा, बहुत अच्छा। आपने बहुत सुन्दर सुझाव दिया। चूहा फूला नहीं समाया और अपने घर चला गया। घर पर जाने के बाद सोचा कि बिल्ली तो बन जाऊं, पर कैसे? बिल्ली बनना कोई हाथ की बात तो नहीं है। फिर जाकर उल्लू से बोला—आपने बिल्ली बनने का सुझाव दिया, यह बहुत सुन्दर। किन्तु बनूं कैसे? उल्लू बोला—यह भी मुझसे ही पूछना चाहते हो? नीति का निर्णय करना मेरा काम है और अमल करना तुम्हारा काम है।

आचार्य तुलसी ऐसे व्यक्तियों में से नहीं हैं कि नीति का निर्णय स्वयं करें और उसका अमल दूसरों पर छोड़ दें। वे जो नीति का निर्णय देते हैं, उसकी क्रियान्विति भी स्वयं करते हैं। आचार्यश्री तुलसी ने जब हरिजनों का काम अपने हाथ मे लिया तो सारे पहलुओं पर चिंतन किया। सबसे पहले इस पहलू पर सोचा कि इस प्रश्न पर हमारे साधु-संघ की ओर से क्या-क्या प्रश्न आ सकते हैं और उनका हम कैसे समाधान देंगे। अगर उनका समाधान हम स्वयं नहीं कर सकते तो दूसरों के लिए चर्चा करने का अर्थ नहीं होगा। कुछ साधुओं तथा आसपास के लोगों ने भी पूछा कि अगर कोई हरिजन दीक्षा लेने के लिए तैयार है तो क्या आपकी दीक्षा देने की तैयारी है ? आचार्यश्री ने कहा—क्यों नहीं ! अगर योग्य है तो मैं दीक्षा देने के लिए आज भी तैयार हूं। लोगों ने पूछा—आप क्या हरिजनों के यहां भिक्षा लेंगे ? आचार्यश्री ने कहा—कोई रुकावट नहीं है। जहां भी शुद्ध भोजन मिलेगा, हम भिक्षा लेने के लिए तैयार हैं। दीक्षा के लिए तैयारी, भिक्षा के लिए तैयारी; तब फिर दूसरों के सामने बात रखी गयी। हम तो वैसे के वैसे रहेंगे किन्तु आप लोग पुण्य कीजिए, दान दीजिए, गंगा-स्नान कीजिए कृतार्थ हो जाइए, ऐसी बात करने वालों में आचार्यश्री तुलसी नहीं हैं।

आचार्यश्री में इतना साहस है, इतना अभय है कि वे जो स्वीकार कर लेते हैं, उसे फिर कर ही डालते हैं। आसपास का वातावरण कुछ कहे, चाहे दूसरा कुछ कहे। भगवान् महावीर की अहिंसा का सबसे बड़ा सूत्र था—अभय ! अभय ! अभय ! भगवान् ने कहा—'जो डरता है, उसे भूत सताते हैं। जो नहीं डरता, उसे कोई नहीं सताता। दुनिया में कोई ताकत नहीं जो अभय को सता सके। लोग उस व्यक्ति को सताते हैं जो डरता है।' आचार्यश्री ने डरना कभी नहीं सीखा। बड़ी-बड़ी घटनाएं होती हैं, दूसरे लोग रात-रात भर जाग जाते हैं। चिंता करते हैं। किन्तु आचार्यश्री की आकृति पर यह कभी नहीं देखा कि आज कुछ विचित्र-सा हो रहा है ! इतना अभय और इतना साहस जो एक नेता में होना चाहिए, वह

आचार्यश्री में पूर्णता से विद्यमान है।

आचार्यश्री ने एक क्रान्ति की मशाल जगाई है और इसीलिए बहुत सारे लोग आचार्यश्री को समझ नही पा रहे हैं। आज भी नहीं समझ पा रहे है। कठिनाई है और यह बात भी सत्य है कि क्रान्तिकारी को दो-चार-पांच सौ वर्ष के बाद समझा जाता है। सबसे बड़ी कठिनाई यह होती है कि क्रान्ति की सफलता के लिए जो आवश्यक सामग्री होती है, वह प्राप्त नहीं होती। आचार्यश्री ने वह सामग्री अपनी ताकत के बल पर जुटाई है। उनका अपना पुरुषार्थ है, अपना कर्त्तृत्व है।

मैं नही समझ पाता कि आचार्यश्री आज साठ वर्ष के होने जा रहे हैं। उनके श्रम को जब देखता हूं, उनकी लगन को देखता हूं, तो हम लोग जो अवस्था मे उनसे बहुत छोटे हैं, उनके श्रम और लगन के सामने नत-मस्तक हो जाते हैं। कभी-कभी ऐसा लगता है कि ये साठ वर्ष के स्थान पर कही आठ वर्ष के तो नही होते चले जा रहे हैं ?

आचार्यश्री तुलसी ऐसी मशाल हैं जिनके सहारे हजारों-हजारों दीप जल रहे हैं और आप उन्हें प्रेरणा दे रहे हैं। आचार्यश्री अपने बचपन को तथा जवानी को फिर से नयी कर रहे हैं। आपने हमारे सामने अनेक दिशाएं उद्घाटित कीं। जैन धर्म को नया रूप दिया। जैन धर्म को ही क्यों, धर्म को एक नया रूप दिया। क्रान्ति का सूत्र दिया। आज का युवक, आज का छात्र धर्म को रूढ़िवादिता का प्रतीक मानता है, आचार्यश्री तुलसी ने उससे हटकर यह सिद्ध किया है कि धर्म हमारे जीवन की एक क्रान्ति है, रूढि नहीं।

आचार्यश्री ने अभी-अभी एक दिशा का और उद्घाटन किया है। लगभग एक महीने तक आप अज्ञातवास जैसे रहे। साधना में रहे। एक प्रयोग शुरू किया। साठ वर्ष आते-आते अब एक नयी दिशा और उद्घाटित की है। क्योंकि ये व्यवहार के स्तर जितना जीते हैं, उतना ही आन्तरिक स्तर पर भी जीते है। एक प्रसंग मुझे याद आ रहा है। एक फकीर था जो साधना तो करता था किन्तु अहं बहुत था। उस घमण्डी

फकीर ने पानी से भरा हुआ एक कटोरा गुरु नानक के पास भेजा। नानक ने कटोरे को देखा। वे समझ गए। उन्होंने एक फूल मंगाया और कटोरे पर रख दिया। फिर कटोरा फकीर के पास भेजा। फकीर ने कटोरे को देखा और आकर गुरु नानक के चरणों में झुक गया। फकीर ने कहा—आज से मेरा अहंकार टूट गया। फकीर के मन में यह अहंकार आ गया था कि मैं वैसे ही भर गया हूं, पूर्ण हो गया हूं, जैसे यह कटोरा लबालब भरा है। गुरु नानक ने कहा कि भरा हुआ कोई पूर्ण नहीं हो सकता। कटोरा पानी से भर गया है किन्तु फूल इसमें आ सकता है। तुम समझते हो कि मैं भर गया हूं किन्तु तुम्हारे भीतर भी बहुत कुछ समा सकता है। पूर्ण वही हो सकता है जो खाली होना जानता है। घड़ा खाली है, उसे खाली नहीं किया जा सकता। दूध से प्याला भरा है, चीनी उसमें डाली जा सकती है, चीनी समा सकती है। किन्तु खाली प्याले में कुछ भी नहीं समाता। खाली को फिर खाली नहीं किया जा सकता। वास्तव में मनुष्य की पूर्णता है खाली होना, न कि भर जाना। जो आदमी सत्ता के अहंकार से, पद के अहंकार से, धन के अहंकार से, मान और प्रसिद्धि के अहंकार से भर जाता है, वह दुनिया में कभी पूर्ण नहीं हो सकता। पूर्ण वह हो सकता है जो खाली होना जानता है। जो अहंकार से खाली हो जाता है, वह आदमी वास्तव में पूर्ण हो सकता है।

आचार्यश्री तुलसी ने साठ वर्ष की अवस्था आते-आते खाली होने की पूर्णता का दिशा-उद्घाटन कर दिया। उन्होंने यह संकेत कर दिया है कि यदि तुम पूर्ण बनना चाहते हो तो खाली होना सीखो। जिसका मन अहंकार से खाली हो गया, उससे बढ़कर दुनिया में कोई पूर्ण नहीं हो सकता। वह सबसे अधिक पूर्ण होता है। आचार्यश्री तुलसी हमारे इस अर्थ में अब पूर्ण होने जा रहे हैं क्योंकि वे खाली होने की साधना में लगे हैं। आचार्यश्री तुलसी इसलिए धर्म के सूत्रधार होते चले जा रहे हैं क्योंकि वे धर्म को नैतिकता से टूटा हुआ कभी नहीं स्वीकार करते। आचार्यश्री तुलसी मानवता के मसीहा होते चले जा रहे हैं, इसीलिए कि वे मानव-

मानव में कोई भेद करना नहीं जानते। आचार्यश्री तुलसी धर्म की मूल आत्मा, समाज की मूल आत्मा जो पवित्रता है, उस पवित्रता के महान् प्रहरी है। पवित्रता के द्वारा उन्होंने मनुष्य का कल्याण किया है। आचार्यश्री के इस जन्म दिवस पर और विशेषकर उनकी इन छब्बीस वर्ष की उपलब्धियों को मैं इस रूपक की भाषा में प्रस्तुत करना चाहूंगा।

तीन चित्रकार चित्र बनाकर लाए। कौन-सा चित्र सबसे श्रेष्ठ है, इस निर्णय के लिए तीनों चित्र जज के सामने प्रस्तुत किए गए। पहला चित्र एक फूल का था। सभा में रखा गया तो भंवरा उस फूल का पराग लेने के लिए गुंजार करने लगा। भंवरा उस फूल पर झूम पड़ा। जज ने सोचा—कितना सजीव चित्र है कि भंवरा गुंजार करने लगा। दूसरा चित्र सामने रखा गया। वह फल था। बैल सबके सामने उस फल को खाने के लिए आगे बढ़ा। कितना सजीव था। तीसरा चित्र सामने आया जो एक पर्दा था। जज स्वयं उठा यह देखने के लिए कि पर्दे के पीछे क्या है? जज पर्दा उठाने चला किन्तु किसे उठाये? वह तो चित्र था। जज ने निर्णय दिया कि सर्वोत्तम चित्र है तीसरा। लोगों ने पूछा—क्यों? जज ने कहा—फूल ने भंवरे को ठगा, फल ने बैल को ठगा किन्तु पर्दे ने स्वयं मुझे ठगा।

मेरे आचार्यदेव! मेरे आराध्यदेव! तुम उस तीसरे चित्रकार जैसे हो कि मनुष्य को इतना ठगते चले जा रहे हो कि आज मनुष्य यह नहीं समझ पा रहा है कि तुम पर्दा दे रहे हो या पर्दे के भीतर कुछ और दे रहे हो। तुम्हारी यह क्रान्ति की लौ इसी प्रकार जलती रहे और इस ठगाई में आकर भी मनुष्य अपना कल्याण करता रहे। तुम्हारी यह षष्ठी का प्रारम्भ क्रान्ति को और अधिक प्रज्ज्वलित करता रहे। उसके आलोक में मनुष्य अपना मार्ग निर्धारित और निर्मित करता रहे।[1]

---

१. २८ अक्टूबर, १९७३, हिसार—आचार्यश्री के साठवें वर्ष-प्रवेश पर।

आचार्यश्री की दक्षिण भारत-यात्रा

मानवता का मसीहा

दक्षिण-यात्रा का चिरस्वप्न आज यथार्थ हो रहा है। आचार्य तुलसी समूचे संघ की शुभाशंसा के मध्य उसके लिए प्रस्थान कर रहे हैं। बीदासर (राजस्थान) का वातावरण उत्फुल्ल हो रहा है। हर आदमी की प्रसन्न आकृति भावी की सूचना दे रही है कि यात्रा विजयी होगी, प्रभावी होगी।

संघ की व्यवस्था संपन्न कर आचार्यश्री आगे बढ़ रहे हैं। दक्षिण अभी दूर है। ट्रेन या कार से जाने वालों को भी राजस्थान से दक्षिण का रास्ता लम्बा लगता है। आचार्यश्री तो पदयात्री हैं। वे सीधे दक्षिण की ओर नहीं जा रहे हैं। उनका रास्ता काफी टेढ़ा है। पहला वर्ष गुजरात और महाराष्ट्र में ही संपन्न हो गया।

भगवान् महावीर ने क्रियमाण को कृत कहा है। जो क्रियमाण है वह पहले क्षण में कृत नहीं होता तो कभी भी कृत नहीं हो सकता। अन्तिम क्षण निष्ठा का क्षण है, केवल उसी को कृत नहीं माना जा सकता। आचार्यश्री का यात्रा के लिए उठा हुआ पहला चरण और पहला प्रवास भी दक्षिण की यात्रा है।

आचार्यश्री गुजरात और महाराष्ट्र में विहार कर रहे हैं। वहां भी दक्षिण-यात्रा की गूंज है। ध्येय की अखण्डता गति को कभी खंडित नहीं होने देती।

आचार्यश्री राजस्थान और गुजरात के संधिस्थल में ही अपनी यात्रा के उद्देश्यों का प्रतिपादन कर रहे हैं। वे उद्देश्य केवल श्रुतिप्रिय ही नहीं हैं, उनमें वर्तमान की आकांक्षा भी सन्निहित है। उन उद्देश्यों ने यात्रा की ओर जनता का ध्यान ही नहीं खींचा है, उसे समाधान भी दिया है। वे संख्या में तीन हैं—

१. मानवता का निर्माण
२. धर्मक्रान्ति
३. साम्प्रदायिक एकता

व्यक्तित्व का संक्रमण

आचार्यश्री अपनी वेशभूषा के कारण जनता में जैन मुनि के रूप में प्रस्तुत हो रहे हैं। अणुव्रत संदेशक के रूप में जनता उन्हें 'मानवता का मसीहा' मान रही है। उनका धर्मक्रांति का स्वर उन्हें युग-प्रवर्तक बना रहा है। उनकी साम्प्रदायिक एकता की आशंसा उन्हें ईसा की प्रतिष्ठा दे रही है। एक सम्भ्रात ईसाई ने कहा—'मैं आपमें महाप्रभु ईसा का दर्शन पा रहा हूं।' उनकी शारीरिक रचना और करुणा से प्रभावित हो एक व्यक्ति बोला—'मुझे आप में भगवान् बुद्ध का साक्षात् हो रहा है।' एक वकील ने कहा—'मैं आचार्यश्री में रामलिंग स्वामी का प्रतिरूप देख रहा हूं।' एक विद्वान् व्यक्ति ने बताया—'मैं आचार्यश्री की आंखों पर मुग्ध हूं। मैंने आज तक इतनी आकर्षक और तेजस्वी आंखें नहीं देखीं।' अपना-अपना दृष्टिकोण, अपना-अपना ग्रहण और अपनी-अपनी अभिव्यक्ति। इनके संदर्भ में एक व्यक्तित्व अनेक रूपों में संक्रान्त हो रहा है।

एकात्मा : सर्वात्मा

इससे पहले की यात्राओं में विरोध और स्वागत—दोनों का संतुलन रहा है। इस यात्रा में न जाने क्यों विरोध का स्वर क्षीण हो रहा है, आकर्षण बढ़ रहा है। आचार्यश्री गांव में प्रवेश कर रहे हैं। सैकड़ों-हजारों

लोग उनकी अगवानी के लिए सामने आ रहे हैं। वे एक गांव से दूसरे गांव जा रहे हैं। रास्ते में मध्यवर्ती गांवों के सैकड़ों लोग खड़े हैं। वे घंटों से आचार्यश्री के आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। आचार्यश्री हर गांव में रुकते हैं और उन्हें अपना संदेश देते हैं। एक बार हमने देखा कि प्रवास वाले गांव में पहुंचने पर पांचवां प्रवचन हो रहा है। चार रास्ते के गांवों में हो चुके हैं।

जनता के आकर्षण को बढ़ाने में समाचारपत्रों का बहुत बड़ा योग रहा है। हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, मलयालम, तेलुगु और अंग्रेजी—इन सभी भाषाओं के समाचारपत्र अपने-अपने क्षेत्र में यात्रा को महत्त्वपूर्ण स्थान दे रहे हैं। हमें अनुभव हुआ, हिन्दुस्तानी समाचार-पत्र कोरी राजनीति में ही लिप्त नहीं हैं। यदि जनता के कल्याण के लिए कोई कार्यक्रम हो तो वे उसका सही-सही मूल्य आंकते हैं।

आचार्यश्री का अधिकांश प्रवास विद्यालयों, महाविद्यालयों, आश्रमों और सार्वजनिक संस्थानों में हो रहा है। सरकार और सार्वजनिक संस्थाएं काफी सहयोग दे रही हैं। बंबई-प्रवास के लिए महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री ने राज्य की नवनिर्मित प्रेस का विशाल भवन दिया। कुछ लोगों ने उसमें कठिनाई बतलाई। मुख्यमंत्री ने कहा—'आचार्यजी जनता का कार्य कर रहे हैं। तब उनके निवास के लिए जनता के भवन का उपयोग क्यों नहीं होना चाहिए ?'

आचार्यश्री जनता के हैं। वे जनता के लिए अपने समय, शक्ति और सुख-सुविधा को समर्पित किए हुए हैं। यह स्थिति बहुत ही स्पष्ट हो रही है और इसका यथार्थ मूल्य आंका जा रहा है।

आचार्यश्री बार-बार एक प्रश्न साधुओं के सामने प्रस्तुत करते हैं। उनका प्रश्न है कि जनता का इतना प्रेम हमें क्यों मिल रहा है ? जितना प्रेम मिल रहा है, उतना शायद हम उसके लिए नहीं कर पा रहे हैं।

मेरा मत है कि प्रेम का विनिमय नहीं होता और वह अकारण भी नहीं होता। लोग आचार्यश्री के त्याग-तपस्यामय जीवन के प्रति श्रद्धानत

हैं। पादयात्रा भी अपने आप में बड़ा आकर्षण है। उनका व्यापक व उदार दृष्टिकोण भी जनता को अपनी ओर खींच लेता है।

उनके इस सूत्र ने जनता को बहुत प्रभावित किया—मैं सर्वप्रथम मनुष्य हूं, फिर धार्मिक, फिर जैन और फिर तेरापंथी।'

उनका दूसरा प्रभावी सूत्र था—'मैं दक्षिण की सभ्यता, संस्कृति, साहित्य कला, परंपरा व वर्तमान समस्या का अध्ययन करने यहां आया हूं। मैं विनिमय में विश्वास करता हूं। जो मेरे पास है वह 'मैं दूंगा और जो आपके पास है वह लूंगा।'

उनका तीसरा प्रभावी सूत्र था—मानव-धर्म की व्याख्या को प्राथमिकता।

इन सूत्रों ने उन्हें इतना यशस्वी बनाया कि उसकी तुलना इन शताब्दियों में किसी से भी नहीं की जा सकती।

अतीत का अनावरण

मद्रास विश्वविद्यालय का हाल। भव्य, महनीय और कमनीय। आचार्य तुलसी का अभिनंदन-समारोह। आज के वक्ता हैं—तमिलनाडु के मुख्यमंत्री अन्नादुरै।

मुख्यमंत्री ने कहा—'तमिलनाडु आपका घर है। आपके अपने ही घर में आपका स्वागत करते हुए मुझे हर्ष का अनुभव हो रहा है।'

हम लोग सतर्क हो गए। एक बार विस्मय की दृष्टि से मुख्यमंत्री की ओर देखा। उनके आशय को समझने की उत्कंठा प्रबल हो गयी।

मुख्यमंत्री बहुत ही मेधावी हैं। उन्होंने अपने वाक्य को स्वयं विस्तार दे दिया। वे बोले—'तमिलनाडु जैन धर्म का प्रभावी केन्द्र रहा है। हमारी सभ्यता, संस्कृति, भाषा और साहित्य की श्रीवृद्धि में जैन मनीषियों का बहुत बड़ा कर्तृत्व है। आप यहां आए हैं, इसका हमें कोई आश्चर्य नहीं है। हमें आश्चर्य इस बात का है कि इतने वर्षों तक आप यहां नहीं आए; अपने घर को नहीं सम्हाला।'

मुख्यमंत्री के वक्तव्य के साथ-साथ अतीत हमारी आंखों के सामने पुनरावृत्त हो रहा था।

तेईस सौ वर्ष पहले का दक्षिण भारत। भद्रबाहु स्वामी का पूर्वी भारत से दक्षिण भारत में आगमन। सम्राट् चंद्रगुप्त का साहचर्य। हजारों-हजारों जैन मुनियों का पाद-विहार। तंजौर, त्रिचनापल्ली, मदुरै, कन्याकुमारी, श्रवणबेलगोला, आरकाट आदि क्षेत्रों के परिपार्श्व, पर्वतीय गुफाएं, मंदिर और प्रतिमाएं आज भी यह साक्ष्य प्रस्तुत कर रही हैं कि इस क्षेत्र ने कभी हजारों मुनियों को साधना का वातावरण दिया था।

दक्षिण भारत में भद्रबाहु से पहले भी जैन धर्म प्रवेश पा चुका था। वहां श्रमण-परंपरा बहुत पहले ही पनप चुकी थी। आजीवक संप्रदाय बहुत प्रभावी था। जैन मुनि वहां पर्यटक के रूप में नहीं गए थे। वे वहां स्थायी रूप में रहे। उन्होंने उस प्रदेश के कण-कण के साथ तादात्म्य स्थापित किया। आज भी जीवन के हर पहलू पर उसका प्रतिबिम्ब है—स्पष्ट और सुस्पष्ट।

इसी दक्षिण भारत में आचार्य तुलसी की यात्रा अतीत और वर्तमान के मध्य एक कड़ी बन रही है। हिंदी-विरोधी समिति के श्री विश्वनाथन् हमारे सामने उपस्थित हैं। तमिल साहित्य के अधिकृत विद्वान, मनीषी और विचारक। वार्तालाप के विषय हैं—तमिलनाडु के मानस पर जैन धर्म का प्रभाव, तमिल साहित्य की प्राचीनता, तमिल संत आदि-आदि। आचार्यश्री ने कहा—'दक्षिण में आने से पूर्व मेरी यह कल्पना नहीं थी कि तमिल के साहित्य, संस्कृति व जीवन पर जैन धर्म का इतना प्रभाव है।'

श्री विश्वनाथन्—'आपके यहां आने से पूर्व हमारी भी यह कल्पना नहीं थी कि जैन धर्म आज जीवित धर्म है। हम लोग उसे तमिल साहित्य में परिसीमित धर्म मान चुके थे।'

चिदम्बरम् एक छोटा, किन्तु सुंदर नगर है। प्रसिद्ध वकील श्री जी० टी० कृष्णमूर्ति आचार्यश्री की सन्निधि में उपस्थित हैं। वे अपने मन का एक उद्गार प्रकट करने के लिए उपस्थित हुए हैं—'आचार्यजी! अतीत में

चैतन्य महाप्रभु का विशाल संघ हमारे यहां आया था। उस समय धर्म का व्यापक वातावरण बना था। आज के इस विशाल धर्मसंघ के आगमन से फिर उसी घटना की पुनरावृत्ति हुई है। आज चिदम्बरम् का कण-कण आपकी वाणी से पुलकित हो रहा है। हजारों-हजारों आदमी निरंतर एक ही दिशा में प्रवाहित होते देखे जा रहे हैं।'

जैन धर्म के मूच्छित संस्कार आचार्यश्री का माध्यम प्राप्त कर पुनरुज्जीवित हो उठे। स्वागत मे बोलने वाला साहित्यकार हो या लेखक, कवि हो या पत्रकार, व्यवसायी हो या राजनयिक—ऐसा कोई भी नहीं आया, जिसने जैन धर्म के अतीत की स्मृति न की हो। दक्षिण भारत के जनमानस में जैन धर्म के प्रति अत्यन्त आदर का भाव है। उसका सबसे बड़ा कारण जैन मनीषियों की दक्षिणी भाषाओं की सेवाएं हैं।

शिमोगा मैसूर राज्य का शैक्षणिक नगर है। रात्रिकालीन प्रवचन का समय। हजारों लोगों की उपस्थिति। नेहरू वूमन्स कॉलिज के प्रिंसिपल श्री पंचाक्षरी का जैन धर्म के विषय मे अभिभाषण। हमने सोचा—ये जैन हैं। हर जैन को भी जैन धर्म की इतनी अच्छी जानकारी नही होती। पूछने पर पता चला वे जन्मना जैन नही है। एम० ए० की परीक्षा में कन्नड़ के अनेक ग्रंथ पढ़ने होते है। इसलिए वे जैन धर्म के अच्छे अभिज्ञ हैं।

जैन धर्म के इतिहास को उजागर करने वाली अगणित वार्ताएं मेरे सामने स्फुटित हो रही है, पर विहंगावलोकन में उन सबके लिए अवकाश नहीं है।

दक्षिण मे हमने यह स्वर सुना—जैन धर्म का पुन: प्रचार होना चाहिए—एक बार नही, अनेक बार।

मद्रास राज्य की स्वतंत्र पार्टी के नेता डा० गणेशन् के शब्दों में 'जैन धर्म आज भी हमारी धमनियों में शोणित की भांति प्रवाहित है।'

लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष अनंतशयनम् आयंगर के शब्दों में 'यह कौन अनुभव नही करता कि हमारे पूर्वज जैन थे।' जैन धर्म की इस लोकप्रियता के पीछे उसका उज्ज्वल इतिहास है, वर्चस्व है, उदार व विशाल

दृष्टिकोण है, साहित्य की साधना है और है जनकल्याण के उदात्त प्रयत्न। जैन लोगों ने पुराने ज़माने में दक्षिण भारत में वही जनकल्याणकारी कार्य किया था, जो आज ईसाई मिशनरी कर रही है।

मैंने अनेक बार इस रहस्य को जानने का यत्न किया कि आचार्यश्री सर्वप्रथम अणुव्रत या मानव धर्म की बात करते हैं, फिर भी दक्षिणी जनता जैन धर्म की प्रशस्ति में अधिक रस क्यों लेती है ?

कुछ प्रसंगों के पश्चात् मेरे मन का समाधान हो गया। तमिल और कन्नड़ के आदिकालीन साहित्य की स्पष्टता के लिए जैन धर्म की चर्चा करना दक्षिण भारतीयों के लिए सहज प्राप्त है। वे उस सहज अपेक्षा से उसकी प्रशस्ति करते थे, आचार्यश्री को प्रसन्न करने के लिए नहीं।

हमारी यात्रा का अग्रिम दल त्रिवेन्द्रम पहुंचा। वह विधानसभा के अध्यक्ष दामोदरपोत्ती से मिला। उसके प्रवक्ता ने कहा—आचार्य तुलसी यहां आ रहे हैं ? उनकी यात्रा मानव धर्म की व्याख्या के लिए हो रही है। किसी सांप्रदायिक दृष्टिकोण से नहीं हो रही है। प्रवक्ता ने और अधिक स्पष्ट कहा—'वे जैन धर्म का प्रसार करने को नहीं आ रहे हैं।'

दामोदरजी बोले—'जैन धर्म का प्रसार क्यों नहीं होना चाहिए ? क्या मैं जैन नहीं हूं ? अहिंसा और नीति हमारी संस्कृति के मौलिक अंग हैं। उनमें आस्था रखने वाला कौन मनुष्य जैन नहीं है ?'

जैन धर्म के सिद्धांतों के साथ अपने धर्मों की तुलना करना वहां गौरव माना जाता है। कोई विद्वान् उपस्थित होता है और स्वामी रामलिंगम् के विचारों की जैन दर्शन से तुलना प्रस्तुत करता है। कोई विद्वान् आता है और महाराज बसव के सिद्धांतों की जैन धर्म से तुलना प्रस्तुत करता है।

इन सारी स्थितियों के संदर्भ में मुझे संत विनोबा की एक बात याद आ गयी। उन्होंने एक बार लिखा था—चीनी दूध में लीन होकर उसमें अपनी मिठास भर देती है, उसी प्रकार जैन धर्म जनमानस में लीन होकर अपने उदात्त विचारों से जनता में मिठास भर दे तो कोई हानि नहीं होगी। दक्षिण भारत में मूल निवासी जैन बहुत कम संख्या में हैं। फिर भी वहां

जैन धर्म की मिठास बहुत व्यापक है। नाम और रूप का विसर्जन करने पर उसकी स्थूलता अवश्य ही कम हुई है, पर उसकी सूक्ष्मता हमें अणु की असीम शक्ति का बोध करा रही है।

विम्ब : प्रतिबिम्ब

आचार्यश्री राजनीति और सरकार पर समय-समय प्रहार कर रहे हैं। राजनेता उसे सुनते हैं। पर परमार्थ की भूमिका से आने वाले प्रहार को वे कटुता का परिधान नहीं देते।

भाषा की भी समस्या है। आचार्यश्री सर्वत्र हिन्दी में बोलते हैं। कई उत्तर भारतीय बड़े-बड़े लोगों का सुझाव था —आपको वहां सार्वजनिक भाषण हिन्दी में नहीं करना चाहिए। हमने देखा आचार्यश्री का संत रूप इतना निखार पा रहा है कि भाषा का प्रश्न उसके सामने गौण हो रहा है। चिदम्बरम् का अणामलै विश्वविद्यालय हिन्दी विरोधी गढ़ है। वहां आचार्यश्री हिन्दी में प्रवचन कर रहे हैं। अध्यापक और छात्र सभी उसमें बहुत रस ले रहे हैं। दूसरी बार फिर प्रवचन के लिए निमंत्रण आ रहा है।

समूचे तमिलनाडु में हमें महर्षि पतंजलि के 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः' के स्थान पर 'मानवधर्मप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ भाषाविरोधत्यागः' का अनुभव हुआ।

दक्षिण में ब्याज स्वयं एक समस्या बन रहा है। आचार्यश्री ब्याज की निरंकुशता का विरोध कर रहे हैं। व्यापारी उससे चिंतित हैं। कुछ लोग विरोध के लिए खुले मैदान में उतर आए हैं। समूचे दक्षिण में विरोध का सबसे बड़ा निमित्त यही बना।

आचार्यश्री राजस्थानी लोगों को समझा रहे हैं—आप यहां रहते हैं और आपको यहां रहना है तो दक्षिणवासी जनता के साथ आपका तादात्म्य स्थापित होना चाहिए। एक आगंतुक व्यापारी के रूप में रहना आपके हित में नहीं है।

आचार्यश्री की यात्रा से राजस्थानी लोगों में सामाजिक कर्तव्य का

दायित्व-बोध बढ़ रहा है। चिकमंगलूर में एक तेरापंथी श्रावक ने चिकित्सालय के लिए साठ हजार की राशि देकर वहां चल रहे खिचाव को शांत कर दिया। शिमोगा की कॉलेज की समस्या को तेरापंथी श्रावकों ने चालीस हजार की राशि देकर सुलझा दिया।

तमिल और कन्नड़ के साहित्य और पुरातत्व के शोध की अपेक्षा पग-पग पर अनुभव हो रही थी। कुछ तेरापंथी श्रावकों ने मिलकर दो लाख की राशि की व्यवस्था की और उस कार्य के लिए प्राच्य विद्या-शोध संस्थान स्थापित कर दिया।

आचार्यश्री का प्रभाव दिन-प्रतिदिन व्यापक होता जा रहा है। जनता अधिक-से-अधिक आत्मीयता अनुभव कर रही है। चिदम्बरम् के साम्यवादी कार्यकर्ता ने कहा—आप यहा दो दिन रुकिए। आपके प्रवास-कालीन व्यवस्था का भार मैं वहन करूंगा।

न जाने कितने साम्यवादी युवक आचार्यश्री को सुन रहे है और उनके धर्म की व्याख्या को वे अपने विचारों के अनुकूल पा रहे हैं।

अणुव्रत धर्म का सिद्धांत है, जीवन-व्यवहार की व्याख्या है, मानवता के शाश्वत सत्य का उद्‌घोष है, इसलिए उसमें हर आदमी को अपनेपन का अनुभव हो रहा है। धारवाड़ विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री अड़के के शब्दों में आचार्यश्री अणुव्रत के माध्यम से 'बसव' के सिद्धांतों का पुनरुच्चार कर रहे हैं। सब लोगों को यही अनुभव हो रहा है कि आचार्यश्री हमारे ही विचारों का प्रतिपादन कर रहे हैं।

मैसूर राज्य के मुख्यमंत्री श्री वीरेन्द्र पाटिल ने कहा—आचार्यजी ! आपके आने से जनता में जागृति की नयी लहर दौड़ पड़ी है। मैं मानता हूं आपको सब लोग चाहते हैं। इसलिए मैं यह नहीं कहूंगा कि आप यहीं रुकिए। मेरा अनुरोध सिर्फ इतना ही है कि आप पांच वर्षों के बाद एक बार अवश्य हमारे बीच आएं और हमें जागरण का संदेश दें।'

इस प्रकार की भावनाओं में से संचार करते हुए आचार्यश्री आंध्र की श्रद्धाप्रवण जनता से विदा लेकर उत्तर भारत की ओर आगे बढ़ रहे हैं। धर्मक्रांति की लौ निरंतर प्रज्वलित हो रही है।

विनोबा : परिचय और अपरिचय के मध्य

मैंने व्याख्या का एक सिद्धांत निश्चित कर रखा है—स्थिर की निश्चित व्याख्या और अस्थिर की सामयिक व्याख्या। मैं जलराशि के प्रशान्त रूप की निश्चित व्याख्या कर सकता हूं, किन्तु ऊर्मिमाला से आलोड़ित समुद्र की व्याख्या मुझे उतार-चढ़ाव के सन्दर्भ में ही करनी होगी।

जिस व्यक्ति का मन ऊर्मियों से आक्रान्त है, उसे निश्चित आकार मे प्रस्तुत नही किया जा सकता। निश्चित आकार में उसे ही प्रस्तुत किया जा सकता है, जो शान्त, प्रशान्त और उपशान्त है। विनोबा एक प्रशान्त जलराशि है। उसे आकार देने में मुझे कठिनाई का अनुभव नही हो रहा है।

एकाग्रता

गोपुरी का पुस्तकालय-भवन। आचार्यश्री तुलसी और आचार्य विनोबाजी की उपस्थिति। वार्तालाप चल रहा था। मैंने विनोबाजी से कहा—'मैं आपसे एक व्यक्तिगत प्रश्न पूछना चाहता हूं।' उन्होंने उसकी स्वीकृति दी। मैंने पूछा—'क्या आप ध्यान करते हैं ?'

विनोबा—'ध्यान नहीं तो और क्या करता हूं ?

मैं—'कुछ सर्वोदयी व्यक्तियों से सुना कि निष्क्रिय होकर ध्यान करना ठीक नही। क्रियाशीलता में जो होता है, वही ठीक है।

विनोबा—'दोनों प्रकार से हो सकते हैं। मेरे पास ऑक्सफोर्ड की एक

डिक्शनरी है। उसमें एक भी गलती नहीं मिलेगी और यहां ऐसी कोई पुस्तक नहीं जिसमें गलती न हो। यह ध्यान की कमी है।'

मैं—'व्यक्तिगत रूप में आप कितना समय ध्यान में लगाते हैं ?'

विनोबा—'पता नहीं कि मैं ध्यान के बिना कितनी देर रहता हूं।'

मैं—'अच्छा, यह बता दीजिए।'

विनोबा—'एक काम से दूसरे काम में लगता हूं तब एकाग्रता का भंग करना पड़ता है।

मैं—'यह स्थिति कितने वर्षों से है ?'

विनोबा—'आज है। कल होगी या नहीं, कह नहीं सकता।

कुछ दिनों के पश्चात् विनोबाजी ने इस विषय को और अधिक स्पष्ट किया। एक प्रसंग पर उन्होंने कहा—'कुछ लोग कहते हैं कि ध्यान करते समय एकाग्रता सधती नहीं, या तो मन इधर-उधर भटकता है या नींद आती है। चित्त में आलस्य होता है इसलिए नींद आती है। यह तमोगुण है और इधर-उधर भटकता है वह रजोगुण है। असल में ध्यान कोई करने की वस्तु नहीं है। वह साधना है। साधना सहज होती है। चित्त में अनेक कामनाएं होती हैं। मत्सर होता है। लोग एक-दूसरे के साथ में रहते हैं लेकिन एक-दूसरे के सुख को देख नहीं सकते, फिर एक-दूसरे के दोष ही दिखायी देते रहते हैं। इस तरह मनुष्य अपना मन अशुद्ध करता रहता है। गीता कहती है कि प्रसन्नता से बुद्धि की स्थिरता आती है। प्रसन्नता यानी चित्त की निर्मलता। इसलिए देखना चाहिए, चित्त में कौन-सा मैल है और फिर उसे धोना चाहिए। निर्मल चित्त होने पर उसे एकाग्र करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। चित्त तो एकाग्र ही होता है। अनेकाग्रता का प्रयत्न करना पड़ता है। उसके लिए श्रम की जरूरत है।'

भगवान् और गणित

विनोबाजी गणित-निष्णात हैं। उनके सामने पहला सत्य है भगवान् और दूसरा सत्य है, गणित। वे भगवान् के पश्चात् गणित को ही सत्य

मानते है। वे बात-बात में उसका प्रयोग करते है।

आचार्यश्री ने पूछा—'आपका स्वास्थ्य कैसे चल रहा है?' विनोबाजी ने कहा—'आयु के अनुसार समाधानकारक है। राजनीति की भाषा में पासपोर्ट मिल गया किन्तु वीसा नही मिला। यहां से विदा की तैयारी हो गयी पर वहां से परवाना नही आया। भारत में सत्तर साल के बाद मरने का हक है पर वहा से परवाना आने में कितना समय लगेगा, यह मालूम नहीं।'

एक भाई ने पूछा—'हमने सुना है कि परमार्थ पर चलने वाले व्यावहारिक नही होते।'

विनोबाजी ने कहा—'यह कैसा प्रश्न है? जिसे परमार्थ की दृष्टि प्राप्त है, उसके लिए व्यवहार का प्रश्न कैसा? वह परमार्थ से स्वयं फलित होता है।'

परिभाषाकार

विनोबाजी शब्द-सिन्धु के पारगामी तैराक हैं। उनकी प्रतिभा शब्द और अर्थ—दोनों की गहराई तक पहुंचती है। वे प्राचीन शास्त्रों के अध्येता ही नहीं है, नवीन परिभाषा के प्रणेता ऋषि भी हैं। उनकी परिभाषाएं बहुत मार्मिक होती है। उन्होंने सदाचार को इस भाषा में गुंफित किया है—

अनाचार मालिन्य है—अनाचारस्तु मालिन्यम्।
अत्याचार मूर्खता है—अत्याचारस्तु मूर्खता।
जो दोनों के मध्य में है, वह सदाचार है—तयोर्मध्ये सदाचारः।

स्पष्टदृष्टि

विनोबाजी आध्यात्मिक व्यक्ति हैं। आध्यात्मिक का अर्थ होता है—अन्तर्-जगत् और बहिर्जगत्—दोनों की गहराई में पहुंचने वाला। जो अन्तर् में स्पष्ट होता है, वह बाह्य के प्रति भी स्पष्ट होता है। उसमें सत्य

स्वयं प्रतिबिम्बित होता रहता है।

विनोबाजी नागपुर में थे। दो व्यक्ति एक थाली में खा रहे थे। एक था मुसलमान और एक था हिन्दू।

विनोबाजी ने पूछा—'यह क्या हो रहा है?'

वे बोले—'भाईचारा! हिन्दू-मुस्लिम एकता।'

विनोबा—'तुम चारा तो नहीं खाते हो न? यह तो दाल-भात है। फिर कैसा भाईचारा?'

'अरबिस्तान में ऐसे ही होता है।'

'तुमने वहां जाकर देखा है?

'नहीं।'

'अरबिस्तान के लोग एक थाली में खाते है, यह सही है। पर वे क्या खाते है, यह तुम्हें मालूम नहीं है। वे दालभात नहीं खाते। वे रोटी और खजूर खाते हैं। दालभात को इस प्रकार खाना हिन्दू-मुस्लिम एकत्व नहीं, बीमारी को निमंत्रण देना है।'

शब्दात्मा की पकड़ से उलझा हुआ दृष्टिकोण अर्थात्मा के स्पर्श से एक क्षण में सुलझ जाता है।

गांधी को नमस्कार

स्थूल के माध्यम से सूक्ष्म की ओर जाना योग की सुविदित प्रक्रिया है। बातचीत के प्रसंग में विनोबा जी ने कहा—'मैं गांधी को नमस्कार कर चुका हूं, छोड़ चुका हूं।'

मैंने कहा—'यह कैसे हो सकता है?'

'यह हो सकता है, तभी हुआ है।'

'कब से?

'जब से सूक्ष्म में प्रवेश किया है।'

मैंने कहा—'जैन परम्परा में भी ऐसा होता है। जिनकल्प की साधना स्वीकार करने वाला मुनि 'कल्पातीत'—संघ और शास्त्र से अतीत—हो

जाता है।'

जीवित समाज

विनोबाजी निसर्गतः साम्ययोगी है। राजनीति के क्षेत्र में समाजवादी होता है और कोई साम्यवादी। अध्यात्म के क्षेत्र में व्यक्ति होता है—साम्यपोगी। [योग और वाद में मौलिक अन्तर है। योग का सम्बन्ध अन्तःकरण से होता है और वाद का सम्बन्ध बुद्धि से। व्यक्ति की भूमिका में साम्ययोग, समाजवाद या साम्यवाद कुछ भी नही होता। यह सब समाज की भूमिका में फलित होते हैं।

विनोवाजी अध्यात्म की भाषा में साम्ययोगी और राजनीति की भाषा मे समाजवादी या साम्यवादी हैं। उनकी आन्तरिक करुणा ने उन्हे साम्ययोगी वनाया है। मेरा अपना विचार है कि साम्ययोगी हुए विना कोई भी व्यक्ति अच्छा समाजवादी या साम्यवादी नही हो सकता। इसे उलटकर इस भाषा मे रखा जा सकता है कि समाजवादी या साम्यवादी हुए विना कोई भी व्यक्ति अच्छा साम्ययोगी नही हो सकता।

विनोवाजी का समाज के प्रति जो दृष्टिकोण है, वह एक घटना से स्वयं व्याख्यात हो जाता है। एक बार एक बच्चा विनोबाजी के पास आया। उसके कान में दर्द था। वह रो रहा था। विनोबाजी बोले—'बच्चे, दर्द तुम्हारे कान में है, फिर तुम्हारी आंखें क्यों रो रही है ? उनमे पानी क्यों आ रहा है ?' दूसरे ही क्षण उन्होंने कहा—'कान और आंख में एक तत्त्व की धारा प्रवाहित हो रही है। यही तो जीवित शरीर का लक्षण है। समाज के एक व्यक्ति का दर्द दूसरे व्यक्ति तक पहुंचता है, यही तो जीवित समाज का लक्षण है।'

व्यक्ति प्रत्यक्ष होता है, मानस परोक्ष। परोक्ष का अर्थ है अपरिचय। मनुष्य अपरिचित को परिचित करने का प्रयत्न कर रहा है। पर यह बहुत टेढ़ा काम है। अपने मन से परिचित होना भी सरल नहीं है। उस स्थिति में दूसरे व्यक्ति के मन का परिचय पाना कैसे सरल हो सकता है ?

शिक्षक का कर्तव्य-बोध

'हे दारिद्रय ! नमस्तुभ्यं, सिद्धोस्मि त्वत्प्रसादतः।
सर्वानहं च पश्यामि, मां न पश्यति कश्चन।।'

कवि ने नमस्कार किया है, किसी प्रभु को नहीं, परमात्मा को नही, किन्तु दारिद्रय को। दारिद्रय ! तुझे नमस्कार है। ऐसी क्या बड़ी बात है ? ऐसी कौन-सी बड़ी शक्ति है ? किन्तु कवि को लगा कि शायद इस दुनिया में गरीबी से बढ़कर कोई शक्ति और सत्ता दूसरी नहीं है, इसलिए उसने उसे नमस्कार किया। उसने कहा—दारिद्रय ! तेरी कृपा से मैं स्वयं भगवान् बन गया। हिन्दुस्तान में तो लोग दरिद्रनारायण कहते ही हैं। मैं तो नही मानता। किन्तु लोग कहते है। कवि ने कहा कि तुम्हारी कृपा से मैं भगवान् बन गया। कैसे ? आपके मन में भी तर्क हो सकता है। पैसे से तो लोग भगवान् बनते हैं, किन्तु दारिद्रय से कैसे भगवान् बन गया ? किन्तु कवि ने ठीक कहा, औचित्यपूर्ण कहा और तर्कसंगत कहा कि मैं तुम्हारी कृपा से भगवान बन गया हूं। कैसे बन गया ? वह तर्क भी मैं आपको बता दूं। कवि ने कहा–'भगवान् सबको देखता है, भगवान् को कोई नही देखता। मैं सबको देखता हूं, मुझे कोई नहीं देखता। मेरे सामने कोई आंख उठाकर भी नहीं देखता और मैं सबकी ओर देखता हूं।'

प्रश्न है कि यह जो दारिद्रय है, गरीबी है, यह क्यों है ? इसका सबसे बड़ा कारण है—शक्ति का अभाव, पुरुषार्थ का अभाव। फिर प्रश्न होता है कि यह शक्ति का अभाव क्यों है ? ज्ञान का अभाव शक्ति के अभाव को

जन्म देता है। यह कार्य-कारणमाला के रूप में चलता है। दरिद्रता इसलिए है कि हमारे भीतर शक्ति जागृत नहीं है और हमारी शक्ति सुषुप्त इसलिए है कि हमारा ज्ञान प्रबुद्ध नही है। यदि ज्ञान हमारा प्रबुद्ध हो तो हमारी शक्ति जागृत होगी और अगर हमारी शक्ति जाग्रत होगी तो हमारी समृद्धि बढ़ेगी। कार्य-कारणमाला के रूप में देखता हूं, तो ज्ञान की निष्पत्ति है शक्ति और शक्ति की निष्पत्ति है समृद्धि। यह एक क्रम चलता है। जो व्यक्ति पढ़ा और उसमे शक्ति का विकास नही हुआ तो मैं यह मानने के लिए तैयार नही हूं कि उसे ज्ञानी या पढा हुआ कहा जाए। हो सकता है कि उसने अक्षरों का ग्रहण किया है, कुछ विषयों का ग्रहण किया है। किन्तु आजकल कम्प्युटर भी ऐसा ग्रहण कर लेता है। टेपरिकार्डर भी ग्रहण कर लेता है। यह हमारी ग्रहणात्मक योग्यता हो सकती है, किन्तु हमारी अपनी आत्मिक योग्यता या चेतना का जागरण नही हो सकता।

ज्ञानी आदमी में निश्चित ही शक्ति का विकास होना चाहिए और जिस व्यक्ति में ज्ञान का विकास और शक्ति का विकास हो और समृद्धि का विकास न हो, यह कभी हो नही सकता। यह अनिवार्यत: होगा ही। उसमें समृद्धि बढ़गी। समृद्धि के भी दो रूप हैं। चाहे हम सुख की तरफ जाएं और चाहे आनन्द की तरफ जाएं। किन्तु कोई भी ज्ञानी या शक्तिमान पुरुष दीन, हीन और गरीब नही हो सकता। वह प्रसन्न होगा, आनन्दित होगा, प्रफुल्लित होगा और एक पुष्प की भांति सदैव मुसकराता रहेगा।

ज्ञान हमारी बहुत बड़ी उपलब्धि है। ज्ञान उस बीज की उपलब्धि है जिसके बाद अंकुरण होता है। पल्लवन, पुष्पन और फलन—सब कुछ होता है। यह बीज है हमारा। कवि ने ज्ञान के विषय में ठीक कहा है—

'पीयूषमसमुद्रोत्थं रसायनमनौषधम्।
अन्यानपेक्ष्यमैश्वर्यं ज्ञानमाहुर्मनीषिणः ॥'

ज्ञान क्या है ? यह पीयूष है, अमृत है। अमृत तो है किन्तु किसी समुद्र से निकला हुआ नहीं है। रूपक की भाषा मे कहा जाता है कि अमृत समुद्र

से निकला है। ज्ञान अमृत अवश्य है किन्तु किसी समुद्र से निकला हुआ नहीं है। यह रसायन है किन्तु किसी औषधशाला में बना हुआ रसायन नहीं है। औषध नहीं है। अनौषध रसायन है। और यह ऐश्वर्य है किन्तु दूसरे के सिर पर या दूसरे के कन्धे पर पैर रखकर अपने आप में प्रकट होने वाला ऐश्वर्य नहीं है। लौकिक ऐश्वर्य के लिए कुछ चाहिए, नौकर चाहिए, गुलाम चाहिए, दास चाहिए। कोई नीचे न हो तो ऐश्वर्य प्रगट नहीं होता। कोई न कोई नीचे चाहिए। एक व्यक्ति के पास बहुत बड़ा साम्राज्य हो सकता है, बहुत धन हो सकता है किन्तु उसके नीचे कोई दूसरा न हो तो ऐश्वर्य उसका प्रकट नहीं होता। फिर तो ऐश्वर्य सोया रह जाता है।

कन्फ्युशियस बैठा था। सम्राट् उधर से आ रहे थे। सम्राट् ने पूछा—'तुम कौन हो?' उसने कहा, 'मैं सम्राट् हूं।' 'अरे! तुम कैसे सम्राट्! जंगल मे बैठे हो, फिर सम्राट् कैसे?' कन्फ्युशियस ने पूछा—'तुम कौन हो?' वह बोला—'मैं सम्राट् हूं। देखो, असली सम्राट् यह होता है। कितने सेवक, कितने वाहन, कितना ठाट-बाट, और ऐश्वर्य, यह होता है सम्राट्। तुम अकेले जंगल में फकीर की भांति बैठे हो और अपने आपको सम्राट् मान रहे हो। कितना मोह और कितनी भ्रान्ति है? बताओ, तुम सम्राट् कैसे हुए?'

कन्फ्युशियस बहुत बड़ा दार्शनिक था, बहुत बड़ा संत था। वह बोला, 'सेवक उस आदमी को चाहिए जो आलसी होता है। मैं आलसी नहीं हूं, इसलिए मेरे साम्राज्य में सेवक की जरूरत नहीं है।'

सम्राट् ने पूछा—'बताओ, तुम्हारे पास सेना है क्या? बिना सेना के सम्राट् कैसे हो सकता है?'

कन्फ्युशियस बोला—'सेना उसे चाहिए जिसके शत्रु हों। दुनिया में मेरा कोई शत्रु नहीं है। इसलिए मेरे साम्राज्य में सेना की आवश्यकता नहीं है।'

फिर पूछा—'क्या तुम्हारे पास धन और वैभव है?'

उत्तर मिला—'धन और वैभव उसे चाहिए जो दरिद्र हो। मैं दरिद्र

नहीं हूं, इसलिए मुझे धन और वैभव की आवश्यकता नहीं है।'

फिर पूछा—'तुम्हारा वेश भी सुन्दर नही है, फिर तुम कैसे सम्राट् हुए ?'

'सुन्दर वेश उसे चाहिए जो कुरूप हो और अपनी कुरूपता को छिपाने के लिए उत्सुक हो। मैं अन्तःसुन्दर हूं। मुझे सुन्दर वेश की जरूरत नही है।'

सम्राट् का सिर झुक गया। बेचारा क्या बोलता ? वह कुरूप था, इसलिए सुन्दर वेश बनाकर अपने को सुरूप दिखाना चाहता था। वह आलसी था, इसलिए दूसरों के सिर पर, दूसरों के कन्धों पर अपने सारे जीवन का भार लादकर अपने ऐश्वर्य को प्रकट करना चाहता था। उसके हज़ारों-हज़ारों शत्रु थे। उसके साथ सैनिक नही होते तो न जाने कब गोली लग जाती। कब का वह मर जाता। इसलिए सेना उसे रखनी पड़ती थी। वह दरिद्र था। अपनी दरिद्रता को छिपाने के लिए बहुत बड़े वैभव का अम्बार लगाना उसके लिए आवश्यक था। किन्तु कन्फ्युशियस का साम्राज्य इन सब बातों से परे था। वह वास्तव में दुनिया का सम्राट् था।

हमारे जीवन की जो उपलब्धिया है, हमारे जीवन की जो विशेषताएं है वे हमारी आन्तरिकता में निहित होनी चाहिए और मैं सोचता हूं कि जो ज्ञान केवल दरिद्रता और शक्तिहीनता की दिशा में मनुष्य को ले जाता है, वह ज्ञान ज्ञान नही हो सकता। मैं शक्ति का उपासक नहीं हूं किन्तु शक्ति में बहुत विश्वास करता हूं और यह निश्चित मानता हूं कि जो व्यक्ति शक्तिहीन होता है उसे दुनिया में न्याय पाने का अधिकार कभी नहीं मिल सकता। न्याय उसी व्यक्ति को मिलता है, जिसके हाथ में शक्ति होती है। शक्तिहीन और दुर्बल व्यक्ति न्याय की भीख मांगता फिरे, पर दुनिया में कोई भगवान् भी ऐसा दयालु नही है कि शक्तिहीन को न्याय दे दे। आज तक के इतिहास को आप देखें, न्याय उन्ही लोगों को मिला है जिनके पीछे शक्ति का वरदान रहा है। कमजोर को न्याय देने के लिए न कोई दुनिया में भगवान् पहले आया, न आज आ सकता है, न भविष्य मे आने वाला है। हमारे जितने भी भगवान् हुए हैं, हम जिनको भगवान् मानते रहे

हैं, मानते चले जा रहे हैं, उनके साथ आप शक्ति को काट दीजिए, शक्ति को तोड़ दीजिए, भगवान् अपने आप में पंगु हैं, वे हमारी कभी सुरक्षा नहीं करेंगे और मैं तो यह भी सोचता हूं कि भगवान् भी अपने को इसीलिए भगवान् मान सकता है कि मुझे मानने वाले शक्तिशाली हैं। अगर भगवान् के अनुयायी कमजोर और दुर्बल हों तो भगवान् भी बेचारा किसी बालू की परतों के नीचे दब जाता है। दुनिया जानती भी नहीं है कि भगवान् का कोई अस्तित्व भी है। शक्ति का सूत्र सबसे बड़ा सूत्र होता है। शक्ति के साथ समृद्धि का योग होता है।

मैंने सुना कि आप लोग छात्र भी हैं और शिक्षक भी हैं। मुझे तो यह ठीक जंचा, क्योंकि मैं एक जैन मुनि हूं। जैन मुनि होने के नाते अनेकान्त को मानता हूं और अनेकान्त के साथ-साथ मानवीय चिन्तन की धारा को और सत्य के प्रतिपादन को देखता हूं तो मुझे लगता है कि अगर ये दोनों बातें न हों कि कोई व्यक्ति अगर छात्र भी न हो, शिक्षक भी न हो तो वह कोई तीसरी ही जाति हो सकती है। वह न छात्र हो सकता है और न शिक्षक हो सकता है। कोई भी शिक्षक, जिसमें छात्र होने की पात्रता नहीं है, वह शिक्षक हो सकता है, यह मुझे नहीं लगता।

आचार्य ने बहुत सुन्दर बात कही है। 'शिष्य बनो, गुरु मत बनो।' पूछा, 'क्यों?' होना तो यह चाहिए कि गुरु बनो। बड़ी बात तो गुरु बनना मानी जाती है। परन्तु आचार्य ने उल्टा कहा। आप लोग जानते हैं कि इस दुनिया में संत लोग जितनी उल्टी बातें कहते हैं, कोई पागल आदमी भी नहीं कहता है। उन्होंने उत्तर दिया कि शिष्य के ही शिष्य हो सकते हैं, गुरु के शिष्य नहीं हो सकते। जो शिष्य नहीं है, उसका कोई शिष्य नहीं बन सकता। दुनिया शिष्य का शिष्य बनती है, गुरु का शिष्य कभी नहीं बनती। जो शिष्य नहीं है, शिष्य नहीं रहा है, उसका कोई भी शिष्य नहीं बन सकता। इसलिए शिष्य बराबर बने रहो।

आचार्यश्री तुलसी, जो आज के युग के बहुत बड़े तत्त्ववेत्ता हैं, बहुत बार कहते हैं कि मैं विद्यार्थी हूं। अभी तक वे अपने आपको विद्यार्थी ही

मानते हैं। मैं समझता हूं कि शायद वे जीवन के हर क्षण में अपने आपको विद्यार्थी ही मानते रहेंगे। अपने आपको विद्यार्थी मानना ही विद्या के द्वार को खुला रखना है। जिस दिन हम अपने आपको शिक्षक मान लेते हैं, हम उसी दिन विद्या के द्वार को बन्द कर एक बन्द कमरे में बैठ जाते हैं जहां आगे के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहता।

शिक्षक होना बहुत अच्छी बात है। साथ में छात्र होना भी बहुत अच्छी बात है और मैं समझता हूं कि छात्र पहले होना चाहिए और बाद में शिक्षक होना चाहिए। यहां स्याद्वाद का एक नया उदाहरण सामने आ गया। सर्दी और गर्मी तो एक साथ हो सकती है, प्रकाश और अन्धकार एक साथ हो सकता है, दो विरोधी धर्म एक साथ हो सकते हैं, तो यह भी एक विरोधी युगल का उदाहरण मिल गया—छात्र और शिक्षक। आपके इस 'टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज' में शायद अनेकान्त का यह प्रयोग हो रहा है जहां छात्र भी हो और शिक्षक भी हों। होता है। आपने सुना होगा, कालिदास के पास एक बार एक समस्या आयी। किसी व्यक्ति ने राजा भोज से कहा कि कालिदास ऐसा है कि कोई भी विषय दो, हर बात को शृंगार में ले जाता है। राजा ने सोचा—यह हो नहीं सकता। आज मैं ऐसा कोई उपनिषद् का विषय दूंगा, फिर वह शृंगार में कैसे ले जाएगा? विषय दिया—'अणोरणीयान् महतो महीयान्।' यह वाक्य उपनिषद् का है। इसका अर्थ है—भगवान् अणु से अणु और महान् से महान् होता है। कालिदास को विषय दिया समस्या-पूर्ति के लिए। कालिदास दो क्षण के लिए गंभीर हो गया। फिर बोला—

> 'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं, करेण धृत्वा शपथं करोमि।
> योगे वियोगे दिवसोऽङ्गनाया, अणोरणीयान् महतो महीयान्॥'

—यह परम पवित्र यज्ञोपवीत हाथ में लेकर सौगन्ध खाकर कहता हूं, पत्नी के संयोग में दिन छोटे से छोटा होता है और वियोग में बड़े से बड़ा। यह अनेकान्त का उदाहरण है। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा, दोनों

साथ होते है। तो मैं भी सोचता हूं कि दोनों बातें हमारे जीवन में होनी चाहिए और जो विद्यार्थी आज उत्तीर्ण होने की उपाधि लेने के लिए उपस्थित, है, उनके जीवन में अवश्य फलित होनी चाहिए। दोनों बातें साथ-साथ मे चलें। वे यह न मान लें कि गांधी विद्या मन्दिर से हम बाहर चले गए, हम उत्तीर्ण हो गए, हमें उपाधि मिल गयी और अब हम तो शिक्षक बन गए, विद्यार्थी नही रहे।

मैं कहता हूं कि केवल शिक्षक होना बहुत बड़ा खतरा है। इस खतरे को आप कभी अपने सिर पर मोल न लें। पढ़ते रहें, पढ़ते रहें और अपने विद्यार्थी भाव को सदा बनाए रखें। उससे आपको बहुत बड़ा लाभ होगा। आपको तो उपाधि मिल गयी। हमें तो पढ़ते-पढ़ते इतने वर्ष हो गए, अभी तक किसी ने उपाधि नहीं दी। कुछ भी नहीं मिला। न गांधी विद्या मन्दिर ने दी और न मेरे आचार्य ने दी। किसी ने नहीं दी। आज तक विद्यार्थी ही मानते चले जा रहे हैं। मैं समझता हूं, चलो दुनिया में कुछ तो ऐसा होना चाहिए कि जहां शिक्षक कभी बने ही नही, विद्यार्थी ही बना रहे।

अब आप प्रत्यक्षतः जीवन के संग्राम मे प्रवेश कर रहे हैं। वहां बहुत सारी कठिनाइयां सामने आती हैं। सबसे बड़ी कठिनाई आती है एकांगी दृष्टिकोण की. और मैं मानता हूं कि एकांगी दृष्टिकोण हमारे हर विकास में बाधक बनता है। हमारे सामने दो प्रश्न हैं, एक शाश्वत का और एक सामयिक का। कुछ धार्मिक लोग शाश्वत की बातों से इस प्रकार चिपके बैठे हैं, इतने अड़े हुए बैठे हैं कि दुनिया का भला होगा तो शाश्वत सिद्धान्तों से ही होगा, सनातन सिद्धान्तों से ही होगा। जो हमारे भगवान् हुए हैं, चाहे राम, चाहे कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा आदि-आदि जो भी हुए हैं, उन्होंने जिस शाश्वत सत्य का प्रतिपादन किया, उन्ही के द्वारा हमारा भला होगा, जगत् का कल्याण होगा। एक तो यह शाश्वत की बात। दूसरी ओर हमारे बहुत सारे बन्धु ऐसे है, जो सामयिक सिद्धान्त को लिये बैठे हैं। वे कहते है कि यह परिवर्तनशील संसार है। समाज परिवर्तनशील है। राजनीति परिवर्तनशील है और हमारी सारी विचारणाएं परिवर्तनशील हैं, क्योंकि

सारी विचारणाएं सामाजिक संदर्भ में, परिस्थितियों के परिवेश में, उत्पन्न होती हैं। ये कभी शाश्वत नहीं हो सकतीं। हमने भगवान् को बनाया, हमने भगवान् को पुजाया, हमने भगवान् को महत्त्व दिया, हमने सिद्धान्तों को महत्त्व दिया, वे कभी शाश्वत नहीं हो सकते। सब कुछ मनुष्य ने बनाया है। उसका बनाया हुआ कभी शाश्वत नहीं हो सकता। यह है सामयिक धारा।

इन दोनों धाराओं के बीच में देखता हूं कि कुछ लोग इस खेमे में चले जाते हैं तो कुछ लोग उस खेमे में चले जाते हैं। दो खेमे बन गए हैं—एक शाश्वत वादियों का खेमा और दूसरा सामयिकवादियों का खेमा। ये दो खेमे बन गए। इसी कारण हमारी बहुत सारी समस्याएं आज बीच में ही लटकी हुई हैं। क्योंकि कुछ समस्याएं जो शाश्वत सिद्धान्तों से सुलझने वाली हैं। हमने आग्रह कर उन्हें सामयिकता में ढकेल दिया। और कुछ समस्याएं जो सामयिक संदर्भों में सुलझने वाली हैं, उनको हमने शाश्वत की ओर ढकेल दिया। यह भयंकर उलझन हो गयी और परिस्थिति की जटिलता पैदा हो गयी। आज बहुत सारे पढ़े-लिखे और शिक्षक लोग भी एक आग्रह को लेकर बैठे रहते हैं। वे कहते हैं कि वर्तमान से कुछ होना-जाना नहीं, पुराने ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है, वही सही है।

यह बात जब मैं देखता हूं, मुझे आश्चर्य होता है। पुरानेपन का मोह हमारे भीतर नहीं होना चाहिए। आज आप बीसवीं-इक्कीसवीं शताब्दी में जी रहे हैं। हमारे शास्त्र, हमारे ग्रन्थ, हमारे नियम दो हज़ार, चार हज़ार और पांच हज़ार वर्ष पहले बनाए गए थे। देश का परिवर्तन हुआ है, काल का परिवर्तन हुआ है, हमारी सोचने की क्षमताएं बढ़ी हैं, वैज्ञानिक उपलब्धियां हमारे सामने आयी है, नए ग्रन्थ हमारे सामने आए हैं। उन सब की ओर आंख मूंदकर, केवल अतीत की ओर झांककर हम सब बातों का निर्णय लेना चाहें तो वह एकांगिता सचमुच दरिद्र बना देने वाली है। हिन्दुस्तान जो बहुत बातों में पिछड़ा रहा, इसका कारण मैं यह मानता हूं कि उसने विज्ञान के क्षेत्र में और उपलब्धियों के क्षेत्र में पहल करने की

बात बन्द कर दी । महाभारत से पहले का ज़माना हिन्दुस्तान की उपलब्धियों का जमाना था। नए-नए चिन्तन के आयामों को उद्घाटित करने का ज़माना था और उसमें बहुत कुछ हुआ था । पर इन दो हज़ार वर्षों में तो मुझे लगता है कि द्वार बिलकुल ही बन्द हो गया ।

हिन्दुस्तान बार-बार पराजित हुआ । बाहर के आने वाले लोगों से पराजित हुआ । क्यों हुआ ? क्या यहां कोई लड़ने वाले नहीं थे ? क्या पराक्रमी योद्धा नहीं थे ? पराक्रम की दृष्टि से हिन्दुस्तान की तुलना में दुनिया में बहुत कम योद्धा मिलेंगे । प्राणों की आहुति देने वाले, प्राणों को न्योछावर करने वाले, और प्राणों का विसर्जन करने वाले यहां बहुत मिलेंगे । किन्तु उनका तकनीक विकसित नहीं था । बाहरी लोग लड़ते हैं बारूद से, तो हिन्दुस्तानी लड़ते हैं तलवार से । अब भला तलवार और बारूद का मेल कहां ? अंग्रेजों के पास तोपें थीं, तब यहां बन्दूक आयी । हिन्दुस्तानी लोग—दो-चार नहीं, कई पीढ़ियां—पीछे चलते हैं । यह हारने का क्रम हमारे पराक्रम के अभाव में नहीं हुआ, यह हमारी शक्ति के अभाव में नहीं हुआ, किन्तु विज्ञान के क्षेत्र में पिछड़ने के कारण ऐसा हुआ है । मैं आपसे कहना चाहता हूं कि हमारे मन में अतीत का मोह कभी नहीं होना चाहिए । मैं आपको यह परामर्श कभी नहीं देता कि अतीत से बिलकुल बेख़बर हो जाए । अतीत से हमें पूरा लाभ उठाना है । आज तक जितना विकास हुआ है, उससे पूरा लाभ उठाना है । मैं तो बहुत बार इस भाषा में सोचता हूं कि जो लड़का होता है, वह हमेशा पिता के कंधे पर चढ़कर देखता है । पिता के कन्धे की ऊंचाई तो उसे सहज ही प्राप्त हो जाती है । उसकी ऊंचाई और ज्यादा होती है । हमारे यहां यह मान लिया गया कि शिष्य को गुरु से आगे कैसे बढ़ना चाहिए । गुरु ने जो कह दिया, उससे आगे की बात किसी को कैसे कहनी चाहिए ? मैं ऐसा नहीं सोचता । मैं सोचता हूं कि विनीत शिष्य वह होता है जो गुरु ने कहा, उस बात को और आगे बढ़ा दे । गुरु की कही हुई बात को और अधिक विकसित कर दे, न कि गुरु की बात को रटता ही रहे । जो ऐसा नहीं करता, मैं तो उसे

बहुत विनीत या योग्य शिष्य नहीं मानता।

अभी भी दूसरों का अनुकरण चल रहा है। मौलिकता कम है। हिन्दुस्तान के अध्यापक, हिन्दुस्तान के शिक्षक और प्रशिक्षक इस बात की ओर ध्यान दें कि हमारे शिक्षण की पद्धतियों में मौलिकता आनी चाहिए। दूसरों का अनुकरण और नकल नहीं होनी चाहिए। अनुकरण आखिर अनुकरण होता है।

संस्कृत का बहुत बड़ा कवि माघ एक बार स्नान करने के लिए नदी पर गया। लोटा था पास में। सोचा—कल फिर आना है। चलो, इसे कहीं रेत के टीले में गाड दें, कल काम आ जाएगा। ऐसा किया। किसी ने देख लिया। लोगों ने सोचा, इतना बड़ा कवि है। लोटे को गाड रहा है, अवश्य कोई अर्थ है। दूसरे लोग जो नदी पर आए हुए थे, उन्होंने माघ का अनुकरण किया और स्थान-स्थान पर अपने लोटे नदी में गाड दिए। दूसरे दिन माघ आया। उसने अपने लोटे का स्थान ढूंढना चाहा। किन्तु वह उसे ढूंढ़ नहीं सका, क्यों कि पचासों स्थान एक-से बन गए थे। वह हताश होकर बोला—

'गतानुगतिको लोकः, न लोकः पारमार्थिकः।
गंगायां वालुकामध्ये, गतं मे ताम्रभाजनम् ॥'

—'लोग गतानुगतिक होते हैं। पीछे चलने वाले होते हैं। इनके अनुकरण ने मेरा लोटा और गंवा दिया।'

मुझे लगता है कि हिन्दुस्तान में आज भी अनुकरण की वृत्ति बहुत है। हमें सचमुच दूसरों के आधार पर नहीं, किन्तु अपने आधार पर प्रशिक्षण की योजनाएं बनानी चाहिए। मैंने दिल्ली में यूनिवर्सिटी ग्रांट कमीशन के सचिव श्री नाइक से कहा कि आपका यह जो प्रशिक्षण का क्रम चलता है एक वर्ष का, क्या वह दो वर्ष का नहीं हो सकता? जो विषय चल रहा है, क्या उनके साथ मानसिक विकास और नैतिक विकास के प्रशिक्षण की बात को नहीं जोड़ा जा सकता? आज हमारी बहुत सारी

समस्याओं का कारण है मानसिक दुर्बलता और नैतिक दुर्बलता। उन्होंने मेरी बात को तो स्वीकार किया किन्तु अपनी असमर्थता प्रकट की। उन्होंने कहा, हमारे आयोग के जो बहुत सारे विदेशी लोग हैं, वे जो परामर्श देंगे, सरकार उसे मान्य करेगी। हमारी बात वहीं समाप्त हो गयी।

अन्त में मैं यही कहना चाहूंगा कि शिक्षक अपने उत्तरदायित्व को समझकर राष्ट्र की भावी सम्पत्ति के नैतिक निर्माण में अपना योग दें। वे स्वयं कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होते हुए राष्ट्र को भी उस ओर अभिमुख करें।[1]

---

१. दीक्षान्त भाषण—अध्यापक प्रशिक्षण केन्द्र, सरदारशहर

वर्तमान शिक्षा और जनतंत्र

मानव मननशील प्राणी है। मानव का मस्तिष्क सभी प्राणियों से अधिक विकसित है। वह अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक क्रियाशील है। मानव आवश्यकताओं की गठरी है। उसे इससे भी अधिक विकसित मस्तिष्क की आवश्यकता पड़ी। फलस्वरूप शिक्षा का प्रचलन हुआ।

मानव जीवन का सम्पूर्ण विकास, सर्वोपरि उन्नति, मानव की सुप्त शक्तियों का विकास और उसे समाज के लिए उपयोगी बनाने वाली शक्ति शिक्षा है। सम्पूर्ण जीवन को श्रेष्ठतम ढंग से व्यतीत करने के लिए शिक्षा प्रशिक्षण देती है।

शिक्षा के अभिप्राय व उद्देश्य को व्यक्त करने के लिए विद्वानों ने अनेक प्रकार से प्रयास किया है। पाश्चात्य विद्वान हर्बर्ट के शब्दों में—'चरित्र-निर्माण ही शिक्षा का उद्देश्य है। इस प्रकार का एकमात्र अभिप्राय चरित्र निर्माण है।' इसके अतिरिक्त हर्बर्ट स्पेंसर ने शिक्षा के उद्देश्य के साथ-साथ शिक्षा देने के ढंग को भी स्पष्ट करते हुए कहा—'शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिए कि आत्म-शक्ति का पूरी तरह उद्बोधन और विकास हो। विद्यार्थियों को अवसर देना चाहिए कि वे अपनी बुद्धि से काम लेकर खोज करें और उससे परिणाम निकालें। जहां तक हो, नई बातें उन्हें कम बतलाई जाएं। विद्यार्थियों को प्रेरित किया जाए कि वे स्वयं खोज करें और नयी बातें निकालें। मानव समाज का उत्थान इसी प्रकार हुआ है और संसार के विकास का इतिहास भी इसी बात का साक्षी है।'

शिक्षा के महत्त्व पर विचार किया जाए तो शिक्षा का महत्त्व उसके उद्देश्य की प्राप्ति में ही है। यदि उपयुक्त शिक्षा भली प्रकार दी जाए व समुचित ढंग से ग्रहण की जाए, तो शिक्षा अच्छे समाज के जीवन की कुंजी है। अन्यथा जब शिक्षा अपने उद्देश्य को ही पूरा नहीं कर पाती तो उसका महत्त्व अधूरा रह जाता है। शिक्षा से मानव की अन्तर्निहित प्रतिभा स्फुरण पाकर उसके उच्च व्यक्तित्व के स्वरूप में व्यक्त होती है। उपयुक्त शिक्षा मानव को सफलतापूर्वक जीवन व्यतीत करने के योग्य बनाती है। वह मानव को जीवन-संग्राम के लिए तैयार करती है। शिक्षार्थियों को सभी प्रकार का समुचित विकास कर उन्हें असत् व अन्धकार से सत् व प्रकाश की ओर ले जाने में समर्थ है।

शिक्षित मानव जीवन के हर पहलू को विविक्त कर सम्पन्न करना सीखता है। स्वतन्त्र भारत ने जनतन्त्र शासन-प्रणाली को अपनाया है, जिसमें जन-सामान्य को ही शासन करने के लिए अपने उपयुक्त साथियों का चयन करना पड़ता है। ये उपयुक्त नेता जो जन-सामान्य द्वारा निर्वाचित कर लिये जाते हैं, शासन का कार्यभार चलाते हैं। नेताओं के निर्वाचन में जन-सामान्य को शिक्षित होना आवश्यक है, अन्यथा आदर्श जनतन्त्र के भीड़तन्त्र में परिवर्तित होने का अन्देशा रहता है। बिना शिक्षा के अधिकार एवं कर्तव्यों का ज्ञान, जनमत का निर्माण व राजनैतिक जागृति जन-सामान्य में नहीं आ सकती। जनतन्त्र में अशिक्षा के कारण कुछ समस्याएं उत्पन्न हो जाती है। 'ठीक इसी प्रकार आर्चबिशप ऑफ यार्क द्वारा दी गयी चेतावनी—'अशिक्षित जनतन्त्र सब राज्य-शासन प्रणालियों में खतरनाक है' अक्षरशः सत्य है। जनता अपने अधिकारों व कर्तव्यों के ज्ञान से बहुधा अनभिज्ञ ही रहती है। वह तो 'कोई नृप होउ हमें का हानी' में विश्वास कर लेती है। भारत में अशिक्षा के फलस्वरूप ही देश की प्रगति की चाल धीमी है। भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी जैसी अनैतिकता की महामारियां अशिक्षा के आश्रय में ही पनपती हैं।

भारत में शिक्षा का प्रचलन बहुत प्राचीन काल से है, जबकि वर्गों में

गुरुकुल थे। किन्तु आधुनिक शिक्षा-प्रणाली लार्ड मेकाले की योजनानुसार ब्रिटिश सरकार की देन है। इस शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य केवल ब्रिटिश सरकार के लिए भारत में क्लर्क, लेखपाल आदि तैयार करना ही था। वही शिक्षा आज तक चली आ रही है और शिक्षा भी उसी उद्देश्य को पूर्ण कर रही है। स्वतन्त्र भारत ने तो शिक्षा में नाम मात्र ही परिवर्तन किया, जबकि आमूल परिवर्तन की आवश्यकता थी और अब भी है। आजकल की शिक्षा भारतीयों को केवल सरकारी नौकर ही बना सकती है, व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी नहीं। आज का स्नातक, जिसने कृषि विज्ञान में शिक्षा पायी है, वह भी अपनी शिक्षा का उपयोग कृषि के रूप में नहीं कर, नौकरी के रूप में करना चाहता है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अनुपयुक्त, दोषयुक्त परीक्षा प्रणाली, विद्यार्थियों के स्वास्थ्य का ह्रास, शिक्षा की अव्यावहारिकता, नैतिक बल का उत्तरोत्तर अभाव व अंग्रेजी माध्यम आदि-आदि दोषों से प्रेरित है।

शिक्षा में आमूल परिवर्तन करने में ही देश का कल्याण है, क्योंकि वर्तमान शिक्षा स्वतन्त्र भारतीय परिस्थितियों के प्रतिकूल है। आजकल स्कूल व कॉलेज रूपी टकमाल सस्ते सिक्के रूपी स्नातक तैयार करते हैं, जिनका जीवन-रूपी बाजार में कोई मूल्य नहीं है। शिक्षा प्रणाली में क्रांति की आवश्यकता है और इसी पर भारत का उज्ज्वल भविष्य और निर्मल राष्ट्रीयता का उदय निर्भर है।

शिक्षा में पुस्तकीय ज्ञान को महत्त्व न देकर व्यावहारिक पक्ष को महत्त्व देने के लिए उसी ढंग से उसका निर्माण होना चाहिए। जीवन को उच्च आदर्शों से पूर्ण और भारतीय संस्कृति के अनुकूल बनाने वाली शिक्षा की योजना होनी चाहिए। शुद्धाचरण, आत्मगौरव, स्वावलम्बी, कर्तव्य-परायण और कर्तव्याकर्तव्य का विवेक जागृत करने वाली ही वास्तव में शिक्षा है। वर्तमान शिक्षा में धन व समय का दुरुपयोग होता है, वह न हो। शिक्षा में मितव्ययिता हो।

इस प्रकार शिक्षा के आमूल परिवर्तन में ही कल्याण निहित है।

सहयोग दिया था। आज भी हमारे सामने दो लड़ाइयां प्रमुख हैं—

१. आर्थिक स्वतन्त्रता की, और

२. नैतिक स्वतन्त्रता की।

इन स्वतन्त्रताओं के लिए शिक्षकों को लड़ाई लड़ना है और उनके लिए उपयुक्त अवसर है। आज समाज में जो यह अनिष्ट प्रवाह बह रहा है, उस प्रवाह को रोकना है। मैं मानता हूं, शिक्षकों के सामने अर्थ की, लड़कियों की शादी करने की, दहेज देने की, आदि अनेक समस्याएं हैं। क्योंकि शिक्षक आकाश में नहीं रहता, वह समाज म रहता है और वह उस समाज से सम्बन्ध भी विच्छेद नही कर सकता। वह भी यथार्थ को भुगतने वाला शिक्षक है। हमारी और उसकी समस्याएं समान हैं। किन्तु एक बात अवश्य है कि जो व्यक्ति विचार-जगत् में जीता है, जिसका वातावरण ज्ञानमय है और जो बौद्धिकता के क्षेत्र में रहता है, यदि वह चाहे तो नए मोड़ के लिए समाज को उसकी ओर प्रेरित करे और उसमें एक ऐसी वैचारिक-क्रान्ति लाए, जिससे समाज में एक नया वातावरण आए। इस कार्य को शिक्षक आसानी से कर सकता है।

जिज्ञासा

आज दुनिया में जितना विकास हुआ है वह सारा जिज्ञासा द्वारा हुआ है। जब मनुष्य में जिज्ञासा नहीं होती, जानने की इच्छा नहीं होती, कोई विकास नही हो सकता। यह जिज्ञासा का बीज जब अंकुरित होता है, अन्य विकास के लिए सारे द्वार खुल जाते हैं। मनुष्य जानना चाहता है, अपने सुख के लिए, अपने विकास के लिए और अपनी उन्नति के लिए। अज्ञानी मनुष्य ने इस दुनिया में कुछ नहीं किया और यदि कियातो बुरा काम किया। यदि किया तो मनुष्य को नीचे गिराने वाला काम किया। मनुष्य की आंखें फोड़ने का काम किया। प्रकाश वह नहीं फैला सकता जो अज्ञानी है। हम जानते हैं कि प्रकाश के कितने आयाम हमें चाहिए। सूर्य प्रकाश देता है। जिस व्यक्ति के आंख नही है, उसके लिए सूर्य के प्रकाश का क्या अर्थ? उसके लिए सूर्य के प्रकाश का क्या मूल्य? सूर्य का प्रकाश हो, चाहे न हो, कोई अन्तर नही आता, जिसके आंख नही है। बाह्य को देखने के लिए सूर्य का प्रकाश चाहिए और उसके साथ-साथ आंख का प्रकाश भी चाहिए दोनों प्रकाश हों, तब काम चल सकता है। हमारे बहुत सारे ग्रन्थ, बहुत सारे सिद्धान्त और बहुत सारे शास्त्र प्रकाश देते है परन्तु जिसकी बुद्धि में ग्रहणशीलता नही है, उसके लिए कोई अर्थ नही है शास्त्र का, ग्रन्थ का और सिद्धान्त का। इसीलिए एक संस्कृत कवि ने लिखा है—

'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम्?
लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणः किं करिष्यति?'

—जिसकी अपनी प्रतिभा नहीं है, बुद्धि नहीं है, उसके सामने हज़ार पुस्तकें लाकर रख दीजिए, कोई अर्थ नहीं होता। जिसके चक्षु नहीं है, उसके सामने दर्पण लाकर रख दें, कोई फायदा नहीं। सबसे मूल बात है अपनी ज्योति और अपनी ज्योति के साथ सूर्य की ज्योति और फिर शास्त्र की ज्योति। तब हम देख सकते हैं, जान सकते हैं और अपनी जिज्ञासा को बढ़ा सकते हैं।

एक रोगी डॉक्टर के पास आया। आंख की शिकायत थी। वह बोला—'डॉक्टर साहब ! दिखाई नहीं देता। कुछ इलाज कीजिए।' सामने बोर्ड पर अक्षर लिखे हुए थे। डॉक्टर ने कहा—'पढ़ो, उस पर क्या लिखा है ?'

रोगी : डॉक्टर साहब ! अक्षर दिखाई नहीं देते।

डॉक्टर : बोर्ड की ओर देखो।

रोगी : किन्तु मुझे बताइए कि बोर्ड कहां है ?

डॉक्टर . सामने भित्ति पर।

रोगी : भित्ति कहां है ?

डॉक्टर ने कहा—'अब तुम चले जाओ। तुम्हारा इलाज होने वाला नहीं है। अक्षर दिखाई न दे तो कोई बात नहीं, बोर्ड भी दिखाई न दे और भित्ति भी दिखाई न दे तो तुम्हारा इलाज कैसे हो सकता है ?

इस दुनिया में बहुत सारे लोग ऐसे होते हैं जो अक्षर तो क्या, भित्ति भी नहीं देख पाते ! जिसकी ज्योति इतनी क्षीण नहीं है, उसमें ज्योति का प्रत्यारोपण शायद डॉक्टर भी नहीं कर सकता। आंख का प्रत्यारोपण हो सकता है परन्तु ज्योति के प्रत्यारोपण की कोई भी प्रक्रिया अभी हमारे सामने नहीं आयी है। तो आज सबसे पहले हमारे भीतर जिज्ञासा को जागृत करने की जरूरत है। बड़ी कठिनाई है हमारे जानने की। और हम लोग बहुत संतोषी हैं। बहुत थोड़ा-सा जान लेते हैं तो हम मान लेते हैं कि हमने बहुत देख लिया और बहुत समझ लिया। किन्तु मैं आपको आज एक बात से सावधान करना चाहता हूं कि थोड़ा-सा जानकर आप अपने

को यह न समझें कि मैंने बहुत जान लिया। थोड़ा-सा मानकर आप यह न समझें कि मैंने बहुत मान लिया। अगर इस भूल को हम मिटा सके तो हमारी सारी जिज्ञासा के द्वार खुल जाते हैं और जिज्ञासा अनन्त हो जाती है। कहीं उसका अन्त नहीं आता। जो आदमी थोड़ा भी जानने का प्रयत्न करता है, उसकी जिज्ञासा बढती ही चली जाती है। जैन दर्शन एक ऐसा द्वार है जो कभी बन्द नहीं होता, एक ऐसा रास्ता है जिसका कभी अन्त नही होता। आप देखिए कि जानने का विषय हमारे सामने कितना है? एक कपड़ा मेरे हाथ में है। छोटा-सा कपड़ा है। जो कहता है कि हमने कपड़े को जान लिया तो मैं समझता हूं कि वह सर्वज्ञ है। उसने सारी दुनिया को जान लिया। इस छोटे-से एक कपडे को जानने का अर्थ है सारी दुनिया को जान लेना और सारी दुनिया को जानने वाला ही इस एक कपड़े को जान सकता है। आपके मन मे प्रश्न हो सकता है किन्तु मैं आपसे कहता हूं कि अणु के अनन्त पर्याय होते हैं। हम कितने पर्यायों को जानते हैं? बड़ी मुश्किल से कोई दो पर्याय, दस पर्याय या बहुत बड़ा विद्वान् हुआ तो सौ पर्यायों को जान सकता है। एक आचार्य ने एक ग्रन्थ लिखा है, उसका नाम है—अष्टलक्षार्थी। एक अनुष्टुप श्लोक के एक चरण में आठ अक्षर होते हैं। वे आठ अक्षर हैं—'राजा नो ददते सौख्यम्'। आचार्य ने अपनी दिव्य प्रतिभा के द्वारा आठ अक्षरों के आठ लाख अर्थ किए। दो-चार नहीं, आठ लाख अर्थ। इसीलिए ग्रन्थ का नाम है अष्टलक्षार्थी। उन्होंने लिखा है कि एक अर्थ के अनन्त पर्याय होते हैं। अगर बहुत बड़ा विद्वान हो तो इन आठ अक्षरों के आठ करोड़, आठ अरब, आठ खरब अर्थ कर सकता है। किन्तु मेरी इतनी प्रतिभा नहीं है इसलिए मैंने आठ लाख अर्थ ही किए हैं। अनन्त अर्थ किए जा सकते हैं। फिर आप देखिए कि ज्ञान का अन्त कहां है? जो लोग थोड़ी-सी बात जान लेते हैं, उनके सामने अगर कोई नयी बात आ जाती है तो वड़ी उलझन में पड़ जाते है। उलझन क्यों? किसलिए? मैं तो बहुत वार आश्चर्य की मुद्रा में कहता हूं कि हम लोग अपने को सर्वज्ञ मान बैठते हैं। हम सोचते हैं कि हमने

सब कुछ जान लिया, अब कुछ जानने को शेष नहीं रहा। कितना बड़ा अज्ञान है यह ! आदमी को ज्ञान के क्षेत्र में इतना जिज्ञासु और इतना विनम्र रहना चाहिए कि अभी हमने कुछ भी नहीं जाना। जानना तो सारा का सारा शेष है। मनुष्य समुद्र के किनारे खड़ा है। ज्ञान का समुद्र सारा का सारा तैरने के लिए उसके सामने पड़ा है।

एक व्यक्ति बीमार हो गया। दही का बड़ा शौकीन था। वह बीमारी मे भी उसे नही छोड़ता था। परन्तु दही और खांसी दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। वैद्य आता है। दवा देता है और कहता है कि दही का परहेज रखना, दही मत खाना। रोगी कहता है—'मुझसे ऐसी बात मत करो। मैं दही नहीं छोड़ सकता।' एक वैद्य बड़ा अनुभवी था। उसने पूछा—आपको खांसी आती है ?

रोगी—हां, खासी आती है।

वैद्य—क्या उपचार किया ?

रोगी—क्या उपचार करूं ? जो भी आता है, कहता है कि दही मत खाना। बिना दही खाए मैं रह नहीं सकता। इसलिए बात बनती नही।

वैद्य—मैं आपको सलाह देता हूं कि आप दवा भी खाएं और दही भी खाएं, आप दही जरूर खाएं।

रोगी—आप बहुत अनुभवी हैं। अगर आप पहले आ गए होते तो मेरी खासी कभी ठीक हो जाती। वैद्यजी ! कारण क्या है कि सब दही खाने के लिए मना करते हैं और आप दही खाने के लिए कहते हैं ?

वैद्य—वे अनुभवी नहीं थे। एक दही के कितने रूप होते हैं वे नहीं जानते। दही को मथ दिया तो खाने में दोष नहीं। किन्तु मैं आपको कहता हूं कि दही खाना चाहिए, मथा हुआ नहीं। कम से कम आपको ये तीन लाभ तो होंगे ही—

'कासे दध्नो भोजनेन, लाभाः सन्ति त्रयो ध्रुवम्।
न वार्धक्यं न वा चौर्यं, न श्वा भक्षयति क्वचित्॥'

पहला—खांसी में दही खाने वाला कभी बूढ़ा नहीं होता।

दूसरा—खांसी में जो दही खाता है उसके घर कभी चोरी नहीं होती।

तीसरा—खांसी में जो दही खाता है उसको कभी कुत्ता नहीं काटता।

रोगी ने तीनों बातों को सुनकर तत्काल कहा, 'अब मैं दही नहीं खाऊंगा।' वैद्य ने कहा, 'नहीं आपको खाना चाहिए।' रोगी ने कहा—'नहीं, कभी नहीं।'

कितने आश्चर्य की बात है! जब वैद्य नही खाने की सलाह देते थे तब खाता था और जब खाने की सलाह दी जा रही है तो इन्कार हो रहा है। आप लोग कहानी का आशय समझ गए होंगे। बुढ़ापा किसको आए जब पहले ही चल बसे। चोरी कैसे हो जब दही खाने वाला सारी रात खांसता रहे। खांसी में दही खाने वाला बिना लाठी के सहारे चल नही सकता और जब हाथ में लाठी है तो कुत्ता कैसे काटेगा?

एक चीज के अनेक पर्याय होते हैं। दही क्या, संसार मे नगण्य से नगण्य वस्तुओं के पर्यायों की ओर ध्यान दें तो उनकी दिव्यता, उनकी सार्थकता का पता हमें चलता है, जिसकी हम कल्पना भी नही कर सकते।

मुझे लगता है कि आपने जैन धर्म को नही समझा। आप मुझे क्षमा करें। आप साठ-साठ, अस्सी-अस्सी वर्ष के हो गये, पचासों-पचासों थोकड़े जबानी कण्ठस्थ है और सामायिक में उनका स्वाध्याय भी करते हैं और मैं कहता हूं कि आपने जैन धर्म को समझा नही। शायद आपको बुरा लग सकता है, अप्रिय लग सकता है किन्तु आप मेरी बात को समझें। हमने जैन धर्म की गहराई में जाने का कभी प्रयत्न नहीं किया, बिलकुल नही किया। एक जैन व्यक्ति थोड़े से भी नए पर्यायों का उद्घाटन होने पर अपने दिमाग के संतुलन को खो देता है। अपने आपको अस्त-व्यस्त कर लेता है और अपनी अल्पज्ञता को छोड़ यह सिद्ध करना चाहता है कि इनके

आगे और कुछ विशेष नहीं है । मैं समझता हूं कि इससे अजीब और कोई वस्तु हो ही नही सकती । जैन धर्म का इससे बड़ा विरोधी और कोई हो नहीं सकता । भगवान् महावीर ने वस्तु के अनन्त धर्म का प्रतिपादन किया। शायद हिन्दुस्तान के क्षितिज मे एक महावीर ही ऐसे व्यक्ति हुए जिन्होंने यह बताया कि हर वस्तु के अनन्त पर्याय होते हैं, अनन्त गुण होते है, अनन्त विरोधी युगल होते हैं । यह कपड़ा नित्य भी है और अनित्य भी है । यह कपड़ा है भी और नही भी । भगवान् महावीर ने दो विरोधी बातें एक वस्तु में प्रतिपादित की है । भगवान् ने कहा—आग ठण्डी भी है, गर्म भी । आदमी अच्छा भी है, आदमी बुरा भी है । आज तक इस दुनिया में कोई भी आदमी ऐसा नही जन्मा होगा कि जो अपने जीवन के कुछ क्षणों में डाकू नही रहा हो और आज तक दुनिया के इतिहास में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जन्मा होगा जो अपने जीवन के कुछ क्षणों में परम साधु नहीं रहा हो । जो डाकू रहा है, वह साधु रहा है और जो साधु रहा है वह डाकू रहा है ।

अच्छाई और बुराई का संगम, प्रकाश और अन्धकार का संगम, सत् और असत् का संगम हर वस्तु में अनन्तकाल से चला आ रहा है और इसी प्रकार चलता रहेगा । यह था भगवान् महावीर के विरोधी युगलों का संगम, विरोधी युगलों के अस्तित्व के दर्शन का संगम । किन्तु शायद हमने नहीं समझा । कोई भी बात सामने आती है, टकराव मालूम देता है । हम सोचते हैं कि अरे ! हम तो ऐसा मानते आए हैं और यह कैसे हो गया ? मैं नहीं समझता कि इसमें विरोध क्या है ? इसमें कठिनाई क्या है ?

सर्दी का मौसम आ रहा है । मां बच्चे को गर्म कपड़ा पहनने के लिए कहेगी । चार महीने बाद सर्दी चली जाएगी, फिर गर्मी आएगी । गर्म कपड़ा सन्दूक में रख दिया जाएगा । सूती कपड़ा पहनने के लिए कहा जाएगा । अब कोई बच्चा सोचे कि चार-पांच महीने पहले गर्म कपड़ा पहनने के लिए कहा गया था, अब सूती पहनने के लिए कहा जा रहा है । अच्छा तो हो कि एक बार जो पहन लिया, सो पहन लिया । जब तक शरीर न छूटे, तब तक न खोले । ऐसी समझदारी यदि

मनुष्य में होती तो बहुत ही समझदार होता मनुष्य इस दुनिया का। परन्तु समझदारी कहां ? लोग मूर्ख है, जो आज करते हैं, कल छोड़ देते हैं, कल करते हैं वह एक महीने बाद छोड़ देते हैं, महीने बाद करते हैं वह एक वर्ष बाद छोड़ देते है। छोड़ते ही चले आए हैं और छोड़ते न आए होते तो आज जो ये बड़े-बड़े मकान दिखायी देते हैं, उनके स्थान पर केवल झोंपड़िया दिखायी देतीं। मनुष्य नए को स्वीकारता है, पुराने को छोड़ता चला जाता है और जो रखने को होता है, उसे रखता चला जाता है। यह है हमारी जिज्ञासा का द्वार। यह है हमारी जिज्ञासा के परिणामों का प्रयत्न और उसकी परिणति।

आज इसीलिए मैं आपसे कहना चाहता हूं कि यदि मन में सत्य की थोड़ी-सी भी ज्योति प्रज्वलित है तो फिर से जिज्ञासा की ओर सोचना होगा। वेदान्त का प्रारम्भ बादरायण करते हैं इस सूत्र के द्वारा—'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'। अर्थात यहां से ब्रह्म की जिज्ञासा प्रारम्भ होती है। ब्रह्म जो छोटा नहीं है। संस्कृत में ब्रह्म का अर्थ होता है—व्यापक और विराट्। उन्होंने जिज्ञासा की और ब्रह्म का ज्ञान मनुष्य को मिला। आप मीमांसा दर्शन में देखिए। आपको मिलेगा—अथातो धर्मजिज्ञासा। अर्थात् यहां से धर्म की जिज्ञासा शुरू होती है। आप जैन-दर्शन को लीजिए। आपको मिलेगा—पढमं नाणं तओ दया। पहले ज्ञान, बाद में आचरण। पहले जानो और फिर करो। जानोगे नही तो करोगे क्या ? लेकिन आज ऐसा हो रहा है। लोग पचीसों वर्षों से प्रतिक्रमण करते आ रहे हैं। उनसे पूछा जाए यह प्रतिक्रमण आखिर है क्या ? शायद बहुत सारे लोग नहीं जानते होंगे। बहुत से लोग तो 'परकुणों' कहते हैं। 'परकुणों' का अर्थ कुछ भिन्न होता है। कुछ प्राकृत जानने वाले पडिक्कमण कह देते हैं। संस्कृत में प्रतिक्रमण कह देते हैं। उनसे पूछा जाए कि आखिर में यह प्रतिक्रमण है क्या ? 'यह तो हमें नही मालूम'—यही उत्तर मिलेगा। अरे ! दस-दस, बीस-बीस वर्ष हो गए प्रतिक्रमण करते और आपको यह पता नहीं है कि प्रतिक्रमण क्या है ? क्यों करते जा रहे हैं ?

पुरानी बात है। एक भाई आया। उसे खीर परोसी गयी खाने को। खीर में नोजे-पिस्ते पड़े हुए थे। भाई ने कहा—यहां के लोग कितने गंवार हैं ? कितने प्रमादी और आलसी हैं ? इन्हें यह भी पता नहीं कि खीर में कितनी लटें पड़ी हुई हैं ? उसने तत्काल खीर से नोजे-पिस्ते निकालकर फेंक दिए और खीर खा ली। यह था समझदारी का खेल। यह सचमुच उन लोगों की गति होती है जो करते जाते हैं परन्तु समझते नहीं कि क्या करते हैं ? खाते हैं परन्तु पता नहीं कि क्या खा रहे हैं ? प्रतिक्रमण की बात तो दूर, बहुत सारे लोग तो नवकार मन्त्र का शुद्ध उच्चारण भी नहीं कर पाते। उन्हें जिज्ञासा भी पैदा नहीं होती कि नवकार का अर्थ क्या होता है ? यह सारा क्रम इसलिए चलता है कि उनमें जिज्ञासा का अभाव है।

यदि आप कुछ प्राप्त करना चाहते हैं तो अपने मन में जिज्ञासा का भाव जागृत करें। जानना और जानना। यदि जानने की भावना जागृत होती है तो मनुष्य सो नहीं सकता। हमारे यहां ऋषि कणाद हुए हैं। वे वैशेषिक दर्शन के संस्थापक थे। उनमें इतनी प्रबल जिज्ञासा जाग गयी कि मार्ग में भी वे पढ़ते जाते। उन्हें कुछ दिखायी ही नहीं देता था। गड्ढा आता तो उसमें गिर जाते थे, उन्हें पता ही नहीं पड़ता था कि क्या आया है ? आखिर सरस्वती ने सोचा—यह मेरा वरदपुत्र है। उसने कृपा करके उनके पैरों में आंख लगा दी ताकि पैरों से देखकर चलें। इसीलिए उनका नाम अक्षपाद पड़ा।

मैं नहीं कहता कि आप कणाद बन जाएं। क्योंकि आप लोगों को रोटी कमाना है, परिवार चलाना है। मैं यह भी नहीं कहता कि आप लोग कणाद की तरह चलें। पर पांच मिनट का समय तो जिज्ञासा के लिए निकालिए ही।

आपने चातुर्मास पूरा कर लिया। आचार्यश्री भी प्रस्थान करने वाले हैं। केवल दो दिन शेष हैं। आपने अपने को धन्य मान लिया और वास्तव में धन्य मानने वाली बात भी है। एक महापुरुष का सम्पर्क, सान्निध्य धन्य

बनाने वाला होता ही है। किन्तु यह धन्य तो उनकी ओर से है या आपकी ओर से? यह उनकी ओर से आने वाली धन्यता है। आपकी ओर से भी धन्यता उनके साथ जुड़नी चाहिए और वह है जिज्ञासा का विकास। जिज्ञासु व्यक्ति को किसी की सलाह की आवश्यकता नहीं होती। चार महीने के सहवास में थोड़ी भी जिज्ञासा नहीं जागी तो वह धन्यता पूरी नहीं होगी और चातुर्मास का जितना लाभ और फल मिलना चाहिए उतना नहीं मिलेगा।

लाडनूं के लिए यह विशेष सौभाग्य की बात है कि यहां जैन विश्व-भारती की स्थापना हो रही है जो कि हमारी चिर-जिज्ञासाओं को प्रज्ज्वलित और समाहित करने का बहुत बड़ा अनुष्ठान होगा। हजारों-हजारों वर्ष पूर्व हमारे ऋषि-महर्षियों एवं विद्वानों तथा साधकों के लिए संचित अनुभव ग्रन्थराशि में पड़े हुए हैं। उनको पढना-पढ़ाना और शोध करना इतना बड़ा भगीरथ प्रयत्न लाडनूं की इस पुण्यभूमि में होने जा रहा है। इसलिए दूसरों में जिज्ञासा हो या नहीं किन्तु लाडनूं के लोगों में तो जिज्ञासा होनी ही चाहिए। जिस दिन हमारी जिज्ञासा जागृत हो जाएगी, उस दिन यह अन्धकार टिकने वाला नहीं है।

कहा गया है—

अज्ञानं खलु कष्टं, क्रोधादिभ्योपि सर्व पापेभ्यः।
अर्थं हितमहितं वा, न वेत्ति येनावृतो लोकः॥

सबसे बड़ा पाप क्या है? क्रोध, अभिमान, दूसरों को ठगने की वृत्ति। नहीं, ये तो छोटे पाप है। फिर सोचा, सब पापों का पाप है— अज्ञान। कोई भी ज्ञानी आदमी क्रोध नहीं करता। मन्त्री मुनि विराज रहे थे। मैं वंदना करने गया। उन्होंने कहा—कभी मान मत करना, क्योंकि हम तो साधु हैं, रोटी के लिए भी दूसरों के सामने हाथ पसारते हैं। फिर अभिमान किस बात का? मैं जब भी उनके पास जाता, हमेशा कुछ न कुछ शिक्षा देते थे। उनकी इस बात का मेरे जीवन पर बहुत बड़ा

प्रभाव पड़ा।

अज्ञान के कारण ही लोग क्रोध करते है, मान करते हैं। आप पूछेंगे कि क्या पढ़े-लिखे लोग मान नहीं करते ? मैं कब कहता हूं कि पढ़े-लिखे लोग क्रोध नहीं करते। वे तो शायद और अधिक करते होंगे। मैं पढ़े-लिखे की बात नहीं, ज्ञानी आदमी की बात कर रहा हूं। ज्ञानी का मतलब पढ़ा-लिखा नहीं, पुस्तकों का भार ढोने वाला नहीं। ज्ञानी वह है जिसने अपने आपको समझ लिया। ज्ञानी आदमी कभी क्रोध नहीं करता, अभिमान नहीं करता। कोई पढा-लिखा हो या नहीं हो, मुझे कोई कठिनाई नहीं है। आज तो ऐसे यन्त्रो का आविष्कार भी हो गया है जो सोते समय सिर मे लगा दिए जाते है तो पांच-छः महीने मे किसी भी भाषा का ज्ञान सुगमतापूर्वक हो सकता है। ज्ञान का मतलब है अन्तर् की अनुभूति का विकास। यह ज्ञान पढ़े-लिखे और बिना पढे-लिखे दोनों के लिए जरूरी है। आप अपने अन्तर् में जिज्ञासा को जागृत करें, फिर अपने आप सब कुछ हो जाएगा।

बलिदान बलिदान को जगाता है

बात बहुत पुरानी है। उस समय ब्रिटिश साम्राज्य का शासन था। दिल्ली में सिखों का गुरुद्वारा बन रहा था। ब्रिटिश सरकार नहीं चाहती थी कि वहां गुरुद्वारा बने। वहां एक चर्च था। सिखों का निर्णय था कि वहां हमारे गुरु आए हैं और उनकी स्मृति में गुरुद्वारा बनाना है। इधर सरकार का पूरा नियंत्रण था। एकछत्र शासन चलता था। इधर सिखों का प्रण था अटूट। सत्ताधारी अपना अहं बनाए रखना चाहते थे। आदेश हुआ कि कोई भी व्यक्ति इस स्थान में आएगा तो उसे गोली से उड़ा दिया जाएगा। गोली का आदेश हो गया, किन्तु आप जानते है कि गोलिया हमेशा उन्ही व्यक्तियों को डराती हैं जो कि जीना चाहते हैं, यानी मरते हुए जीना चाहते है। जीकर जीना एक बात है, मरकर जीना दूसरी बात है। वह बहादुर जाति थी हिन्दुस्तान की। वह डरने वाली नहीं थी। सिखों ने निर्णय किया कि पाच सिख हमेशा जाएंगे बलिदान देने के लिए। पांच सिख आए, गोलियां चलीं, पांचों ही समाप्त हो गए। दूसरे दिन फिर एक टोली आयी पाच सिखों की। तीसरे दिन आयी, चौथे दिन आयी, पांचवें दिन आयी। रोज पांच बलिदानी सिख आते रहे और प्राणों की आहुति उस पवित्र लक्ष्य के लिए चढ़ाते रहे। पचास दिन बीते। ढाई सौ सिख बलिदान हो चुके थे। सरकार कांप उठी। सारा ब्रिटिश साम्राज्य कांप उठा। सरकार ने सोचा कि यदि यही क्रम रहा तो जनता में क्रान्ति हो जाएगी। आखिर सरकार ने स्वयं आदेश दिया कि गुरुद्वारा बनाया जाए। कितनी बड़ी

हो सकता है जब आम पूरा पका हो। फल के पूरे पकने के बाद ही परिणाम की सही जानकारी हो सकती है। इन स्थितियों से हमें यह स्पष्ट हुआ कि लोग यह मानते थे कि आचार्यश्री का जो समाज है वह भीरु समाज है, डरपोक समाज है, कायर समाज है। यह बात अगर परीक्षा की घड़ी नहीं आती तो यह भ्रान्ति बनी की बनी रहती। दूसरे यह कि समाज अपने पैरों पर खड़ा होने में समर्थ नहीं है। यह भ्रान्ति भी रह जाती। अनेक बार ऐसी स्थितियां आईं, उनमें लगा कि सहयोग मिलने वाला नहीं है। उन्होंने इतने आत्मविश्वास के साथ संकल्प किया कि कुछ भी नहीं मिले, हम अपने पैरों पर खड़े होंगे। अपना सारा काम हाथ से करेंगे और यह बड़प्पन की बात, जैसा कि दोपहर मे आचार्यवर ने कहा था कि इस सेठाई की बात को बिलकुल तिलांजलि दे दो, और भी न जाने कितने तथ्य सामने आ रहे हैं, पूरी व्याख्या व विश्लेषण मैं नहीं करूंगा, अभी प्रसंग दूसरा है। मैं आचार्यवर के प्रति अपनी भावना व्यक्त करता हूं। उन्होंने इस घटनाक्रम में जिस दूरदर्शिता से और जिस नैतिकता के औचित्य के आधार पर कार्य किया वह प्रशंसनीय है। नेता को जिस समय में जो काम करना चाहिए उस काम को करने मे उन्होंने जो कुशलता प्रदर्शित की, सचमुच वह समूचे अहिंसक समाज के लिए एक आदर्श रेखा है।

तेरापंथ समाज ने अभय एवं शक्ति का परिचय दिया, सचमुच यह साधुवाद का पात्र है।

समाज में सारे के सारे लोग अभय नहीं होते और सारे के सारे लोग कायर नहीं होते। ऐसी विकट परिस्थितियों में निडर लोग यदि समाज का नेतृत्व करते हैं, तो मैं समझता हूं, वे अपने समाज की नींव को और गहरे गाड़ देते हैं। समाज उनसे चमकता है। विकसित होता है। वर्तमान की घटित घटनाओं के सन्दर्भ में कुछ व्यक्तियों ने ऐसा ही किया। समाज उनके नेतृत्व को कभी नहीं भूलेगा। उनका बलिदान लाखों मे बलिदान की भावना जगाएगा—यही विश्वास है।[1]

१. बीदासरवासियों के लिए चूरू स्वागत समिति द्वारा आयोजित स्वागत समारोह में ३१ अगस्त की रात्रि को दिया गया भाषण।

योग का मर्म

आप यह जानते है कि मनुष्य के पास अनन्त शक्तियां हैं। वह शक्तियों का एक बहुत बड़ा खजाना है। शक्ति होना एक बात है, शक्ति का प्रगट होना दूसरी बात है। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके पास धन होता है पर उन्हें पता नहीं होता कि उनके पास धन है। वे अज्ञान में रहते हैं। वे जान नहीं पाते। ऐसी बहुत सारी घटनाएं सुनने में आती हैं कि घर में धन के खजाने गड़े पड़े रहे और घर के स्वामी भीख मागते रहे। इसका मूल कारण है—अज्ञान। कुछ लोग ऐसे हैं जो यह जानते हैं कि उनके पास धन है, फिर भी वे उपयोग नही कर पाते। इस दुनिया में वे कृपण कहलाते है, कंजूस कहलाते हैं। इस दुनिया में कंजूसों की कमी नही है। ऐसे लोग है, ऐसे भीखमंगे हमने देखे हैं कि जिनके मरने के बाद पचास हजार, लाख रुपये उनके पास निकले और जीतेजी रोटी मांगकर खाते रहे और ऐसी रोटी खाते कि जिसे मक्खियां और कुत्ते भी शायद पसन्द न करें। ऐसे भी लोग होते हैं। यह दुनिया बड़ी विचित्र है। ऐसा संग्रहालय है कि अजीब-अजीब बातें जितनी होती हैं वे सारी दुनिया मे घटित होती हैं। ऐसे लोग भी होते हैं। आप मत मानिये कि कुछ ही लोग होते हैं। मैं जिस बात की चर्चा कर रहा हूं, इस मामले में बहुत सारे व्यक्ति मिलेंगे और इस सूची में आपका व मेरा भी नाम आ सकता है। क्यों नहीं आएगा? क्योंकि हम भी अपनी शक्तियों से अपरिचित हैं। हम नहीं जानते, हमारे भीतर क्या है, हमारे इस छोटे-से मस्तिष्क में क्या है, हम नहीं जानते। हमारे मन में क्या

है, हम नहीं जानते और हमारे मन के भीतर एक सोया हुआ मन है उसके भीतर क्या है, हम नही जानते। आजकल बहुत प्रयत्न करने वाले भी पूरी तरह नहीं जानते। हमारे शरीर के भीतर क्या है, हम नहीं जानते। मन के भीतर क्या है, उसे भी नहीं जानते।

अज्ञान के कारण हम अपनी शक्तियों से अपरिचित हैं। कुछ-कुछ जाना है जिन लोगों ने, वे भी प्रमाद के कारण उसका उपयोग नहीं कर रहे हैं। या तो उनके पास समय नहीं है, या प्रमाद है, या और कुछ है कि वे अपनी शक्तियों को जानते हुए भी उनका प्रयोग नही करते, काम में नहीं लेते। तो ऐसे लोग भी हैं।

योग का मतलब है अपनी शक्तियों को जानना, काम में लेना और ठीक देश-काल मे काम में लेना, ठीक उपायों से काम में लेना। अगर ठीक समय पर हम काम में नहीं लेते हैं तो हमारा काम होगा नही। घर में गाय है। गाय को बांध दी। पर गाय दूध अपने आप तो नहीं देगी। अपने आप देती है वह कुछ और होता है। या तो गोबर होता है या गो-मूत्र होता है। *दूध अपने आप नही देती। हम यह जानना पड़ता है कि दूध कैसे दुहा* जाता है।

आपने कहानी सुनी होगी पुराने जमाने की। एक प्रदेश था, जहां गाय नहीं होती थी। वहा गाय लायी गयी। राजा ने कहा—'वह जो दे, वह ले आना।' आदमी ने जाकर बर्तन रख दिया। गाय ने मूत्र किया। गोमूत्र से बर्तन भर गया। राजा ने सूंघा। वह छी:-छी: करने लगा। उसने सोचा—गाय की कैसे प्रशंसा कर दी? फिर दूसरी बार स्वर्ण का थाल भेजा। दूसरी बार गोबर मिला। राजा ने चखा और कहा—इनकी इतनी प्रशंसा! मुझे गाय देने वाले ने ठग लिया। राजा परेशान हो गया। राजा ने उस आदमी को पकड़ने के लिए चारों ओर आदमी भेजे। वह पकड़ लिया गया। उसने राजा से कहा—राजन! मेरा दोष नहीं है। यह दोष आपके कर्मकरों का है। यह गाय तो वैसी ही है जैसा कि मैंने आपको बताया था पर ये नहो जानते कि कैसे लिया जाता है। उसने राजा के सामने

गाय को दूहा, दूध गर्म किया, मिश्री मिलाई। राजा को पिलाया। राजा ने कहा—यह तो वैसा ही है, जैसा तुमने बताया था। यह ठीक है। बड़ा स्वादिष्ट है।

तो जब तक हम यह न सीख लें कि काम मे कैसे लिया जाए तब तक काम नहीं बनता। काम तब बनता है जब हम यह जान लें कि काम में कैसे लिया जाए, कब लिया जाए। जब देश और काल का बोध नहीं होता तो हमारी उपलब्धि ठीक नही होती। हमें यह बोध होना चाहिए कि कब लिया जाए ? कैसे लिया जाए ?

एक आदमी था। घर मे थी गाय। गाय क्रमशः दूध कम देने लगी। उसने सोचा—महीने बाद लड़की का विवाह आ रहा है और मैं रोज़ाना गाय दुहता चला जाऊंगा तो दूध कम हो जाएगा। अच्छा होगा कि मैं अभी दुहना बन्द कर दूं, ताकि एक साथ बहुत सारा दूध मिल जाए। सोचने का अपना-अपना प्रकार होता है। जब थोड़ा-थोड़ा मिलता था, वह एक क्रम था। जब दुहना ही बन्द कर दिया तो गाय का दूध देने का अभ्यास भी छूट गया। अब महीने बाद जब गाय दुहने बैठा तो उसे कुछ नहीं मिला। गाय का सारा दूध सूख गया था। हमारी भी न जाने कितनी शक्तियां और सत्य के स्रोत इस प्रकार सूख जाते हैं क्योंकि हम उन्हें काम में नहीं लेते। अगर रोज थोड़ा काम में लेते चले जाएं तो थोड़ा-थोड़ा भी मिले, किन्तु मिलता रहता है, हम ऐसा सोचते हैं, बहुत सारे लोग ऐसा करते है कि अभी करने की क्या जरूरत है, साठ वर्ष के बाद करेंगे, निवृत्त होकर करेंगे यानी वे अपनी शक्ति के स्रोतों को इस प्रकार सुखा देते है कि उसके बाद फिर कुछ नहीं होता। साराजोश टूट जाता है। तो यह प्रारम्भिक बात मैंने आपके सामने कही कि—कैसे होना चाहिए ? कब होना चाहिए ? कहां होना चाहिए ? इन सारी बातों का अगर हमें ज्ञान हो तो हम इस शरीर से तथा इस मन से उन उपलब्धियों का स्वाद प्राप्त कर सकते हैं जिनका स्वाद न हमें दूध में मिलता है और न अन्य किसी मे। वह क्या है ? हमारे शरीर की जो गति होती है—मैं चलता हूं, बोलता हूं, अंगुली हिलाता हूं—आप देखते है। मैं

बोलता हूं, इसे भी आप देखते हैं। मैं बिलकुल स्थिर हो जाता हूं—इसे भी आप देखते है। आधे क्षण के लिए मैं मौन हो जाता हूं, इसे भी आप देखते हैं। बोल रहा हूं—इसे भी आप देखते हैं। नहीं बोल रहा हूं—इसे भी आप देखते हैं। मैं शरीर को हिलाता हूं उसे भी आप देखते है, मैं शरीर को बिलकुल स्थिर कर लेता हूं—उसे भी आप देखते है। तो शरीर की गति और अगति, वाणी की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति—दोनों को आप देखते हैं। किन्तु क्या आप देखते हैं मन को ? नहीं देखते। मैं शरीर से बिलकुल उपशान्त हूं, नहीं बोल रहा हूं। वाणी शान्त। शरीर शान्त। दोनों शान्त है। पर मन चल रहा है। क्या आप उसे देखते हैं ? आपको पता नहीं चलेगा। आदमी ऐसा लगता है कि ध्यान की मुद्रा में बैठा हुआ है, आंखें मूंदी हुई हैं, शरीर बिलकुल शान्त है और वाणी मौन है। फिर भी मन न जाने कहां-कहां दौड़ता है, कब से दौड़ता है, पता नहीं चलता। मन चलता है, इसका देखने वालों को पता नहीं चलता और मन नही चलता, इसका भी देखने वाले को पता नहीं चलता। तो हमारी वह एक अदृश्य शक्ति है। अदृश्य वह है जो शरीर और वाणी से परे है और दिखायी देने वाले पदार्थों से परे की बात है।

शरीर की गति और अगति और मन की गति और अगति—ये दो बातें हैं। आप सोच सकते हैं कि शरीर की तो अगति हो सकती है। शरीर से तो कोई आदमी स्थिर भी हो सकता है, शिथिलीकरण कर सकता है, शान्त हो सकता है। पर क्या मन की अगति भी संभव है ? मन रुकता नहीं है। मन टिकता नहीं है। क्या मन को टिकाया जा सकता है ? हां, यह संभव है। बिलकुल संभव है। उसी दिन आपकी शक्तियों का विकास होगा जिस दिन आप शरीर को स्थिर करने के साथ-साथ मन को भी स्थिर कर लेंगे। योग का सबसे बड़ा सूत्र, योग का सबसे बड़ा मर्म, योग का सबसे बड़ा रहस्य है—सन्तुलन। गति और स्थिति का सन्तुलन, प्रवृत्ति और निवृत्ति का सन्तुलन। हम लोग गति ज्यादा करते है, हम लोग प्रवृत्ति ज्यादा करते हैं, इसलिए अशांति पैदा होती है। शरीर की गति

ज्यादा होती है, शरीर में तनाव बढ़ जाता है। मन की गति ज्यादा होती है तो दोनों में तनाव आता है। मन की अशांति क्या है ? मन की ज्यादा गति ही मन की अशांति है। मन को रोक नहीं पाते। पागल कौन होते है ? जो मन को रोक नहीं पाते वे पागल होते हैं। देखा कि सड़क पर मोटर जा रही है तो वह कहेगा—मोटर जा रही है, मोटर जा रही है। इस विचार को मन से निकाल ही नहीं सकता। इसी का नाम पागलपन है। समझदार आदमी वह होता है कि देखा, समझा, मन में विचार आया और उसे मन से निकाल दिया और दूसरे विचार में लग गया। वह पागल नही होता। पागल और समझदार में इतना ही फर्क होता है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे कहते हैं—विचार-प्रसक्ति। विचार की ऐसी प्रसक्ति हो जाती है कि वह उस विचार को छोड़ नहीं पाता, अपने मन से निकाल नहीं पाता। एक रट लग गयी तो वही रट घन्टों तक लगती चली जाएगी। वह आदमी पागल हो जाएगा। तो मन की स्थिति को भी समझना चाहिए। यानी मन और शरीर की गति और स्थिति का सन्तुलन, मन की गति और मन की स्थिति का सन्तुलन, जो आदमी इन दोनों बातों को कर पाता है, वास्तव मे वह योग का अधिकारी हो जाता है। वह योग न केवल साधु-संन्यासी के लिए ही है, किन्तु जो भी व्यक्ति अच्छा जीवन, सुख का जीवन जीना चाहता है वह प्रत्येक व्यक्ति इस योग का अधिकारी है। कोई भी व्यक्ति इस योग को छोड़कर शान्ति का जीवन नहीं जी सकता। आप जानते हैं कि जीवन में शांति नही होती तो सुख नही मिलता। सुख शांति के बाद आता है। शांति के बिना सुख की सामग्री प्राप्त हो सकती है, सुख प्राप्त नहीं हो सकता। तो सुख प्राप्त होता है शान्ति के द्वारा और शान्ति हो सकती है गति और स्थिति के सन्तुलन के द्वारा। बहुत सारे लोग कहते हैं—मन बड़ा चंचल है, बेचैन है, अशान्त है। क्यों नहीं होगा ? हम उससे अतिरिक्त काम जो ले रहे हैं।

गाड़ी में अतिरिक्त भार डाल दिया और बेचारे बैल लचकते जा रहे हैं। ऐसा क्यों नहींहोगा ? भार अधिक डाला हुआ है। पेट पर भी आप

अधिक भार डाल देते हैं तो पेट फटने लगता है। बर्तन में भी आप अधिक पकाने लग जाते तो हैं वह फूटने लग जाता है। तो जब अधिक भार डालते है तब ऐसा क्यों नहीं होगा? अशांति क्यों नहीं होगी? हमें इस बात का विवेक होना चाहिए कि मन की कितनी गति दिन में करना है और उससे कितना काम लेना है। आज मनोविज्ञान ने इस विषय पर सुन्दर विवेचना की है। योग-शास्त्र में भी विवेचना मिलती है। हमारे मन के तीन स्तर हैं, हमारी चेतना के तीन स्तर हैं—

१. जागृत मन,

२. अर्ध-जागृत मन, और

३. अवचेतन मन

अवचेतन मन बहुत शक्तिशाली है। जागृत मन कम शक्तिशाली है। इसमें शक्तियां कम हैं। जो कम शक्तिशाली मन है वह तो काम करता है, जो अधिक शक्तिशाली है वह सुप्त रहता है। वह काम तब करता है जब जागृत मन सो जाता है और जब वह काम करता है तब वह सो जाता है। अमेरिका के वैज्ञानिकों ने हृदय के विषय में अनुसंधान कर एक उपकरण निकाला है। आज हार्ट की बीमारी से बहुत लोग मरते हैं। किन्तु अब ऐसा संभव हो गया है कि हार्ट की बीमारी से अब किसी को मरने की जरूरत नहीं। उस आविष्कृत नवीन यंत्र का नाम है—'पेस मेकर' (pace maker)। वह यंत्र लगा दिया गया तो जब तक हार्ट ठीक काम करता है, तब तक वह यंत्र निष्क्रिय रहेगा, कुछ काम नहीं करेगा। और जैसे ही हार्ट ने काम करना बन्द कर दिया, तब वह यंत्र हार्ट का काम करना शुरू कर देगा। वह हार्ट का काम संभाल लेगा। इसलिए हार्टफेल होने की समस्या शायद दुनिया से उठ जाएगी।

जब हमारा स्थूल मन जागता है तो सूक्ष्म मन सोया रहता है। चेतन मन जागता है तो अवचेतन मन सोया रहता है। और अवचेतन मन जागता है तो चेतन मन सोया रहता है। अवचेतन मन का जागना जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। अवचेतन मन का जागना हमारे जीवन में शक्तियों के

स्रोत को खोल देना है। शक्ति को प्रभावित कर देना है। इतना प्रभावित कर देना है कि जिसकी हम इस जागते मन से कभी कल्पना भी नहीं कर सकते। जिन शक्तियों का हम कभी स्वप्न भी नहीं ले सकते वे शक्तियां जाग जाती हैं, उनके द्वार खुल जाते हैं। इसी का नाम है—योग। योग के द्वारा उसको खोल देना है कि जिसके पार ऐसी शक्तियां भरी पड़ी हैं जिसे आप ईश्वरीय, मोक्षीय या कुछ भी कहें। मानवीय जीवन में रहस्योद्‌घाटन हो सकता है। वह हो सकता है इस स्थूल मन को सुलाने के द्वारा। यह बच्चा जब तक नहीं सोएगा तब तक कोलाहल करता रहेगा। बच्चे को सुलाना बड़ा कठिन है। समझदार आदमी को सुलाया जा सकता है पर बच्चा जब रोने लग जाता है तब उसे सुलाना बड़ा कठिन है। यह स्थूल मन इतना हठी और इतना आग्रही है कि इसे सुलाना मुश्किल है। इसे सुलाया जा सकता है अवचेतन मन को जगाकर ही। यह काम करता है योग। इसलिए हम योग का सहारा लेते हैं। वह सहारा है—शरीर का शिथिलीकरण (शरीर को शान्त करना), श्वास को शान्त करना, मौन होना—ये तीनों जब बन्द होते हैं तब स्थूल मन सो जाता है। घंटाभर आप कोई काम करते हैं, उसके बाद पांच-दस-बीस सेकण्ड के लिए श्वास को बन्द कर दिया या किसी दूसरे काम में लग गए, पांच मिनट बाद फिर आधा मिनट के लिए श्वास को बन्द कर दिया, अगर ऐसा दिन में दस-बीस बार आप दोहरा देंगे तो एक दिन आप ठीक उस रास्ते पर पहुंच जाएंगे जहां आपको पहुंचना है। यानी स्थूल मन को थोड़ा-थोड़ा सुलाने का अभ्यास हो जाएगा। बीस सेकण्ड के लिए आप श्वास नहीं लेते, इसका मतलब है कि आपका स्थूल मन बीस सेकण्ड के लिए सो जाता है और वह सोता है तब अन्तर्मन एकदम जागृत होने के लिए उत्सुक हो जाता है। एक मिनट के लिए इस अभ्यास में चला जाना पर्याप्त है। दस-बीस मिनट आपको श्वास रोकने की कोशिश नहीं करनी है और वैसा करना मूर्खता की बात होगी, किन्तु आधा मिनट, पाव मिनट, इसकी पांच-दस आवृत्तियां, इतना अगर आप करते चलें तो फिर स्वयं आपका रास्ता आगे बनता चला

जाएगा। यह है श्वास को शांत करने की प्रक्रिया।

आप बहुत सारी प्रवृत्तियां करते हैं। अतः पांच-दस मिनट बिलकुल शिथिल होकर बैठने या लेटने का अभ्यास करें, कायोत्सर्ग का अभ्यास करें। कायोत्सर्ग अर्थात् काया का विसर्जन। काया को छोड़ देना। योग की भाषा में ---मृत्यु। मरने का अभ्यास कर लेना। यह बुरी बात नहीं है। आप मृत्यु से जितना घबराते हैं, उतना ही आपको भय लगता है। और मौत भी शायद कुछ जल्दी ही आती है। आप कल्पना करें कि कोई आदमी साठ वर्षों में मरता है और यदि वह मौत से घबराता है तो वह शायद कुछ कम वर्ष में ही मरेगा। डर उसके जीवन के पांच-दस वर्ष खा जाएगा। यदि आपको साठ वर्ष वादम रना है और आप डरते नहीं हैं तो साठ वर्ष तो आ ही जाएंगे, बाद मे कितने आएं यह अलग बात है।

आप डरिए मत, मरने का अभ्यास कीजिए। जो आदमी मरने का अभ्यास करता है वह जल्दी नहीं मरता और यदि मरता है तो समाधि में मरता है और शांति में मरता है, यह रोते-बिलखते नहीं मरता। आप कायोत्सर्ग की साधना का अभ्यास करें। इसके साथ-साथ श्वास शांत, शरीर शांत और वाणी शांतअपने आप रहेगी। ये जब हो गयीं तो फिर मन की बात अपने आप आ जाएगी, मन को भी थोड़ा विश्राम मिलेगा। मन निरन्तर चक्र की भांति घूमता रहता है, इसे भी थोड़ा आराम मिलेगा। इसे आराम मिलेगा तो अन्तर्शक्तियों को, अन्तर्मन को जागने का मौका मिलेगा। यह है योग का मर्म।[१]

१. हांसी, वि० २०२१ के प्रवचन से संकलित

कर्म और अकर्म

जिसके शरीर, वाणी और मन है वह कोई भी आदमी अकर्म नहीं हो सकता। शरीर, वाणी और मन—ये तीनों प्रकृति के स्रोत हैं, इनके अस्तित्व में कोई भी आदमी निवृत्त नहीं हो सकता। मनुष्य का जीवन कर्म और अकर्म, प्रवृत्ति और निवृत्ति की सापेक्ष परिस्थिति में बीतता है। मनुष्य सबसे ज्यादा मानसिक श्रम करता है, वाचिक श्रम उससे कम और कायिक श्रम उससे भी कम। हमारा कुछ श्रम उपयोगी होता है और कुछ अनुपयोगी। मन अपनी चंचलता के कारण प्रवृत्ति करता रहता है। जिस प्रवृत्ति से कोई दृश्य लक्ष्य या स्पष्ट परिणाम उत्पन्न नहीं होता, वह मानसिक प्रवृत्ति अनुपयोगी होती है। जिस प्रवृत्ति से दृश्य परिणाम उत्पन्न होता है उसे उत्पादक श्रम कहा जा सकता है। कुछ लोगों का आग्रह है कि कायिक श्रम ही उत्पादक हो सकता है, मानसिक श्रम उत्पादक श्रम नहीं हो सकता। कायिक श्रम से जीवन-निर्वाह में उपयोगी वस्तु निष्पन्न होती है, इसलिए वह उत्पादक श्रम है। मानसिक श्रम से जीवन-निर्वाह के काम में आनेवाली कोई वस्तु निष्पन्न नहीं होती, इसलिए उसे उत्पादक श्रम नहीं कहा जा सकता।

यह परिभाषा जीवन की अनिवार्य भौतिक आवश्यकताओं के आधार पर गढ़ी गई है। किन्तु क्या मानवीय जीवन में चैतसिक अनिवार्यता नहीं है? क्या इस सृष्टि में सूक्ष्म का अस्तित्व नहीं है? कायिक श्रम को सफलता देनेवाले सिद्धान्त मानसिक श्रम से निश्चित होते हैं। फिर उपयोगी

मानसिक श्रम को उत्पादक श्रम नहीं मानने का कोई कारण समझ में नहीं आता। वैदिक वर्ण-व्यवस्था में श्रम की दक्षता के विकास के लिए चार वर्ण विहित थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण का कार्य अध्ययन-अध्यापन, क्षत्रिय का कार्य सुरक्षा, वैश्य का कार्य वस्तु-विनिमय और शूद्र का कार्य सेवा था। वस्तु का उत्पादन करना मुख्य रूप से शूद्र वर्ण का कार्य था। शेष तीन वर्णों में वस्तु-उत्पादन श्रम की मुख्यता नहीं थी किन्तु उनका कार्य क्या श्रम से कम मूल्यवान था? एक व्यक्ति सब काम नहीं कर सकता। समाज कार्यों के सामंजस्यपूर्ण विभाजन की व्यवस्था करता है। वस्तु का उत्पादन हो और उसका समुचित वितरण या विनिमय न हो तो उत्पादन का कितना मूल्य होगा? उत्पादन और विनिमय की व्यवस्था समुचित है, किन्तु अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था न हो तो क्या समाज विकासशील बना रह सकेगा? सुरक्षा के अभाव में क्या ज्ञान का विकास सम्भव हो सकता है?

महामात्य कौटिल्य ने लिखा है—

"शस्त्रेण रक्षिते देशे, शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते।"

जो देश शस्त्र से रक्षित होता है, वहीं शास्त्र-चिन्तन का विकास सम्भव हो सकता है। इस प्रकार एक प्रवृत्ति दूसरी प्रवृत्ति से जुड़ी हुई है। इन्हें सापेक्ष मूल्य ही दिया जा सकता है। अतिरिक्त मूल्य देने की मनोवृत्ति सामयिक परिस्थिति से सम्बद्ध हो सकती है, पर उसका मूल्य स्थायी नहीं होता।

आत्म-साक्षात्कार के सिद्धान्त

भगवान् महावीर आत्मवादी थे। सत्य की खोज के लिए उनका सूत्र था—आत्मा को जानो, देखो। आत्मा को जानना ही ज्ञान है, उसे देखना ही दर्शन है। शिष्य ने पूछा—'भंते! आत्मा परोक्ष है। हमें प्रत्यक्ष ज्ञान उपलब्ध नहीं है, फिर हम आत्मा को कैसे जान सकते हैं? कैसे देख सकते है?' भगवान् ने कहा—'उसे प्रज्ञा से जानो।' शिष्य ने पूछा—'भंते! प्रज्ञा क्या है?' भगवान् ने कहा—'जो ज्ञान का मूल स्रोत है, जिसकी उपलब्धि किसी गुरु की शिक्षा से नहीं होती, वह शक्ति प्रज्ञा है। ज्ञान उसका कार्य है। इस प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को जाना जा सकता है।'

जिस व्यक्ति ने आत्मा का अनुभव किया है उसने अपने अनुभव को प्रकट भी किया है। 'आत्मा है'—यह शास्त्रीय ज्ञान है, उस पुरुष की वाणी से उद्भूत ज्ञान है जिसने आत्मा का साक्षात्कार किया है। हम उसके आधार पर जान लेते हैं कि आत्मा है, किन्तु उससे आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। ज्ञेय जब ध्येय बन जाता है और ज्ञान जब ध्यान बन जाता है, तब आत्म-साक्षात्कार की दिशा में हमारा प्रस्थान हो जाता है। हम इन्द्रिय-संवेदनों में अपने ज्ञान का उपयोग करते हैं तब संवेदन की शक्ति इन्द्रिय-विषयों को जानने में लगी रहती है। जब हम संवेदन का उपयोग आत्मा का अनुभव करने के लिए करते हैं तो उसका साक्षात् होने लग जाता है। आत्मा का साक्षात् होना संवेदन के अधीन है। संवेदन श्रुतज्ञान के अधीन है, और श्रुतज्ञान से लक्ष्य और लक्षण का बोध होता है।

आकाश-दर्शन : ध्यान का सहज साधन

शान्त वातावरण। एकांत नीरव उपवन। योगेन्द्र ने सोचा, यह बहुत ही उपयुक्त है मेरे लिए। वह संकल्प का धनी था। उसके संकल्प और निर्णय साथ-साथ चलते थे। उसने निर्णय किया और वह ध्यानमुद्रा में बैठ गया। उसकी दृष्टि निरभ्र नील गगन में टिक गयी। वह कालचक्र पर बैठा कालातीत स्थिति का अनुभव करने लगा। स्मृति का द्वार बन्द हो गया। अतीत की डोर उसके हाथ से छूट गयी। कल्पना के पैर थम गये। भविष्य उसकी आंखों से ओझल हो गया। वर्तमान आकाश दर्शन के लय में विलीन हो गया। वह काल के तीनों पर्यायों से मुक्त हो कालातीत हो गया।

वह आकाश-दर्शन की मुद्रा मे दो घंटे बैठा रहा। यह काल का लेखा उसने नही किया। यह किया उसके मित्र जैनेन्द्र ने। योगेन्द्र जैसे ही ध्यान में बैठा, वैसे ही जैनेन्द्र वहा पहुंच गया। उस समय सात बजे थे, अब नौ बज रहे हैं। जैनेन्द्र ने योगेन्द्र के ध्यानभंग का प्रयत्न नही किया। वह योगेन्द्र के पीछे जाकर बैठ गया।

जैनेन्द्र ध्यान में विश्वास नहीं करता था। वह प्रवृत्ति का आदमी था। कुछ करते रहने में ही उसका रस था। ध्यान के बहाने निठल्ला होकर बैठ जाना उसे पसन्द नहीं था, पर कभी-कभी मित्र का अनुकरण करना भी एक काम हो जाता है। आज उसे योगेन्द्र की भांति बैठने की बात सूझी और वह भी उसी मुद्रा में बैठ गया।

जैनेन्द्र को दस-पन्द्रह मिनट के बाद कुछ आश्चर्यकारी अनुभव होने

लगा। उसे लगा कि उसका मन कहीं खो रहा है। शांति उसके चारों ओर घेरा डालने का प्रयत्न कर रही है। उसकी भाषा समाप्त हो रही है। स्मृति उसका साथ नही दे रही है, कल्पना का तानावाना टूट रहा है। शरीर शिथिल हो रहा है। गहरी नींद के लक्षण प्रकट हो रहे हैं। पर उसकी आंखों में नींद नहीं है। उसकी आंतरिक चेतना में कोई मूर्च्छा नहीं है। वह पूरा जागृत है। उसकी बाहरी चेतना सो रही है। वह भीतर में जाग रहा है, पूरा जाग रहा है।

आधा घंटे बाद जैनेन्द्र ने देखा, आकाश में जलधारा प्रवाहित हो रही है। वह प्रकृति-प्रेमी है। वह आकाश को बहुत बार देखता रहा है पर उसने आकाश में पानी पहले कभी नहीं देखा। वह तर्क की स्थिति में नहीं था। इसलिए उलझा नहीं, उसे देखता ही चला गया। घंटा, सवा घंटा बीता होगा कि दीखना बंद हो गया। अब उसके सामने आकाशिक रिकार्ड के चित्र उभरने लगे। कभी आकार ले रही थी अतीत की घटनाएं और कभी मिल रहे थे भविष्य के संकेत। वह द्रष्टा की भांति उन सबको देख रहा था।

योगेन्द्र ने दो-चार लम्बी सांसें लीं और खड़ा हो गया। वह भीतर में अकेला था और बाहर से भी अकेले की अनुभूति कर रहा था। उसे जैनेन्द्र की उपस्थिति का पता तक नहीं था। जैनेन्द्र ने भी अपनी उपस्थिति से उसे अवगत कराना नहीं चाहा था। वह दो क्षण रुककर पीछे मुड़ा। उसने देखा, जैनेन्द्र आकाश-दर्शन की मुद्रा में बैठा है। वह इतना खोया हुआ है कि मेरी उपस्थिति का बोध नहीं हो रहा है। योगेन्द्र ने उसके सिर पर हाथ रखा। जैनेन्द्र का ध्यान टूटा और वह खड़ा हो योगेन्द्र से लिपट गया—'ओह! कितना अनुपम था क्षण! कितना अनुपम था अवसर! मुझे क्या पता, योगेन्द्र! तुम हर रोज यह आनन्द लूटते हो और इतने अनूठे दृश्य देखते हो। तुमने कभी प्रयत्न ही नहीं किया मुझे समझाने का।'

'क्या यह सच नहीं है कि तुमने कभी समझने का प्रयत्न ही नहीं किया? जिस वस्तु को चखकर अनुभव किया जा सकता है, उसके लिए

उपदेश की जरूरत ही क्या है ? और तुम तो ध्यान को मृगमरीचिका मानकर ही चल रहे थे।'

'मैं क्या, मेरे जैसे अनेक चिंतनशील व्यक्तियों के मन में यह प्रश्न है कि ध्यान मृगमरीचिका है या वास्तविकता ?'

'क्या यह उन लोगों के मन में नहीं है, जो ध्यान कर रहे हैं ? तब फिर मेरे-जैसे ध्यान से दूर भागने वालों का क्या दोष ?'

'मैं किसी के दोष का प्रकाशन नहीं कर रहा हूं। मैं तुम्हें बता रहा हूं कि ध्यान के बारे में लोगों की धारणाएं बहुत विचित्र हैं। बहुत लोग ध्यान करने वालों से चमत्कार की आशा रखते हैं। कोई चमत्कार नहीं दीखता तब उनकी दृष्टि में ध्यान का मूल्य मृगमरीचिका से अधिक नहीं होता। ध्यान करने वाले ध्यान के द्वारा जो पाना चाहते हैं, वह नहीं मिलता तब उन्हें भी ध्यान मृगमरीचिका जैसा प्रतीत होने लगता है।'

क्या ध्यान में कोई चमत्कार नहीं है ?'

'मैं कब कहता हूं कि चमत्कार नहीं है। ध्यान स्वयं चमत्कार है। पर चमत्कार के लिए ध्यान या ध्यान से चमत्कार पाने की आशा उसकी आत्मा को विकृत कर देती है।'

'मैं ध्यान में विश्वास नहीं करता था पर…'

'पर क्या ?

'क्या बताऊं, मित्र ! अनायास ही तुम्हारे जाल में फंस गया हूं। ध्यान ने एक ही दिन में ऐसा चमत्कार दिखाया है कि अब ध्यान के मामले में मैं तुम्हाराप्रतिद्वन्द्वी नहीं हूं।'

योगेन्द्र को जैनेन्द्र के मानस-परिवर्तन पर बहुत अचरज हुआ। वह योगेन्द्र का सदा मजाक किया करता था। ध्यान को गालियां देने में उसे बहुत रस था। आज वह ध्यान का प्रशंसक बन गया है। वह दूसरों के मुंह से सुनी-सुनायी बातों के आधार पर प्रशंसक नहीं बना है। वह प्रकृति से कटु आलोचक है। वह पूर्णता में अपूर्णता खोजने का प्रयत्न करता है। वह यकायक ध्यान का प्रशंसक बना है, इससे लगता है कि उसे

कोई अनुभव हुआ है। अनुभूति के बिना उसके इतने सारे तर्क एक साथ विलीन नहीं होते।

योगेन्द्र ने जैनेन्द्र की भावना को सहलाते हुए कहा—

'जैनेन्द्र, क्या ध्यान के बारे मे तुम्हारी नवीन जानकारी का लाभ कोई दूसरा भी उठा सकता है?'

'मेरी कोई जानकारी नहीं है, फिर दूसरा क्या लाभ उठाएगा?'

'जानकारी के बिना इतने समर्थक कैसे बन गए?'

'यह अनुभव की बात है। जानकारी की दृष्टि से मैं शून्य हूं। मुझे नहीं मालूम, ध्यान का अर्थ क्या है? उसकी परिभाषा क्या है?'

'तो अब करना चाहोगे?'

'नया रोग लगा है। मैं नहीं कह सकता क्या-क्या करना होगा?'

'रोग का इलाज हाथ लगा है, यह क्यों नहीं मानते?'

'अब तुम कहो वही मानना होगा। तुम्हारा अनुकरण ही मुझे दूसरे अंचल में ले गया, फिर तुम्हारा ज्ञान और अनुभव···'

योगेन्द्र ने विषय की आत्मा का स्पर्श करते हुए कहा—

'देखो जैनेन्द्र! ध्यान कोई मृगमरीचिका नहीं है। वह वास्तविकता है। वह सत्य को अनावृत करने का महान उपक्रम है। सत्य किसी प्रस्तर से आवृत नहीं है। उसका आवरण है मन की चंचलता। चंचलता न हो तो मल नहीं हो सकता। और उसके बिना आवरण नहीं हो सकता। चंचलता समाप्त होते ही मल और आवरण समाप्त हो जाते हैं, सत्य का साक्षात् होने लग जाता है।'

जैनेन्द्र बीच में ही बोल उठा—'क्या मन की चंचलता समाप्त हो सकती है?'

'वह न हो तो ध्यान का उपयोग ही क्या है?'

'यह कैसे हो सकता है?'

'योगी कुछ प्रक्रिया जानता है। उनके द्वारा वह मन और मस्तिष्क की क्रिया पर नियंत्रण कर लेता है। अब आदमी आराम कर रहा होता

है या बिलकुल निश्चेष्ट होता है, तब उसके मस्तिष्क से अल्फा तरंगों का उत्सर्जन होता है। इस तरंग की गति आठ से तेरह साइकिल प्रति सेकण्ड होती है। सामान्यतः इस पर मनुष्य का कोई नियंत्रण नहीं होता। योगी इच्छानुसार इन तरंगों को उत्पन्न कर सकता है और उन्हें घटा-बढ़ा सकता है।

अल्फा-सक्रियता मस्तिष्क की निजी और स्वतंत्र क्रिया है। किन्तु योगी योगाभ्यास के द्वारा मस्तिष्क की क्रिया को नियंत्रित कर सकता है।'

'तब ध्यान मृगमरीचिका कैसे ?'

'जो यथार्थ तक नहीं पहुंच पाते उनके लिए हर वास्तविकता मृग-मरीचिका हो सकती है।'

जैनेन्द्र ने फिर बात को मोड़ देते हुए कहा—'योगेन्द्र ! मैं आज घर से चला था सिनेमा जाने के लिए। मैंने सोचा, तुम्हें साथ लेकर ही वहां जाऊंगा। मेरे आने से पहले ही तुम ध्यान में बैठ गए। मैंने तुम्हारा ध्यान भंग करना उचित नहीं समझा। मैं भी तुम्हारी भांति ध्यान-मुद्रा में बैठ गया। मैंने इस स्वल्पकाल में ऐसा चित्रपट देखा कि अब किसी दूसरे चित्रपट को देखने की उत्सुकता नहीं रह गयी है। मन शान्त हो गया है। यह सब कैसे हुआ, मैं समझ नहीं पा रहा हूं।'

योगेन्द्र अनुभवी साधक था। वह ध्यान की अनेक कक्षाओं को पार कर चुका था। वह उसके सूक्ष्म रहस्यों से भली-भांति परिचित था। उसने बताया—'देखो मित्र ! मन के एकाग्र होने से विलीन होने तक की अनेक कक्षाएं हैं। कोई साधक उन्हें जल्दी पार कर जाता है और कोई विलम्ब से। मन का एकाग्र होना कोई बड़ी बात नहीं है। पर उन लोगों के लिए बहुत बड़ी बात है जिनके मन की सक्रियता अधिक होती है।'

'क्या मन की सक्रियता अच्छी नहीं है ?' जैनेन्द्र बीच में ही पूछ बैठा।

'अच्छी और बुरी को देखने की अलग-अलग दृष्टियां हैं। जीवन-

व्यवहार चलाने के लिए मन को सक्रिय रखना जरूरी है। उसकी सक्रियता बढ़ जाती है तब जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है। इसलिए हर आदमी मन को एक सीमा तक सक्रिय रखना चाहता है। आकाश-दर्शन मन की क्रिया को नियंत्रित करता है। जैसे ही स्थूल मन की क्रिया नियंत्रित होती है, वैसे ही सूक्ष्म मन (अवचेतन मन) की क्रिया चालू हो जाती है। यह सहज क्रिया है। इसके चालू होते ही असहज क्रिया का दबाव कम हो जाता है। उसके साथ-साथ उससे होने वाली अशान्ति भी कम हो जाती है।'

'जैनेन्द्र ! सावधान रहना। इस क्षणिक शान्ति को स्थायी शान्ति मत मान लेना।'

'अब स्थायी शान्ति का रहस्य ही जानना चाहता हूं', जैनेन्द्र ने विश्वास के स्वर में कहा, 'पर मन का एकाग्र होना क्या स्थायी शान्ति का उपाय नहीं है?'

'नहीं है', योगेन्द्र ने दृढ़ता के साथ कहा, 'उसका उपाय है मन को उत्पन्न न करना। यह बहुत बड़ा सत्य है और सत्य की उपलब्धि का बहुत बड़ा स्रोत।'

जैनेन्द्र इस सत्य को समझने में इतना खो गया कि सहज कुंभक की धारा में उसका मन सचमुच खो गया।

नारी जीवन की उपादेयता और सार्थकता

स्त्री और पुरुष के द्वैत का अनुभव हजारों-हजारों समस्याओं का सृजन करता रहा है। समस्या का समाधान है, उनके अद्वैत की अनुभूति। कोई भी पुरुष सोलह आना पुरुष नहीं है, वह स्त्री भी है। कोई भी स्त्री सोलह आना स्त्री नहीं है, वह पुरुष भी है। इस सिद्धान्त को कर्मशास्त्रीय समर्थन भी उपलब्ध है। प्रत्येक पुरुष में पुरुषवेद विपाक में रहता है और स्त्रीवेद सत्ता में और प्रत्येक स्त्री में स्त्रीवेद विपाक में रहता है और पुरुषवेद सत्ता में। जिसमें स्त्रैण गौण होता है वह पुरुष है, और जिसमें पुंस्त्व गौण होता है वह स्त्री है। स्त्री और पुरुष में द्वैत नहीं है इसलिए स्त्री के प्रति हीनता और पुरुष के प्रति उच्चता का मनोभाव केवल अहं के द्वारा ही निर्मित हुआ है।

सामाजिक जीवन के प्रारम्भिक युग में स्त्री के प्रति कोई हीन भावना नहीं थी। भगवान् ऋषभ ने अपनी पुत्रियों (ब्राह्मी और सुन्दरी) को लिपि और गणित का ज्ञान कराया था। उनके द्वारा ही मनुष्य समाज में वह ज्ञान प्रवृत्त हुआ।

वैदिक-काल में स्त्री के प्रति निम्नता का भाव परिलक्षित नहीं होता। ब्राह्मण-काल में पुत्र को धार्मिक महत्त्व दिया जाने लगा। ऋणमुक्ति और पितरों की शांति के लिए पुत्र की अनिवार्यता स्थापित की गयी। फलतः पुत्री के प्रति समानता का भाव कम हो गया। सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से पुरुष को पहले से ही महत्त्व प्राप्त था। और उसे धार्मिक महत्त्व

प्राप्त होने से पुत्र और पुत्री के बीच संतुलन नहीं रह सका। उत्तर वैदिक-काल में वह और अधिक बिगड़ गया। पुत्री का जन्म भार माना जाने लगा। कहा गया है कि कन्या जन्म के समय स्वजनों को दुःख देती है। विवाह के समय अर्थ का हरण करती है। यौवन में बहुत दोष उत्पन्न करती है। इस प्रकार वह दारिका (पुत्री) पिता के हृदय का विदारण करने वाली होती है।

स्त्री की ममता, करुणाशीलता, मातृत्व और समर्पण भावना का मूल्य कम आंका जाने लगा। उसके दुर्बल पक्ष को उभारकर उसमें हीन भावना जागृत करने का उपक्रम तीव्र होने लगा। फलस्वरूप स्त्री-समाज में हीनता की मनोवृत्ति पनप गयी। पुरुष ही स्त्री को हीन नहीं मानता, स्त्री स्वयं अपने को हीन मानने लग गयी। पति उसके लिए परमेश्वर बन गया और वह पति की दासी बन गयी। परमेश्वर और दासी में इतनी दूरी है कि दोनों एक रथ के पहिए बनकर नहीं चल सकते। पुरुष और स्त्री जीवन-रथ को चलाने वाले दो पहिए हैं। दोनों साथ-साथ चलते हैं तभी जीवन का रथ गतिमान हो सकता है। पर एक पहिए को इतना रुग्ण बना दिया कि उस रथ की गति लड़खड़ाने लगी।

श्रमण परंपरा ने स्त्री और पुरुष में भेद की सृष्टि नहीं की थी। पुत्र को कोई धार्मिक महत्त्व नहीं दिया था। ऋणमुक्ति और पितरों की शांति का सिद्धान्त उसे मान्य नहीं था। पर समाज को समर्थ नेतृत्व नहीं दिया जा सका। उसकी विचारधारा को बदलने में सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। इसके विपरीत वैदिक विचारधारा ने समाज को व्यापक स्तर पर प्रभावित कर लिया। श्रमणों की विचारधारा एक क्षीण धारा के रूप में ही प्रवाहित रही।

ढाई हजार वर्ष पूर्व श्रमण परम्परा को सफल नेतृत्व उपलब्ध हुआ। महावीर, बुद्ध, गोशालक, पूरणकाश्यप आदि अनेक प्रभावशाली तीर्थंकर, तथागत और आचार्य उस परम्परा में हुए। उन्होंने अपनी दीर्घ तपस्या और साधना के बल से सत्य का अनुभव किया और उनकी तपःपूत वाणी ने

समाज के मानस को आन्दोलित कर दिया। सामाजिक चेतना का नया जागरण होने लगा। स्त्री के प्रति हीनता की मानसिक ग्रन्थि टूटने लगी। श्रमणों की अन्य धाराएं काल के उत्ताप में सूख गयीं। केवल दो धाराएं जीवित रहीं—जैन और बौद्ध। इन दोनों धाराओं में जो प्राचीन साहित्य उपलब्ध है, उसमें स्त्री के जीवन को यथार्थ की खिड़की से देखा गया है। स्वतन्त्रता जीवन की मौलिक आकांक्षा है। भगवान् महावीर ने अहिंसा के संदर्भ में कहा—'कोई किसी की स्वतन्त्रता का अपहरण न करे। पुरुष स्त्री की स्वतन्त्रता का अपहरण न करे। ज्ञान का विकास सबके लिए सहज सिद्ध है। उस पर केवल पुरुष का अधिकार नहीं है।' भगवान् महावीर ने स्त्रियों को दीक्षित किया, उन्हें धर्मशास्त्रों के अध्ययन की स्वीकृति दी और तत्त्वचर्चा का अवसर दिया। महावीर के धर्म-संघ में साधु चौदह हज़ार हैं और साध्वियां छत्तीस हज़ार। उन छत्तीस हज़ार साध्वियों का नेतृत्व आर्या चंदनबाला कर रही थी। वह चंदनबाला जो एक दिन प्रताड़ित थी, बाज़ार में बिकी थी, दासी बनकर सेठ धनावह के घर रही थी तथा स्त्रीत्व और दास प्रथा—दोनों का अभिशाप भुगत रही थी। दासप्रथा का अभिशाप अभिभूत पुरुष और स्त्री दोनों को अभिशप्त कर रहा था। स्त्रीत्व के अभिशाप से समूचे समाज की स्त्रियां अभिशप्त थीं। ईश्वरीय सृष्टि को अस्वीकार करने वाले और अपने पुरुषार्थ से श्रेष्ठता-प्राप्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले महावीर और बुद्ध उन अभिशापों पर मुहर नहीं लगा सकते थे। उन्होंने उनका निरसन किया। भगवान् महावीर के द्वारा चंदनबाला का उद्धार उसका साकार निदर्शन है।

दधिवाहन चंपा का शक्तिशाली शासक था। कौशाम्बी के महाराज शतानीक के सेनापति ने चम्पा पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिया। वसुमति चंदनबाला और उसकी माता धारणी दोनों का अपहरण किया गया। महारानी धारणी ने सतीत्व की रक्षा के लिए अपने प्राण विसर्जित कर दिए और चंदनबाला को सेनापति ने बेच दिया। सेठ

धनावह ने उसे खरीद लिया। पशु की भांति मनुष्य भी बेचा जाता था, इससे हम उस युग के मानस को समझ सकते हैं। उस मानस में स्त्री का प्रतिविम्ब और अधिक धुंधला है। चंदनवाला स्त्री भी थी और दासी भी थी। भगवान् महावीर कौशाम्वी में विहार कर रहे थे। यह वही कौशाम्वी है जिसका अधिपति शतानीक है। उसकी क्रूर दृष्टि से ही एक राजकन्या दासी का जीवन जी रही है। भगवान् महावीर ने चंदनवाला के हाथ से आहार दान लिया और वह दासता के बंधन से मुक्त हो गयी। वह अब दासी नहीं रही। दासता के अभिशाप की केंचुली उस पर से उतर गयी। पर वह स्त्री तो थी ही। स्त्री होना कोई अभिशाप नहीं है। प्राचीन युग ने स्त्री के प्रति हीनभावना का अभिशाप पुरुष को दे रखा था और वह स्त्री के मन में भी घर कर गया था। उस अभिशाप को तोड़ना आवश्यक था। महावीर ने चंदनवाला को दीक्षित कर उस अभिशाप की जड़ को भी प्रकंपित कर दिया। उन्होंने प्रस्थापित किया कि स्त्री और पुरुष—ये दोनों अवस्थाएं है। उनके पीछे जो चैतन्य है वह समान है। उसमें कोई विषमता नही है। जैविक दृष्टि से वे दोनों समान हैं। शारीरिक दृष्टि से कुछ असमानताएं है, किन्तु उनके आधार पर हीनता और उच्चता का मनोभाव निर्मित नहीं होना चाहिए। पुरुष का अहंकार ही स्त्री के प्रति हीनता का भाव उत्पन्न कर रहा था। महावीर ने पुरुष की कर्तृत्व शक्ति पर प्रहार नहीं किया किन्तु उस अहंकार पर गहरी चोट की, जो हीनता और उच्चता की रेखाएं निर्मित कर रहा था। महावीर ने एक घटदासी के लिए वही सम्मान प्रदर्शित किया जो किसी गुरु के लिए किया जा सकता है। उन्होंने श्रमणों से कहा—'कोई घटदासी अच्छी बात कहे तो उसे आदर के साथ स्वीकार करो। यह मत सोचो कि वह दासी है और यह भी मत सोचो कि वह स्त्री है। स्त्री भी उतनी ही अच्छी बात कह सकती है जितनी पुरुष कह सकता है।' जयन्ती ने भगवान् महावीर के पास अनेक प्रश्न उपस्थित किए और महावीर ने उनका समाधान दिया। राजकुमारी सुन्दी ने भगवान् बुद्ध के साथ धर्मचर्चा की। महावीर और बुद्ध ने स्त्री के लिए

धर्मचर्चा और तत्त्वचर्चा का द्वार खोल दिया, स्वतन्त्रता का पथ प्रशस्त कर दिया। उसे साधना का अधिकार प्राप्त हो गया। पुरुष और स्त्री की समानता का बीज-वपन हो गया। उस बीज-वपन का पहला विस्फोट चंदनबाला है। उसने कुछ समय पूर्व दो अभिशापों से अभिशप्त जीवन जिया और कुछ समय बाद उन्मुक्त जीवन जिया जो अभिशाप और वरदान—दोनों से ऊपर था।

हिंसा : क्रिया नहीं, प्रतिक्रिया

हिंसा जीवन का स्वभाव है—इस तथ्य की अभिव्यक्ति करने में मेरे अहिंसक मानस का कोई भी अंचल प्रकंपित नहीं होता। सूक्ष्म-स्थूल शरीर, वाणी, मन और श्वास की समष्टि का नाम जीवन है। शरीर आहार, वाणी अभिव्यक्ति, मन स्वतन्त्रता और श्वास मुक्त वातावरण चाहता है। इनकी चाह पूरी होती रहती है तब हिंसा शान्त रहती है। इनकी चाह पूरी नहीं होती तब हिंसा का सागर तूफान से भर जाता है।

क्या यह तूफान स्वाभाविक है? यह स्वाभाविक नहीं है। इसे कुछ निमित्त पैदा करते है। भारतीय मनीषियों ने हजारों-हजारों वर्ष पहले हिंसा की प्रकृति और उसके निमित्तों का गंभीर अध्ययन किया। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि क्रिया प्रतिक्रिया से मुक्त नहीं हो सकती। हिंसा जीवन की प्रतिक्रिया है। प्रतिक्रिया न पैदा की जा सकती है और न समाप्त की जा सकती है। उत्पत्ति और समाप्ति दोनों क्रिया होती हैं। इस सत्य के आधार पर उन्होंने समता का सूत्र प्रस्तुत किया। समता क्रिया है, अहिंसा उसकी प्रतिक्रिया। विषमता क्रिया है, हिंसा उसकी प्रतिक्रिया। भारतीय चेतना क्रिया से परिचित रही तब भारत ने अहिंसा का देश होने की प्रतिष्ठा प्राप्त की। आज कुछ विपरीत हो रहा है। खरगोश के जाल में फंसा हुआ शेर अपने ही प्रतिबिम्ब से लड़कर जल-समाधि लेने को उत्सुक दिखाई दे रहा है। सरकार डण्डे के बल पर हिंसा

को मिटाना चाहती है। सैकड़ों बार लाठीचार्ज करने और गोली चलाने पर भी हिंसा नहीं मिट पा रही है। यह हिंसा को जिलाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। इसे हिंसा को मिटाने का कारगर उपाय समझा जा रहा है।

क्रिया के अपरिचय की स्थिति में जनता प्रतिक्रिया को ही पढ़ती है और उसे ही बनाना या मिटाना चाहती है। कुछ समझदार लोग अहिंसा का विकास चाहते हैं पर समता को विकसित किए बिना अहिंसा का विकास नहीं हो सकता। उसके लिए मानसिक और सामाजिक व्यवस्था दोनों की समता जरूरी है। आज की बढ़ती हुई हिंसा के ये दो ही मुख्य कारण हैं। प्रतिशोधात्मक हिंसक घटनाएं शत-प्रतिशत मानसिक विषमता के कारण होती हैं। सामाजिक हिंसक घटनाएं समाज की त्रुटिपूर्ण व्यवस्था के कारण होती हैं। हिन्दुस्तान में अभी हिंसा मानसिक स्तर पर ही पनप रही है। व्यवहार के स्तर पर अभी अपेक्षाकृत कम है। इसका हेतु धर्म-भीरुता या कर्मवादी धारणा भी हो सकती है। कुछ भी हो, कोई न कोई हेतु अवश्य है। हिन्दुस्तान का जन-साधारण जिस विपन्नता को भोग रहा है, वह किसी दूसरे देश के नागरिक को भोगनी पड़ती तो हिंसा की आग कभी भड़क उठती। आज का हिन्दुस्तानी युवक हिंसा की वास्तविकता समझने लगा है। भाग्यवादी धारणा के आधार पर वह सामाजिक विषमता को मान्यता देने के लिए तैयार नहीं है। वह वर्तमान की ज्वलंत समस्याओं का समाधान पारलौकिक आदर्शों में देखने को उत्सुक नहीं है। इसलिए ऐसा प्रतीत हो रहा है कि हिंसा बढ़ रही है।

विषमतापूर्ण समाज-व्यवस्था में हिंसा मान्यता प्राप्त कर चुकी थी। करोड़ों लोगों के तड़पते प्राण कुछेक लोगों की संपन्नता को सहारा देते रहे हैं। उस अभाव पर पनपने वाले भाव को, उस विपन्नता पर पलने वाली संपन्नता को हिंसा नहीं माना गया, इसीलिए उस हिंसा को मान्यता प्राप्त हो गयी।

परिग्रह मान्यता-प्राप्त हिंसा है। विद्यार्थी हिंसा करता है, उसके पीछे या तो अभाव की चिनगारी है या मानसिक असंतुलन की। मजदूर हिंसा

करता है, उसके पीछे भी ये ही चिनगारियां हैं। राजनीतिक और साम्प्रदायिक हिंसा प्रतिशोधात्मक या अहंपूर्ति के लिए होती है। उपासना और कर्मकाण्ड में उलझा हुआ धर्म मानसिक समता की लौ प्रज्वलित नहीं कर रहा है।

वाद और राजनीति के वात्याचक्र में फंसी हुई शिक्षा आध्यात्मिक चेतना को जागृत करने का दायित्व नहीं उठा रही है। दलीय राजनीति समाज-व्यवस्था को समता का आधार नहीं दे पा रही है। क्या हिंसा इन सबका परिणाम नहीं है ?

मान्यता-प्राप्त हिंसा के देश में अमान्यता-प्राप्त हिंसा का पनपना अस्वाभाविक नहीं है।

सत्याग्रह का अधिकार

राजनीति के वाष्प से सत्याग्रह का दर्पण अंधा हो गया है। उसमें हम यथार्थ का प्रतिबिंब नहीं देख सकते। हड़ताल, धरना, बन्द और घेराव— ये सब सत्याग्रह की छत्रछाया में पले-पुसे हैं। पर इनमें सत्याग्रह का उत्तराधिकार किसी को प्राप्त नहीं है। सत्याग्रह की आत्मा है अनाग्रह। अनाग्रह की आत्मा है अहिंसा। अहिंसा की आत्मा है राग-द्वेष का अप्रयोग।

सत्याग्रह का व्यक्तिगत प्रयोग बहुत पुराना है। भगवान् महावीर ने सत्याग्रह किया कि दासी बनी हुई राजकुमारी के हाथ से भोजन लूंगा; अन्यथा छः मास तक भोजन नही लूंगा। इसकी पारंपरिक व्याख्या कुछ भी हो, भगवान् महावीर के क्रान्त व्यक्तित्व के सन्दर्भ से इसकी व्याख्या होगी दास-प्रथा के उन्मूलन के लिए सत्याग्रह का प्रयोग। भगवान् महावीर ने पाच मास और पचीस दिन तक भोजन नहीं किया। आखिर धनावह श्रेष्ठी के घर दासी बनी हुई राजकुमारी चन्दनबाला के हाथ से भोजन स्वीकार किया। उनकी इस तपस्या ने दास-प्रथा पर गहरा प्रहार किया। किन्तु यह प्रहार धनावह श्रेष्ठी पर नहीं था। यह प्रहार किसी भी व्यक्ति पर नही था। यह क्रियात्मक प्रहार अपनी सुप्त शक्ति पर था और प्रतिक्रियात्मक प्रहार उन सब हृदयों पर था, जो दास-प्रथा चलाने के लिए उत्तरदायी थे।

सत्याग्रह तपस्या है। उसका प्रहार यदि दूसरे व्यक्ति पर होता है तो

वह सत्याग्रह नहीं हो सकता। उसका प्रहार अपनी शक्ति की प्रखरता के लिए होना चाहिए। जिस परिवर्तन के लिए सत्याग्रह किया जाता है, उससे संबंधित व्यक्ति का हृदय तपस्या की आंच के बिना नहीं पिघल सकता और हृदय का परिवर्तन हुए बिना सत्याग्रह की सार्थकता नहीं हो सकती। महात्मा गांधी ने सत्याग्रह को सामुदायिक प्रतिष्ठा दी। वह कितना सामुदायिक बना या सामुदायिक बनकर वह कितना सत्याग्रह रहा, यह बहुत ही विमर्शनीय है।

सत्याग्रह कोई आयस शस्त्र नही है। वह शस्त्रविहीन धार है। आयस शस्त्र को भी हर कोई नहीं चला सकता। जिसमें शरीरबल, मनोबल और प्रशिक्षण—तीनों होते हैं, वही उसे चला सकता है। सत्याग्रह की धार का प्रयोग वही कर सकता है, जो मनोबल, धृति, सहिष्णुता और करुणा से परिपूर्ण होता है। इस योग्यता का समुदाय न महात्मा गांधी को मिला और न किसी अन्य व्यक्ति को मिला। इसलिए मैं इस धारणा से सहमत नहीं हूं कि कभी सामुदायिक सत्याग्रह हुआ है। महात्मा गांधी सत्याग्रह के योग्य व्यक्ति थे। उनके कुछ सहयोगी भी उसके लिए उपयुक्त थे पर भीड़ की सत्याग्रह के लिए अर्हता नही हो सकती। हमारी दुनिया में बहुत बार अहिंसा के नाम पर हिंसा, सत्य के नाम पर असत्य और अच्छाई के नाम पर बुराई चलती है। वर्तमान में चलने वाले अधिकांश सत्याग्रहों में कोरा आग्रह ही चलता है। अनाग्रह के बिना सत्याग्रह उतना ही मिथ्या है, जितना कि असत्याग्रह। अनाग्रह-शून्य आग्रह वास्तव में सत्य का आग्रह हो ही नही सकता। बंद, घेराव आदि परिवर्तन के शस्त्र नहीं हैं, यह मैं नहीं कहता। मैं यह कहना चाहता हूं कि ये सब बल-प्रयोग के प्रकार हैं। शस्त्र-प्रयोग से जैसे व्यक्ति को बाध्य किया जा सकता है, वैसे ही घेराव से भी व्यक्ति को बाध्य किया जा सकता है। यह हिंसा का मृदु प्रयोग हो सकता है, किन्तु अहिंसा की प्रतिध्वनि इसमें नहीं है। बाध्यता की भूमिका पर होने वाला कोई भी प्रयोग सत्याग्रह नही हो सकता। जिसमें अपने प्राणों का मोह नहीं है, जो दूसरे के प्रति प्रेम से

परिपूर्ण है, जिसमें तटस्थता है—किसी भी पक्ष का आग्रह नहीं है, वह अहिंसक है और अहिंसक ही सत्याग्रही होने का अधिकारी है।

प्रशिक्षण और साधना के बिना सत्याग्रही का निर्माण नहीं हो सकता। कुछ लोग अहिंसा-प्रेमी हैं और कुछ लोग सत्याग्रह-प्रेमी। गहरे में दोनों के प्रेम की जड़ एक है। अहिंसा के बिना सत्य सत्य नहीं हो सकता और सत्य के बिना अहिंसा अहिंसा नहीं हो सकती। दोनों की एकात्मकता ही दोनों को दो रूप में प्रतिष्ठित करती है। आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत, आचार्य विनोबा का सर्वोदय और इस धारा के अन्य प्रवाह कितनी अहिंसा और कितना सत्याग्रह पैदा करते हैं, इसकी प्रतीक्षा में है नवयुग का स्वप्न संजोने वाली युगचेतना।

संस्कार-निर्माण का पहला चरण

मानवीय विकास के दो आयाम हैं—ध्वंस और निर्माण। पुराना मिटता है और नया बनता है—यह जगत् का स्वभाव है। अवांछनीय को मिटाने और वांछनीय को निर्मित करने का प्रयत्न किया जाता है—यह मनुष्य का पुरुषार्थ है।

हमारा जीवन आहार से शुरू होता है। आहार होता है तब दूसरी प्रवृत्तियां चलती हैं। जैसी प्रवृत्ति वैसा संस्कार। जितनी प्रवृत्ति उतना संस्कार। जैसा संस्कार वैसा विचार। जैसा विचार वैसा व्यवहार। व्यवहार हमारी कसौटी है। भीतरी जगत् में कौन कैसा है, हम नहीं जान पाते। मनुष्य की जो प्रतिमा व्यवहार में बनती है उसी के आधार पर उसका मूल्यांकन होता है। अच्छा व्यवहार अच्छे विचार बिना नहीं हो सकता। अच्छा विचार अच्छे संस्कार बिना नहीं हो सकता। अच्छा संस्कार अच्छे आहार बिना नहीं हो सकता। इसलिए हमारे धर्माचार्यों ने आहार-शुद्धि को प्राथमिकता दी है। हम अच्छाई का प्रारम्भ आहार-शुद्धि के व्रत से करें। हम न खाएं, यह सबसे अच्छा है पर संभव नहीं है। आहार हमारे जीवन की अनिवार्यता है। हम वह न खाएं जिसकी अनिवार्यता नहीं है। वनस्पति का आहार अनिवार्यता के रूप में स्वीकृत है। इसके पीछे हिंसा के अल्पीकरण, स्वास्थ्य और सात्विक संस्कार एवं विचार का दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट है। ये तीनों दृष्टिकोण मांसाहार का समर्थन नहीं करते। इसलिए इन दृष्टिकोणों से मांसाहार अनिवार्यता

की कोटि में नहीं आता। खाद्यान्न के अभाव में मांसाहार की अनिवार्यता का तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है और प्रायः किया जाता है। इस तर्क से खाद्यान्न प्राप्त होने की स्थिति में मांसाहार का समर्थन नहीं किया जा सकता। उक्त दृष्टिकोणों से तो किया ही नहीं जा सकता। आधुनिक शरीरशास्त्री, आहारशास्त्री और स्वास्थ्यशास्त्री भी अपने अन्वेषणों के आधार पर मांसाहार को शारीरिक और मानसिक—दोनों दृष्टियों से दोषपूर्ण बतलाते हैं। मांसाहार अप्राकृतिक उत्तेजना उत्पन्न करता है, सहनशीलता को कम करता है, धमनियों और शरीर के तंतुओं के लचीलेपन को नष्ट कर आयु को कम करता है। प्राणियों की व्याधि और विष को खाने वाले के शरीर में संक्रान्त करता है।

क्रूरता, क्षणिक आवेश, अधैर्य—ये मांसाहार के सहज परिणाम हैं।

लोग मद्यपान शक्ति के लिए करते हैं, मानसिक शांति और समस्याओं की विस्मृति के लिए करते हैं। वे इस सत्य को भूल जाते हैं कि अप्राकृतिक ढंग से उत्पन्न की गयी शक्ति स्वयं क्षणिक होती है और अशक्ति को स्थायी बना देती है। स्नायविक दुर्बलता, अपराध की मनोवृत्ति, मानसिक उत्तेजना—ये मादक वस्तुओं के सेवन की निश्चित प्रतिक्रियाएं हैं।

शरीर और मन में अवांछनीय प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाले मद्य और मांस का परित्याग संस्कार-निर्माण का पहला चरण है। पहले चरण उठे बिना अगला चरण आगे नहीं बढ़ सकता।

आहार-विवेक

खाद्य को केवल आर्थिक और भौगोलिक दृष्टि से ही नहीं देखा जा-सकता। यह दृष्टिकोण भी है किन्तु मैं समझता हूं कि अनेक दृष्टिकोणों से इस पर विचार करना चाहिए और अंतिम दृष्टिकोण है हमारी आत्मा की सुरक्षा, आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टिकोण। किन्तु जहां आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों का प्रश्न है, उसमें सर्वाधिक मनुष्य ही विकास कर सकता है और उसे ही सर्वाधिक विकास करने का अवसर प्राप्त है।

एक प्राणी दूसरे प्राणी को खाता है, यह बात निश्चय ही बड़ी अजीब लगती है। भला प्राणी प्राणी को कैसे खा सकता है? जार्ज बर्नार्ड शा मांस नहीं खाते थे। एक व्यक्ति ने जब उनसे मांस खाने के लिए कहा तो बर्नार्ड शा ने उत्तर दिया—'मैं अपने पेट को कब्रिस्तान नहीं बनाना चाहता।' पेट को कब्रिस्तान कैसे बनाया जा सकता है? पशुओं को कैसे खाया जा सकता है? पशुओं को खाने वाले केवल मांस को ही नहीं खाते, मांस के साथ और भी बहुत सारी चीजें खाते हैं। क्या मांस खाने वाला उसके संस्कार को भी साथ-साथ नहीं खाता है? मांस को खा ले और पशुओं के संस्कार को छोड़ दे, यह संभव बात नहीं है। विज्ञान ने संस्कारों पर भी सूक्ष्मता से अन्वेषण किया है। आप देखें कि संस्कारों का संक्रमण किस प्रकार होता है? मैं एक छोटी-सी घटना आपके समक्ष रखता हूं।

एक विदेशी सैनिक अधिकारी की अंगुलियां कट गईं। अंगुलियों का प्रत्यारोपण किया गया। प्रत्यारोपण के बाद क्या होता है कि जब कभी

वह सैनिक अधिकारी किसी गोष्ठी या भोज आदि में सम्मिलित होता है तो उसके समीप आने वाले बड़े आदमी के पॉकेट के पास उसकी अंगुलियां चली जातीं। प्रत्यारोपित अंगुलिया सहज ही आगंतुक की जेब के पास चली जातीं। सैनिक अधिकारी हैरान था। वह सोचता था कि ऐसा क्यों होता है ? पर कुछ सूझता ही नहीं था। एक दिन वह अस्पताल में डॉक्टर के पास पहुंचा। उसने डॉक्टर से पूछा कि मेरे हाथ में जो अंगुलियां प्रत्यारोपित की गई हैं, वे किसकी हैं ? डॉक्टर ने खोज करके बताया कि वे अंगुलियां एक जेबकतरे की हैं।

जेबकतरा मर गया, उसका शरीर नहीं रहा किन्तु उसके संस्कार अंगुलियों में मौजूद थे, इसलिए अंगुलियां दूसरे के पॉकेट के पास चली जातीं। इसलिए आप विचार करें कि जिन पशुओं को मारा जाता है, क्या उनके मन में दुःख की भावना नहीं होती ? क्या मारे जाते समय उनके मन में संताप नहीं होता ? क्रोध नहीं आता ? उस समय उनके मन में जो भावनाएं उठती हैं, वे सारी की सारी भावनाएं मांसाहार करने वाले व्यक्ति के मन में संक्रान्त हो जाती हैं। निश्चित ही संस्कारों का इस प्रकार सूक्ष्म संक्रमण होता है।

जैन आगमों में एक प्रसंग आता है कि मुनि जहां बैठा है, वहां से उठकर चला गया तो एक अन्तर्मुहूर्त्त तक साध्वी को वहां नहीं बैठना चाहिए। जहां कोई स्त्री या साध्वी बैठी हुई है और वह उठकर चली गयी है तो साधु अन्तर्मुहूर्त्त तक वहां न बैठे। फिर प्रश्न हुआ कि यह निषेध क्यों ? इसका समाधान किया गया कि जहां पुरुष बैठा था, जहां स्त्री बैठी थी, वे तो चले गए किन्तु शरीर की उष्मा मौजूद है। उनके औरा के परमाणु वहां पर विद्यमान हैं। इसलिए जो व्यक्ति वहां बैठेगा, उसके संस्कार उनमें संक्रान्त हो जायेंगे। संस्कारों का संक्रमण होने से वह व्यक्ति उससे प्रभाति हो जाएगा। मनुष्य मनुष्य से प्रभावित होता है, मनुष्य मनुष्य के विचारो से प्रभावित होता है। संक्रमण के कारण ऐसा होता है। तो हमारे सूक्ष्म जगत् में इतना संक्रमण है कि हम इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। ये

ईंटें, ये दीवारें उस संक्रमण को रोक नहीं सकतीं। इसलिए हमें इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए कि मांस खाने वाला केवल मांस ही नहीं खाता, बल्कि जिसका मांस खाता है, उसके संस्कारों को भी खाता है।

जैसा आज हिन्दुस्तानी भोजन का क्रम चल रहा है, मुझे नहीं लगता कि वह बहुत उपयोगी है। मैं समझता हूं कि आबादी की अधिकता के कारण अनाज की कमी नहीं है किन्तु अनाज की कमी का कारण हमारा असंतुलित भोजन भी है। एक आदमी दिनभर में एक सेर भोजन कैसे कर सकता है? हमारी अंतड़ियों में केवल अन्न को पचाने की इतनी क्षमता भी नहीं है और न उसे निकालने की क्षमता है। हमारी आंतें एक साथ इतने भोजन को न पचा सकती हैं और न निकाल सकती हैं। हमारे यहां कब्ज की बीमारी इसीलिए बहुत होती है और उसे मिटाने के लिए वैद्य-डॉक्टरों की भरमार भी है। बहुत-सी गोलियां आजकल निकली है।

हमें भोजन में प्रोटीन भी चाहिए, विटामिन भी चाहिए और संतुलित रूप में चाहिए। संतुलित भोजन के सम्बन्ध में बहुत कम ध्यान दिया गया। हमारे यहां भोजन का मानदण्ड है केवल स्वाद। स्वाद होना चाहिए। बाजार में चले जाइए, तली हुई अनेक चीजें दिखाई पड़ेंगी। चटपटी चीजें केवल स्वाद के लिए खायी जाती हैं, और काफी मात्रा में खायी जाती हैं। चोकर की रोटी खाना शायद बहुत कम लोग पसन्द करते हैं, जबकि चोकर में इतने तत्त्व हैं कि हम उसे अच्छी तरह जानते ही नहीं। परन्तु लोगों की ऐसी मान्यता बन गयी है कि चोकर केवल डालने के लिए होता है, खाने के लिए नहीं।

आज भोजन की आवश्यकता इसलिए इतनी है कि हम ठीक प्रकार से भोजन करना नहीं जानते, ठीक प्रकार से श्वास लेना नहीं जानते। इसलिए भोजन की आवश्यकता अधिक पड़ती है। जो व्यक्ति प्राणायाम को जानता है, ठीक प्रकार से श्वास लेना जानता है, उसकी खुराक बहुत कम होगी। केवल खाना ही पर्याप्त नहीं है। खाने के साथ तत्त्वों को कितना पचा सकते हैं, यह महत्त्व की बात है। अगर किसी को भस्मक रोग हो गया तो खाने

के कुछ देर बाद ही उसे भूख लग जाती है और इस प्रकार वह काफी भोजन करता है। किन्तु उससे उसके शरीर में कोई परिवर्तन नहीं आता। वह वैसे ही दुबला-पतला रहता है। कुछ लोगों को भोजन की कमी नहीं है। वे बढ़िया भोजन भी करते हैं, किन्तु उन्हें ठीक प्रकार से पोषक तत्त्व नहीं मिलते हैं। उसका कारण यह है कि वे पूरा भोजन हजम नहीं कर पाते।

मैं सोचता हूं कि भोजन के लिए जितना खाद्य-पदार्थों का निर्वाचन और विवेक होना जरूरी है, उतना ही प्राणवायु के सम्बन्ध में जानना जरूरी है। जो व्यक्ति श्वास के बारे में, प्राणवायु के बारे में ठीक जानकारी नहीं रखता, उसके लिए भोजन उतना लाभदायी नहीं होता।

कहा जाता है कि एक बार देवताओं का वैद्य अश्विनीकुमार मृत्युलोक में आया। वह वेश बदलकर वाग्भट्ट के पास पहुंचा जो कि आयुर्वेद के बहुत बड़े आचार्य थे। अश्विनीकुमार ने वाग्भट्ट से पूछा—'वैद्यराज जी! मुझे ऐसी औषधि बतलाएं जो न जमीन से उत्पन्न हुई है और न आकाश से। पथ्य है किन्तु जिसमें कोई रस नहीं है और सब शास्त्रों द्वारा सम्मत है।' वाग्भट्ट ने कहा—'लंघन (उपवास) ही सबसे बड़ी औषधि है। यह न भूमि से उत्पन्न हुई है और न आकाश से। पथ्य है और रस-विवर्जित है। सब आचार्यों के द्वारा सम्मत भी है।'

उपवास ही सबसे बड़ी औषधि है। हम जब तक इसके महत्त्व को नहीं समझेंगे, हमारे भोजन की समस्या का समाधान नहीं निकलेगा। द्वितीय महायुद्ध के बाद जब जर्मनी में सर्वेक्षण किया गया तब निष्कर्ष निकाला गया कि यहां अधिकांश बीमारियां अति भोजन के कारण हुई है। हम लोग इतना खाते हैं जितना कि हमें नहीं खाना चाहिए। हर व्यक्ति खाते समय यही सोचता है कि पेट अभी भरा नहीं। परन्तु खाते समय पेट भरेगा कैसे? और खाते समय पेट भर गया तो फिर स्वस्थ कैसे रहोगे? हमें जितनी भूख लगती है, उसे चार भागों में बांट देना चाहिए। दो भाग भोजन के लिए, एक भाग पानी के लिए और एक भाग वायु के लिए छोड़ देना चाहिए। और लोग जब खाना खाने के लिए बैठते है तो भूख से भी

दो कौर अधिक खाना चाहते है ताकि भूख न लगे। खाने के आधा घंटा बाद कहते हैं कि पेट फट रहा है। आंतें फट रही हैं। इस प्रकार हमारे यहां खाने की कोई व्यवस्थित पद्धति नहीं हैं। भोजन के सम्बन्ध में हमारा अज्ञान ही बहुत सारी समस्याओं को जन्म देता है। खाना जरूरी है तो उसके साथ-साथ श्वास का ज्ञान भी जरूरी है। उपवास और नहीं खाना भी जरूरी है।

अभी हमने पढ़ा था कि कुछ चूहों को दो श्रेणियों में विभक्त कर दिया गया। एक श्रेणी के चूहों को खूब गरिष्ठ भोजन दिया गया, विटामिन की गोलियां दी गई और दूसरी श्रेणी के चूहों को सादा भोजन दिया गया और बीच-बीच में एकान्तर भी कराया गया। यानी बीच-बीच में उपवास भी कराया गया। परिणाम यह आया कि जिन चूहों को पर्याप्त भोजन दिया गया वे तो दो वर्ष पहले मर गए और जिन्हें सादा भोजन दिया गया तथा उपवास कराया गया वे दो वर्ष के बाद मरे। केवल खाना ही हमारी तन्दुरुस्ती का हेतु नहीं है। मांसाहारी लोगों में जितनी बीमारियां होती हैं, उतनी शायद शाकाहारी लोगों में नहीं होती। आप दुनिया के इतिहास को देखें कि जिन व्यक्तियों ने आध्यात्मिक और शांति का चिन्तन किया उनमें शत-प्रतिशत न कहूं तो पिचानवे प्रतिशत व्यक्ति शाकाहारी थे। उन्होंने शाकाहार के बल पर, प्राणवायु के बल पर, उपवास और तपस्या के बल पर ऐसे काम किए हैं। हमारे संघ की एक साध्वी ने बारह महीने तक छाछ के ऊपर के पानी पर अपना जीवन चलाया है। कुछ प्राकृतिक चिकित्सा वाले लोग भी यह प्रयोग कर रहे हैं कि मनुष्य को अन्न और पानी की आवश्यकता ही न पड़े।

आज के इस युग में हम स्थूल बातों में न उलझकर सूक्ष्म बातों की ओर ध्यान दें जिनके आधार पर हम बहुत सारी स्थूल बातों से मुक्त होकर सूक्ष्म बातों का सहारा लेकर अपने कार्य को चला सकते हैं, अपनी शक्ति को टिकाए रख सकते हैं।[1]

---

१. हिसार, २२ जुलाई, १९७३।

व्यंतर देव

देवों का अस्तित्व

मनुष्य जाति चिरकाल से देव के अस्तित्व से परिचित रही है। कुछ लोग उसे स्वीकारते हैं और कुछ लोग उसे नकारते हैं। जिसका अस्तित्व चर्मचक्षु से दृष्ट नहीं है उसे नकारना सहज-सरल है, स्वीकारना कठिन है। जिसका अस्तित्व चर्मचक्षु से दृष्ट नहीं है, वह नहीं ही है। यदि यह मान लिया जाए तो फिर सूक्ष्म सत्वों की खोज का द्वार खुला नहीं रह सकता।

मनुष्य और व्यंतर

जैन आचार्यों ने देव जाति के अस्तित्व को स्वीकार किया है। उन्होंने देवता के चार निकाय बतलाए हैं—भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक। व्यंतर देवों की आठ श्रेणियां हैं—पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग और गंधर्व। ये मनुष्य के अधिक निकट सम्पर्क में हैं। ये अपने आवासों के अतिरिक्त समुद्रों, पर्वतों, गिरि-कंदराओं, राजमार्गों,तिराहों, चौराहों, सूने घरों, जलाशयों, वृक्षों और देवकुलों आदि स्थानों में भी रहते हैं। इनसे मनुष्य डरता भी है और लाभान्वित भी होना चाहता है। इनके आवेश से दूर रहना पसन्द करता है और प्रयोजन-सिद्धि के लिए इनकी आराधना भी करता है।

शरीर और रूप-परिवर्तन की क्षमता

देवों का शरीर अस्थि-मांस आदि सात धातुओं का नहीं होता। उनका शरीर सूक्ष्म परमाणु-स्कंधों से बना हुआ होता है। मनुष्य शरीर में जैसे अशुचि पदार्थों का स्राव होता है, वैसे उनके शरीर में नहीं होता। उनमें अनेक रूपों के निर्माण की क्षमता होती है। इसलिए उनके शरीर को वैक्रिय शरीर कहा जाता है। वे वैक्रिय शक्ति के माध्यम से अपने जैसे अनेक रूपों और चाहे जिस वस्तु का निर्माण कर सकते हैं। वे अपने शरीर को छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा बना सकते हैं। कभी वे बहुत सुन्दर रूप में प्रस्तुत होते हैं और कभी भयंकर विकराल रूप में। उनकी गति 'मनोवेग' होती है। वे एक क्षण में हमारी दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने में चले जाते है।

आहार और स्वास्थ्य

देव न अन्न आदि खाते हैं और न जल आदि पीते हैं। स्थूल पुद्‌गलों से बने हुए शरीर को अन्न आदि की अपेक्षा होती है, देव-शरीर सूक्ष्म पुद्‌गलो से बना हुआ होता है, इसलिए उसे अन्न आदि स्थूल वस्तुओं की अपेक्षा नहीं होती। वे मानस आहारा होते हैं। आवश्यकता होने पर मानसिक शक्ति के द्वारा सूक्ष्म पुद्‌गलों का आहार कर लेते है। देवताओं की प्रतिमा के सम्मुख बलि दी जाती है। मांस, मदिरा और पकवान आदि भेंट चढाए जाते हैं। इस लोकप्रथा का हेतु यह है कि कुछ व्यंतर देव खाद्य पदार्थों की मांग करते हैं, भेंट आयी हुई वस्तुओं को देखकर प्रसन्न होते है, पर उसे खाते नहीं है। न वे मांसभोजी हैं, न वे मदिरापायी हैं आर न वे खाद्यान्नभोजी हैं।

उनका शरीर विशेष प्रकार के परमाणुओं से बना होता है। उनके वर्ण, गंध, रस और स्पर्श शक्तिशाली होते हैं और बाहरी परिस्थिति से आक्रांत नहीं होते। फलतः उनके शरीर में कोई रोग उत्पन्न नहीं होता।

वे सदा स्वस्थ रहते हैं ।

वर्ण और चैत्यवृक्ष

पिशाच का शरीर कज्जल जैसा कृष्ण होता है। भूत, यक्ष, राक्षस और महोरग का शरीर श्यामल होता है। किन्नर का शरीर पीला तथा किंपुरुष और गंधर्व का शरीर सुनहला होता है। व्यंतर देवों के अपने अपने चैत्यवृक्ष होते हैं—

व्यंतर देव	वृक्ष
१. पिशाच	कदंब
२. भूत	तुलसी
३. यक्ष	बरगद
४. राक्षस	कण्टक वृक्ष
५. किन्नर	अशोक
६. किंपुरुष	चंपक
७. महोरग	नागवृक्ष
८. गंधर्व	तेंदू

ये चैत्यवृक्ष उन्हें प्रिय होते हैं। वे अपने-अपने चैत्यवृक्षों में आकर रहते हैं। ये वृक्ष उनके चिह्न-ध्वज भी होते हैं।

स्वभाव, प्रवृत्ति और सामर्थ्य

गंधर्व देवों को गीत, नृत्य और हास्य विशेष प्रिय होता है। सामान्यतः सभी व्यंतर देव कुतूहलप्रिय होते हैं। कलह, कोलाहल, हो हल्ला, संघर्ष—ये उनके मुख्य आकर्षण हैं। उनका चित्त बहुत चंचल होता है।

जाता है। वे मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। मनुष्य का अस्थि, मांस या शरीर उनकी शक्ति को सहन नहीं कर पाता, फलतः वह शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से संतप्त हो जाता है।

व्यंतर देव पूर्वजन्म का प्रतिशोध भी लेते हैं। अपने वैरी को तरह-तरह की यातनाएं देते हैं। वे अवज्ञा करने वालों को भी सताते हैं। हम सुनते हैं—किसी मनुष्य ने देवालय, समाधि-स्थल या पेड़ के पास मल-मूत्र का विसर्जन कर दिया और वह विक्षिप्त हो गया।

उनमें पूजा-प्रतिष्ठा की भावना भी जागृत होती है। कई देव सपने में किसी माध्यम की सूचना देते हैं और अपनी प्रतिमा स्थापित करवाते हैं। वे पूजा-उपासना करने वालों के दुःखों का निवारण करते हैं।

उनकी शक्ति आश्चर्यजनक होती है। पर सभी की शक्ति समान नहीं होती। कुछ अल्पशक्ति वाले होते हैं। वे सौ मनुष्यों को ही हानि-लाभ पहुंचा सकते हैं। अधिक शक्ति वाले लाखों-लाखों मनुष्यों को क्षतिग्रस्त व लाभान्वित कर सकते हैं। उनके सामर्थ्य-प्रयोग और व्यवहार की अनेक वार्ताएं मिलती है। कुछेक ये हैं—

जैन ग्रन्थों में यह चर्चा है कि मृत-शरीर को बांध देना चाहिए या उसके अंगुष्ठ या अन्य किसी अवयव का छेदन कर देना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो संभव है कि कोई भूत या पिशाच उसमें प्रवेश कर विकृत चेष्टाएं करने लग जाता है।

किसी पितर ने कहा—मेरा श्राद्ध करो। किसी ने कहा—मुझे घर मे ले लो। किसी ने कहा—मेरी मनौती करो। ऐसी अनेक घटनाएं सुनने को मिलती है। ये प्रवंचना करने वाले व्यंतरों की ही मांगें हो सकती हैं। इस संदर्भ में मृत आत्मा का आवाहन करने वाली पद्धति का रहस्य समझा जा सकता है। कभी-कभी यह संभव हो सकता है कि इतस्ततः परिभ्रमण-शील व्यंतर देव प्रश्नकर्ता को प्रश्न का उत्तर दे देते हैं। उनकी ज्ञान-शक्ति सीमित होती है, अतः वे बहुत दूर (क्षेत्र और काल—दोनों दृष्टियों से) की बात नहीं बता सकते। उनकी सब बातें अभ्रान्त भी नहीं होतीं।

इसीलिए कुछ बातें मिल जाती हैं, कुछ नहीं मिलतीं।

कुछ प्रसंगों से ज्ञात होता है कि व्यंतर देव कुपित होकर मुनियों को भी सताने लग जाते थे।

एक बांझ स्त्री जीर्ण-शीर्ण मन्दिर में गयी। उसमे मल्ली स्वामी की प्रतिमा थी। उसे नमस्कार कर उसने पुत्र की याचना की। एक व्यंतर देवता वहां आया हुआ था। उसने उसे पुत्र की प्राप्ति करा दी।

श्री, ह्रीं, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी—ये छह व्यंतर देवियां हैं। ये प्रसन्न होकर मनुष्य को अपनी-अपनी शक्तियों से लाभान्वित करती हैं।

व्यंतर कौन होता है ?

जो अनिच्छा या बाध्यतावश कुछ बुराइयों से बचते हैं, जो हत्या या आत्महत्या से मरते हैं, किन्तु मरते समय चित्त में संक्लेश नहीं होता, जो प्रकृति से ऋजु होते हैं, जो पहले धार्मिक जीवन जीते हैं पर मृत्यु के क्षणों में कोई वासना मन में रह जाती है, वे मनुष्य मृत्यु के बाद व्यंतर देव होते है। इन पूर्व-संस्कारों के कारण इनका चित्त चंचल होता है। जिनका चित्त चंचल होता है वे सही अर्थ में भूत ही होते हैं। ऐसा कौन है हमारी दुनिया में जिसका चित्त चंचल हो और वह भूत न हो, भूत जैसा व्यवहार न करता हो ?[1]

१. नवभारत दैनिक, वार्षिक अंक, १९७५ में प्रकाशित।